हिन्दी उपन्यासों में चित्रित दलित जीवन

(सन्दर्भ सन 1980 से 1995 तक)

(हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद की पीएच. डी. (हिन्दी) उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध प्रबंध)

2000

प्रस्तुतकर्ता

चित्तरंजन राऊतराय

विभागाध्यक्ष

प्रो. सुवास कुमार

पीएच. डी.

अध्यक्ष. हिन्दी विभाग

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद–500 046.

निर्देशक

डा. वी. कृष्ण

एम. ए., एम. फिल., पीएच. डी.

रीडर, हिन्दी विभाग

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद–500 046.

Name of the Research Scholar : CHITTA RANJAN ROUTRAY
Department / Centre : HINDI, HUMANITIES
University of Hyderabad

This is to certify that I, Chittranjan Routray have carried out the research embodied in the present thesis for the full period prescribed under the Ph.D. ordinance of the University.

I declare that no part of this thesis was earlier submitted for the award of any research degree or diploma to any University.

Date: 24-6-2008
Place: Hyderabad

Signature

(RESEARCH SUPERVISOR)

24/6/2k
(HEAD OF THE DEPARTMENT/CENTRE)

अध्यक्ष हिन्दी विभाग
The Head, Department of Hindi,
हैदराबाद विश्वविद्यालय
University of Hyderabad
हैदराबाद 500 046 (आ.प्र.)
Hyderabad - 500 046. (A.P.)

24/6/2008
(DEAN OF THE SCHOOL)

DEAN
SCHOOL OF HUMANITIES
University of Hyderabad,
Hyderabad-500 134.

आभार

प्रस्तुत शोध प्रबंध को पूर्ण करने में जिन विद्वानों और गुरूजनों का सहयोग मिला उनमें सर्वप्रमुख हैं, मेरे श्रद्धेय गुरूवर डा0 वी० कृष्ण तथा मेरे पूजनीय माता - पिता जिनको मेरा शतकोटि प्रणाम समर्पित करता हूँ । इसके अलावा डीन (मानविकी) प्रो0 वे० वेंकटरमण राव जी व हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो0 सुवास कुमार जी के सहयोग भी शामिल है, जिसके लिए मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ । मैं उन सभी गुरूजनों एवं दोस्तों के प्रति शुभेच्छा प्रकट करता हूँ, जिन्होंने इस मंगलकार्य को पूर्ण करने में सहायता की । इसके अतिरिक्त उन समाज-शास्त्रियों, विद्वज्जनों, आलोचकों और उपन्यासकारों के प्रति मैं अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके अभिमतों, उपन्यासों का इस ग्रंथ में उपयोग हुआ है । हैदराबाद विश्वविद्यालय के ग्रंथालय में कार्यरत, उन सभी कार्यकर्त्ताओं के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ । अंत में मेरी पत्नी को मेरा बेइन्ताह प्यार, जिसकी प्रेरणा के बिना यह कार्य शायद ही पूरा हो सकता था ।

विनीत

चित्तरंजन राउत राय

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

प्रथम अध्याय :

भारतीय समाज व्यवस्था - एक ऐतिहासिक अनुशीलन

1·1	भूमिका	1 - 2
1·2	समकालीन परिदृश्य	2 - 4
1·3	दलित शब्द की व्याप्ति एवं प्रासंगिकता	5 - 7
1·4	भारतीय समाज एवं वर्ण व्यवस्था	7 -10
1·5	शूद्र की उत्पत्ति का नस्लवादी सिद्धांत	10--14
1·6	श्रम विभाजन एवं वर्णव्यवस्था	14 -18
1·7	शूद्रों के शोषण के विरुद्ध विद्रोह	18 -20
1·8	जाति प्रथा का मूल उत्स	20 -21
1·9	जाति हिन्दू समाज का संरचनात्मक आधार	21 -22
1·10	जाति व्यवस्था के उदय के कारण	23 -27
1·10·1·	उत्पादन एवं दस्तकारी शाखाओं के विकास सिद्धांत	23
1·10·2	सामाजिक एकता का सिद्धांत	24 -24
1·10·3	वर्णसंकर का सिद्धांत	24 -25
1·10·4	सामंती स्वार्थ का सिद्धांत	25 -26
1·10·5	त्रिकोणीय सिद्धांत	26 -27
1·11	जाति आधार या अधिरचना	27 -29
1·12	अस्पृश्यता	29 -29
1·12·1	नस्लवादी सिद्धांत का विरोध- डा० अम्बेडकर	29 -31

		पृष्ठ संख्या
1·13	ब्राह्मण वर्ग का एकाधिकार एवं छुआछूत की भावना	32
1·14	अस्पृश्यता का प्रथम उल्लेख एवं इसका विकास	32 - 34
1·15	अस्पृश्यता की उत्पत्ति के आधुनिक विचार	34 - 36
1·16	वर्ण संकर उपजाति एवं अस्पृश्यता	36 - 37
1·17	वर्ण एवं जाति का अंतःसम्बन्ध	37 - 38
1·18	धर्म शास्त्र की सैद्धान्तिक कार्यसूची	38 - 39
1·19	वर्ग की अवधारणा	39 - 40
1·20	मार्क्सवादी दृष्टिकोण	40 - 41
1·21	वर्ग का उदय	42 - 44
1·22	आर्थिक पिछड़ापन एवं दलित	45 - 48
1·23	दलित एक सांस्कृतिक पराजय	48 - 51
1·24	निष्कर्ष	51 - 52

द्वितीय अध्याय :

स्वातंत्र्योत्तर परिवेश और दलित

2·1	भूमिका	53 - 55
2·2	राजनैतिक परिवेश	56 - 57
2·2·1	राजसत्ता का वर्गस्वरूप	56 - 57
2·2·2	दलित हित की उपेक्षा	58 - 58
2·2·3	दलित और आरक्षण	59 - 60
2·2·4	दलित नेतृत्व की मिलीभगत	60 - 62
2·2·5	व्यवस्था के खिलाफ आवाज	62 - 64
2·2·6	मूल्यहीनता का प्रसार एवं भ्रष्टाचार	64 - 66

पृष्ठ संख्या

	2·2·7	मोहभंग की स्थिति	66 - 67
	2·2·8	किसान संघर्ष	67 - 69
	2·2·9	दलित आन्दोलन की सीमायें	69 - 74
		2·2·9·1· वैचारिक मतभेद	69 - 70
		2·2·9·2· बहुसंगठनवाद	70 - 70
		2·2·9·3· हीनता की भावना	71 - 71
		2·2·9·4· त्याग की भावना का अभाव	71 - 72
		2·2·9·5· योग्य नेता का अभाव	72 - 73
	2·2·10	प्रजातंत्र की घटती अर्थवत्ता	73 - 73
	2·2·11	सामाजिक न्याय का अधूरा प्रश्न	74 - 74
2·3	आदिवासियों की स्थिति		74 - 80
2·4	सामाजिक परिवेश		80 - 90
	2·4·1	संक्रमण	80 - 82
	2·4·2	नागरी बोध	82 - 83
	2·4·3	ग्राम्यबोध	83 - 84
	2·4·4·	पश्चिम का प्रभाव	84 - 85
	2·4·5	अस्तित्व बोध खोखलापन और रिक्तता	85 - 86
	2·4·6	आधुनिक समाज की पाखण्डता और दलित उत्पीड़न	86 - 89
	2·4·7	आदिवासी-बदलते सामाजिक स्थिति एवं शोषण	89 - 90

पृष्ठ संख्या

2•5	आर्थिक परिवेश	91 - 101
2•5•1	बदलती हुई फासला	91
2•5•2	औद्योगीकरण	92 - 93
2•5•3	आर्थिक उदारीकरण की व्यवस्था	93 - 95
2•5•4	आर्थिक परिवेश एवं दलित	95 - 96
2•5•5	आदिवासी	96 - 101
2•6	सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिवेश	101 - 108

तृतीय अध्याय :

3- अस्सी से पूर्व रचित हिन्दी उपन्यासों में दलित जीवन

3•1	भूमिका	109 - 111
3•2	अस्सी पूर्व उपन्यास - युगीन चेतना एवं दलित	111 - 117
3•2•1	महात्मागांधी और दलित उत्थान	112 - 114
3•2•2	ज्योतिबा फुले	115 - 116
3•2•3	डा० भीमराव रामजी अम्बेडकर	116 - 117
3•3•	अस्सी पूर्व उपन्यास - प्रेमचन्द एवं दलित समाज	118 - 120
3•3•1	बेगारी प्रथा का जीवंत चित्र - "प्रेमाश्रम"	120 - 121
3•3•2	गांधी जी के विचारों का संवाहक- "रंगभूमि"	121 - 122
3•3•3	अछूतोद्धार की सार्थक अभिव्यक्ति- "कर्मभूमि"	122 - 129

पृष्ठ संख्या

3.3.4	अंतर्जातीय विवाह की आरंभिक बिन्दु - "गोदान"	129 - 134
3.3.5	दलित के सफल नेतृत्व का प्रवर्तन -"बुधुआ की बेटी"	134 - 139
3.3.6	दलित समस्या का आंशिक स्पर्श - "अलका", "निरूपमा"	139-140
3.3.7	समतामूलक व्यवस्था की परि-कल्पना -राहुल की रचना	140-143
3.3.8	दलित संघर्ष के संवाहक -वर्मा जी के उपन्यास	144-147
3.3.9	मनुष्यत्व की पहचान का सफल आग्रह - यशपाल की रचना	147-151
3.3.10	ब्राह्मणत्व केमिथ्या दंभ पर चोट -"शेखर एक जीवनी"	151-156
3.3.11	दलितों के स्वाभिमानोन्मुख संघर्ष का जीवन्त दस्तावेज चतुरसेन की रचना	157-163
3.3.12	नारी शोषण के विरूद्ध सार्थक आवाज - रांगेय राघव की रचना	163-169
3.3.13	संथालों के संघर्षमय जीवन की सफल अभिव्यक्ति-रेणु की रचना	170-179
3.3.14	प्रेम और आस्था के प्रतीक दलित नारी -"सती मैया का चौरा"	179-182

पृष्ठ संख्या

3•3•15 ह्रासोन्मुख मानवीय मूल्यों का दर्पण - "जल टूटता हुआ" 182-189

3•3•16 सामंती व्यवस्था से सीधी टकराहट- "नाच्यौ बहुत गोपाल" 189-195

3•3•17 जाति एवं धार्मिक व्यवस्था का अलग-अलग वैतरिणी 195-201

3•3•18 जुझारू चेतना का संक्रमण दौर -"धरती धन न अपना" 201-204

चतुर्थ अध्याय :

हिंदी उपन्यासों में चित्रित दलित जीवन

4• भूमिका 205-206

4•1 सामाजिक विषमताएं 206-219

4•1•1 व्यवस्था में असमानता एवं शोषण 212-215

4•1•2 शोषण का विरोध - दलितों में नयी चेतना 215-217

4•1•3 युवा पीढ़ी में आत्मविश्वास एवं स्वाभिमान का भाव 217-219

4•2 दलित नारी 219-222

4•3 दलितों में व्याप्त अशिक्षा एवं गरीबी 222-224

4•4 शहर में दलितों की स्थिति 224-225

4•4•1 शहर की कतिपय समस्यायें - नशापान 225-227

		पृष्ठ संख्या
4•5	दलितों में अस्मिता बोध एवं क्रांति चेतना	227-229
4•6	राजनैतिक परिप्रेक्ष्य : दलित अधिकार का अपहरण	230-244
4•6•1	दलित उत्थान का कोरा प्रचार	231-236
4•6•2	दलित एवं चुनाव	236-241
4•6•3	ऊँचे लोगों का वर्चस्व राजनीति में	241-244
4•7	आर्थिक शोषण	244-253
4•7•1	दलितों की स्थिति	244-246
4•7•2	गरीबी	246-250
4•7•3	सूदखोरों का शोषण	250-253
4•8	अंध विश्वास	253-255
4•9	धर्म की पारम्परिक परिभाषाएं	255-260
4•9•1	हिन्दू धर्म एवं दलित वर्ग	261-268
4•10	सांस्कृतिक संदर्भ	269-270
4•10•1	संस्कृति की अवधारणा	270-270
4•10•2	संस्कृति की परिभाषा	270-272
4•10•3	संस्कृति की वर्गगत व्याख्या	272-273
4•10•4	दलित संस्कृति और हिंदी उपन्यास	273-281
4•11	अन्य प्रमुख समस्याएं	281
4•11•1	अंतर्जातीय विवाह	281-289
4•11•2	बंधुआ मजदूर	289-296
4•11•3	हिंदी उपन्यासों में चित्रित बंधुआ मजदूर	296-302

पृष्ठ संख्या

4·11·4	हेतुवादी दृष्टिकोण - वैज्ञानिक भौतिकवाद	302-306
4·11·5	जड़वाद	306
4·11·6	जैन दर्शन	306-307
4·11·7	बौद्ध दर्शन	307-310
4·11·8	मार्क्स और ऐंगल्स का भौतिकवादी चिंतन	310-312
4·11·9	द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद	312-314
4·11·10	डॉ० अम्बेडकर के हेतुवादी विचार	314-315
4·11·11	हिंदी उपन्यासों में हेतुवादी दृष्टि	315-320

पंचम अध्याय :

हिंदी उपन्यास: चेतनापरक संभावनाएं और दिशाएं

5·1	भूमिका	321-324
5·2	सवर्णवादी सुधारों से मोहभंग	324-330
5·3	हिंदी उपन्यास की चेतना परक दिशायें	330
5·3·1	दलित चेतना की सशक्त गूंज -"हजार घोड़ों का सवार"	330-334
5·3·2	सामंती व्यवस्था से विद्रोह -"लोहे के पंख"	334-336
5·3·3	दलित चेतना का अंकुरोदन - "मकान दर मकान"	336-342
5·3·4	दलित नारी का नया आयाम -"एक अकेला"	343-344
5·3·5	आदिवासियों में नवीन मोड़ -"नदी के मोड़ पर"	345-348

पृष्ठ संख्या

	5·3·6	दलितों में व्याप्त हीनभावना - "अभिशाप"	348-355
	5·3·7	घिनौनी समाज व्यवस्था केप्रति विद्रोह -"मोतिया"	356-359
	5·3·8	दलित एवं सर्वहाराओं का साझा स्वर "नयी बिसात"	359-363
	5·3·9	लाल फिताशाही की जकड़ में दलित "यथा प्रस्तावित"	363-367
	5·3·10	वर्ण और वर्ग के अंतर्विरोध की कहानी- "परिशिष्ट"	367-371
	5·3·11	दलित उत्पीड़न का रचनात्मक प्रतिफलन- "छप्पर"	371-375
	5·3·12	सवर्ण वर्चस्व को चुनौती -"सर्पगंधा"	375-378
	5·3·13	दलित चेतना का आक्रामक तेवर - "मिट्टी की सौगंध"	378-382
	5·3·14	वनवासियों में नयी चेतना - "गगन घटा घहरानी"	382-386
	5·3·15	दलित संवेदना और चेतना का वाहक- "धार"	386-390
5·4		दलित उपन्यास की संभावनायें	390-392
		उपसंहार	393-410
		आधार ग्रंथ सूची	411 - 412
		सहायक ग्रंथ सूची	413 - 420
		पत्र - पत्रिकाएं	421 - 422

भूमिका

भारतीय समाज में दलित उत्पीड़न की करुणगाथा से कौन परिचित नहीं है ? सदियों से शोषित, पीड़ित एवं उपेक्षित दलित वर्ग को न्याय दिलाने के लिए अनगिनत आन्दोलन चलाये जा चुके हैं। साहित्यकार, कलाविद्, सामाजिक कार्यकर्ता एवं राजनेता से लेकर आम जनता तक, सभी इस समस्या का हल ढूंढने के लिए अपने ढंग से कोशिश करते आ रहे हैं, परन्तु आज तक इस घिनौनी समस्या का कोई तर्कसंगत स्थाई हल ढूंढा नहीं जा सका है। दलितों की सामूहिक हत्याओं पर शोक व्यक्त किये जाते हैं, जुलूस निकाले जाते है, पत्र - पत्रिकाओं के मुख्य पृष्ठ पर खबर छपती है, मगर शोषण एवं उत्पीड़न की यह अंतहीन सिलसिला कभी समाप्त नहीं होता है। दलित आज भी नारकीय जीवन जीने के लिए अभिशाप्त हैं। हर तरह के अधिकारों से वंचित दलित - वर्ग को आज भी तथाकथित सवर्णवादी शोषक शक्तियों के घृणा एवं तिरस्कार को झेलना पड़ता है। ये शोषक शक्तियां अपनी दुधारी तलवार से पहले दलित हितों पर वार करते हैं, फिर छद्म सहानुभूति प्रकट करते हुए दलितों का मसीहा बन जाते है। परन्तु आज इन शक्तियों की पोल खुल गयी है। दलित अपने अधिकारों के प्रति सजग हो उठा है। नयी चेतना से लैस दलित अपने अधिकारों को छीन लेना चाहता है।

साहित्य की विभिन्न विधाओं में इस समस्या का बड़ा जीवन्त वर्णन हुआ है। विशेषकर उपन्यास विधा ने परिवर्तन की इस आंधी को रूपायित करने में अधिक सक्षम सिद्ध हुई है।

आज हिंदी उपन्यास लेखन में दलित लेखकों की सक्रिय हिस्सेदारी ने सम्पूर्ण उपन्यास लेखन शैली को एक नया आयाम प्रदान किया है। एक ओर जहाँ उसने दलित जीवन की पीड़ा एवं शोषण को वाणी देने में प्रमाणिक शैली को अपनाया, वहीं दूसरी ओर आज तक लिखे गये सभी सहानुभूति प्रेरित रचनाओं को नकारा है। यहाँ तक कि सम्पूर्ण हिंदी साहित्य जगत को सामंती, प्रतिक्रियावादी एवं कलावादी कह कर, उसे दलित विरोधी करार दिया है, क्योंकि आज तक लिखे गये साहित्य से उसका मोहभंग हुआ। दलित रचनाकारों को लगा कि गैर दलित रचनाकार उनकी पीड़ा को वाणी प्रदान करने में सक्षम साबित नहीं हो रहे हैं। कला के नाम पर बहुत सी सतही एवं वायवीय बातें रचनाओं में भरी रहती है। अतः उसने सहानुभूति से प्रेरित साहित्य को नकार कर स्वानुभूति से लिखे गये उपन्यासों को स्वीकारा है। दूसरी ओर साहित्य के समीक्षक इसे एक घातक एवं विनाशकारी प्रकृति करार देते हैं। उनका मानना है कि रचनाकार एक संवेदनशील प्राणी होता है। वह भोगे हुए यथार्थ से इतर अनुभवों को भी वाणी देने में सक्षम है। वे कला को साहित्य का प्राण मानते हैं, कला के बिना रचना निष्प्राण प्रतीत होती है।

इन दिनों ऐसे कई तर्क आलोचकों द्वारा प्रस्तुत किये गये है, जो हमारी उत्सुकता को जगाए बिना नहीं रह सकता है। अतः मेरे मन में भी ऐसे कई सवाल पैदा हुए। ये तर्क कहाँ तक समीचीन है ? इस बात की पुष्टि करना प्रस्तुत शोध का मुख्य लक्ष्य रहा है। इस लिए मैंने सभी रचनाकारों की कृतियों को बिना किसी पूर्वाग्रह के समान महत्व देते हुए, उनका आकलन किया है। यह अपने आप में

एक नवीन दृष्टिकोण है, जिससे साहित्य जगत में दलित एवं गैर दलित रचनाकारों के बीच उत्पन्न खाई को पाटा जा सकेगा । 80 के बाद भारतीय सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक क्षेत्र में कई परिवर्तन परिलक्षित होते हैं । उपन्यासकार उन परिवर्तनों से कहाँ तक प्रभावित हुआ, इस बात का विवेचन करना भी प्रस्तुत शोध का ध्येय रहा है ।

यद्यपि उपन्यास में चित्रित दलित जीवन से संबंधित एकाध शोध कार्य पहले हो चुके हैं, परन्तु वे सब एकांगी एवं अतिशयोक्तिपूर्ण अथवा केवल सूचना देने तक सीमित हैं । राजकीय पी॰जी॰ कालेज, डूंगर, बीकानेर में 1988 को प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में दलित चेतना नामक एक शोध कार्य हो चुका है । 1990 में वर्धमान कालेज, बिजनौर से "हिंदी कथा साहित्य में दलित वर्ग की समस्या" नामक एक अन्य शोध कार्य भी हो चुका है । परन्तु हमने एक भिन्न दृष्टिकोण को अपनाते हुए समकालीन परिस्थितियों के संदर्भ में एक मौलिक कार्य प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

प्रथम - अध्याय

भारतीय समाज व्यवस्था - एक ऐतिहासिक अनुशीलन

प्रथम अध्याय

भारतीय समाज व्यवस्था - एक ऐतिहासिक अनुशीलन

1•1 भूमिका

1•2 समकालीन परिदृश्य

1•3 दलित शब्द की व्याप्ति एवं प्रासंगिकता

1•4 भारतीय समाज एवं वर्ण व्यवस्था

1•5 शूद्र की उत्पत्ति का नस्लवादी सिद्धांत

1•6 श्रम विभाजन एवं वर्णव्यवस्था

1•7 शूद्रों के शोषण के विरूद्ध विद्रोह

1•8 जाति प्रथा का मूल उत्स

1•9 जाति हिन्दू समाज का संरचनात्मक आधार

1•10 जाति व्यवस्था के उदय का कारण

- 1•10•1 उत्पादन एवं दस्तकारी शाखाओं के विकास
- 1•10•2 सामाजिक एकता का सिद्धांत
- 1•10•3 वर्णसंकर का सिद्धांत
- 1•10•4 सामंती स्वार्थ का सिद्धांत
- 1•10•5 त्रिकोणीय सिद्धांत

1•11 जाति आधार या अधिरचना

1•12 अस्पृश्यता

- 1•12•1 नस्लवादी सिद्धांत का विरोध - डा० अम्बेडकर

1•13 ब्राह्मण वर्ग का एकाधिकार एवं छुआछूत की भावना

1·14· अस्पृश्यता का प्रथम उल्लेख एवं इसका विकास
1·15· अस्पृश्यता की उत्पत्ति के आधुनिक विचार
1·16· वर्ण संकर उपजाति एवं अस्पृश्यता
1·17 वर्ण एवं जाति का अंत:सम्बन्ध
1·18· धर्मशास्त्र की सैद्धांतिक कार्यसूची
1·19· वर्ग की अवधारणा
1·20· मार्क्सवादी दृष्टिकोण
1·21· वर्ग का उदय
1·22· आर्थिक पिछड़ापन एवं दलित
1·23· दलित एक सांस्कृतिक पराजय
1·24 निष्कर्ष

प्रथम - अध्याय

भारतीय समाज व्यवस्था - एक ऐतिहासिक अनुशीलन

भूमिका -

संसार की प्रत्येक वस्तु, घटना एवं जाति का इतिहास उसके अतीत का गवाक्ष होता है । अत: किसी जाति की वर्तमान स्थिति की विषमता की पड़ताल के लिए ऐतिहासिक संदर्भों का ज्ञान बेशक जरूरी है । भारतीय समाज व्यवस्था की बुनियादी ढांचे को समझे बिना आज के दलित शब्द की व्याप्ति, परिधि एवं परिभाषा को समझना अत्यन्त दुष्कर कार्य है । इतिहास का ज्ञान जहां वर्तमान की अनसुलझी गुत्थियों को सुलझाने में सहायता करता है, वहीं इसका अतिरिक्त मोह हमें अतीतजीवी बना डालता है । वस्तुत: प्रस्तुत अध्याय में हमने इतिहास के आलोक में वर्तमान समाज की जटिलता को समझने का विनम्र प्रयास किया है । यह ऐतिहासिक संदर्भ बहुत हद तक जटिल एवं पेचीदा प्रतीत होता है, परन्तु हम उसके व्यवहारिक पहलुओं से जोड़कर देखे, तो समाज का मूल ढांचा स्पष्ट हो जाता है । भारतीय समाज का एक जाति विशेष, जिसे आज दलित नाम से अभिहित किया जा रहा है - सदियों से शोषित, लांछित एवं उत्पीड़ित होता रहा

है । जिसका मर्मभेदी उदाहरण इतिहास के पन्नों से लेकर आज के सामाजिक जीवन में भी देखने को मिलता है । वास्तव में यह दलित विशेषण, भारतीय समाज व्यवस्था की देन है ।

दलित का शाब्दिक अर्थ है कुचला हुआ । अत: दलित वर्ग का सामाजिक संदर्भ में अर्थ होगा, वह जाति समुदाय जो अन्यायपूर्वक उच्च जातियों द्वारा दमित किया गया हो, रौंदा गया हो । दलित शब्द व्यापक रूप में पीड़ित के अर्थ में आता है, पर दलित वर्ग का प्रयोग हिन्दू समाज व्यवस्था के अंतर्गत परम्परागत रूप में शूद्र माने जाने वाले वर्गों के लिए रूढ़ हो गया है । दलित का अर्थ सदियों से शोषित पीड़ित लोगों के उस समुदाय से है, जो आज भी कमोबेश उसी प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहे हैं, जैसा जीवन हजारों वर्ष पूर्व उनके पुरखे व्यतीत करते थे । इन हजारों वर्षों के लम्बे सफर में उनकी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक स्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं आया है । आज तमाम वैज्ञानिक प्रगतियों एवं आधुनिक शिक्षाओं के प्रसार के बावजूद लोगों की मानसिकता में बहुत ज्यादा अंतर नहीं आया है ।

2. समकालीन परिदृश्य :

आज देश में हरिजनों और अन्य अछूत जातियों की नियति में बहुत परिवर्तन नहीं आया है । प्रसिद्ध समाजशास्त्री डा० मसाली का यह वाक्य दिल को दहला देने वाला है कि "भारत में हरिजन जहां सामाजिक अधिकारों से वंचित है, अमेरिका में निग्रो केवल नागरिक अधिकारों से ।" हिन्दुस्तान में अस्पृश्यता और अनुसूचित जातियों के आर्थिक और शैक्षणिक विकास की सर्वेक्षण समिति के सदस्यों ने "इलेया पेरमल" की अध्यक्षता में

जगह जगह घूम कर जो ब्योरे एकत्र किये हैं वे 30 जनवरी, 1970 की रिपोर्ट में प्रकाशित है । रिपोर्ट के अनुसार ये जातियां आज भी प्राय: सभी प्रदेशों में अकल्पनीय त्रास और अमानवीयता सहन कर रही है ।"[1] इस रिपोर्ट के प्रमुख मुद्दे इस प्रकार है -

1. हरिजनों के बच्चों का उच्चजातियों के बच्चों के साथ बैठना पसन्द नहीं किया जाता ।
2. होटलों और ढ़ाबों में हरिजनों को अमूमन उन्हीं बरतनों में खाना नहीं परोसा जाता है ।
3. अक्सर चाय की दुकानों पर उनके गिलास अलग होते है, जिन्हें चाय पीने के बाद साफ़ करना होता है ।
4. मंदिरों में उनका प्रवेश निषिद्ध है ।
5. गांवों में बड़ी जातियों के कुएं अलग और हरिजनों के कुएं अलग होते हैं ।
6. गांवों में धोबी उनके कपड़े नहीं धोते । नाई उनकी हजामत बनाने में अभी भी हिचकते है ।
7. बड़ी जाति वालों के गांवों में अछूत उनके सामने खाट पर नहीं बैठ सकता है ।
8. फार बिसगंज (बिहार में) में बड़ी जातियों के लड़के बेंच पर और हरिजनों के लड़के उसी स्कूल में नीचे जमीन पर बैठते हैं ।

- -

1. समकालीन साहित्य समाचार - अप्रेल - 1997
जगदीशनारायण श्रीवास्तव का लेख । - पृ. 26

9. यदि किसी सवर्ण की औरत रोटी लेकर खेत में जा रही हो और राह में कोई हरिजन उससे छू जाय तो वह रोटी फेंक देगी क्योंकि वह अशुद्ध मान लिया जाता है ।

10. बड़ी जाति के मुहल्ले में कोई हरिजन किराये का मकान नहीं पा सकता ।

11. मध्य प्रदेश के भोजपुर थाने के हरिजन अपनी मूंछे ऊँची नहीं रख सकते ।

12. तमिलनाडु में न तो शादी - ब्याह में, न ही शवयात्रा में अछूत जातियों के लोग बैंड बाजे का प्रयोग कर सकते हैं ।

13. कर्नाटक के मैसूर नगर में शादियों के मौके पर अछूत जाति के दूल्हे घोड़े पर नहीं चढ़ सकते ।

इनके अतिरिक्त भारतीय समाज में आज भी कुछ और ही कुत्सित प्रथाएं अभी भी चल रही है, जो अंत्यजों की निरीहता, गरीबी और अपमान के द्योतक हैं, जैसे भंगियों को शादी ब्याह या गमी के मौकों पर बची-खुची, सड़ी - बासी रोटियां देना, त्योहार पर भिक्षा या उतारा देना, भोजपर लोगों की जूठन देना, शानदार शामियानों में खाते - पीते लोगों के मुकाबले उन्हीं शामियाने के बाहर कोनों में बैठे भंगियों के परिवारों को ललचाई दृष्टि से जूठा इकट्ठा करते जिन्होंने देखा है, वही इसकी बीभत्सता का अनुमान लगा सकते है ।"[1] इन्हीं हरिजनों को आज हम दलित भी कहते है । परन्तु यह आकस्मिक घटना नहीं है, इसके पीछे इतिहास की एक लम्बी श्रृंखला है ।

- -

1. समकालीन साहित्य समाचार - अप्रैल - 1997 - पृ. 26

3. दलित शब्द की व्याप्ति एवं प्रासंगिकता :

"दलित शब्द आधुनिक है, लेकिन दलितपन प्राचीन है । आज इस शब्द का लगभग सौ वर्ष से पर्याप्त प्रयोग हो रहा है तथा तभी से इस शब्द की व्याप्ति को लेकर विद्वानों में मतभेद आरंभ हुआ है ।"[1] दलित शब्द की व्युत्पति संस्कृत धातु "दल" से हुई है । जिसका अर्थ तोड़ना, हिस्से करना, कुचलना है । "भत्ते भकुंभ दलेन भुवि सति शूरा:" {भर्तृ - 1.59} संस्कृत शब्द कोषों के समान ही हिंदी अंग्रेजी शब्द कोषों में भी दलित शब्द का अर्थ विनष्ट किया हुआ दिया गया है ।

मानक हिंदी अंग्रेजी कोश में दलित शब्द के लिए डिप्रेस्ड शब्द दिया है और दलित वर्ग के लिए "डिप्रेस्डक्लास"[2] है। दलित शब्द के लिए "डाउन ट्रोडन" शब्द भी व्यवहृत होता है । जिसका अर्थ पददलित है । अंग्रेजी हिंदी कोश में डिप्रेस्ड क्लास" का अर्थ शोषित वर्ग, दलित वर्ग दिया गया है । हम ज्यादा विस्तार में न जाकर निष्कर्ष के तौर पर कह सकते है कि समाज के जो भी उपेक्षित, पीड़ित एवं लांछित वर्ग के लोग है, उनके लिए दलित शब्द का प्रयोग सर्वथा प्रासंगिक है । आज "दलित" शब्द की व्याप्ति एवं परिधि को लेकर विद्वानों में मतभेद है । कुछ आर्थिक पिछड़ापन को मुद्दा मानते हुए, आर्थिक दृष्टि से उपेक्षित हर समुदाय के लोगों को दलित कहना पसन्द करते है । हां यह बिल्कुल तर्कसंगत है कि आर्थिक पिछड़ापन ही इन समस्त उत्पीड़न का मूल कारण है, मगर इस दृष्टि से हम उस वर्ग को ही दलित वर्ग के दायरे में लेते है, जहां बहुसंख्यक वर्गों का शोषण सदियों से हो रहा है । इस दृष्टि से समाज के शूद्र वर्ण ही

---

1. दलितों के रूपान्तरण की प्रक्रिया - नरेन्द्र सिंह - भूमिका -पृ. 6

2. मानक हिंदी कोश - रामचन्द्र वर्मा - संपादक - पृ. 350

दलित कहलाने के हकदार है । डा० मैनेजर पांडेय द्वारा दिये गए एक साक्षात-कार में उन्होंने कहा है - "अगर दलित का अर्थ पराधीन स्थिति में रहने वाले लोगों से है, तो उसके भीतर गांधी के हरिजन, उस देश के आदिवासी और स्त्रियां सब शामिल है । लेकिन मैं जब दलित शब्द का प्रयोग कर रहा हूं, तो मेरे ध्यान में वे हैं, जिन्हें भारतीय वर्ण व्यवस्था में शूद्र कहा जाता है, जिन्हें अछूत माना जाता है ।"[1]

प्राचीनकाल से दलितों के लिए शूद्र, अतिशूद्र, चांडाल, अंत्यज, अस्पृश्य, पंचम आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है । भारतीय वर्ण व्यवस्था के जाति व्यवस्था में बदलने पर शूद्र की दयनीय अवस्था हो गई थी । इस परिवर्तन को हम ऐतिहासिक संदर्भों के विवेचन के क्रम में देख सकते है । आज भी विद्वानों में दलित को वर्ग या वर्ण मानने को लेकर मतभेद है ।

मगर भारतीय समाज व्यवस्था को समझने के लिए उसके हर परिवर्तन का वैज्ञानिक विवेचन आवश्यक है । डा० मैनेजर पांडेय का कहना है - "भारतीय समाज को समझने के लिए वर्ण और वर्ग को साथ साथ ध्यान में रखना जरूरी है । हमारे यहां जो लोग केवल वर्ग की धारणा के आधार पर भारतीय समाज की संरचना को समझने की कोशिश करते है, वे वर्ण और जाति की वास्तविकता की उपेक्षा करते है और इसी प्रक्रिया में भारतीय समाज की अधूरी समझ लाते है । लेकिन दूसरी ओर जो केवल वर्ण के आधार पर भारतीय समाज की संरचना की व्याख्या करते है, इस व्याख्या में भी भारतीय समाज की अनेक जटिलताएं छूट जाती है । वास्तव में वर्ग एक

- -

1. दलित चेतना साहित्य - डा० मैनेजर पांडेय से अनुपम शुक्ल की बातचीत - पृ० 3

धारणा है, वर्ण और जाति एक वास्तविकता है । कहीं कहीं ये दोनों एक साथ मिलते हैं, और कई जगह एक दूसरे को काटते है । यह अधिक संभव है कि भारतीय समाज की वर्णवादी संरचना में जो दलित है, वे वर्ग की धारणा के अनुसार सर्वहरा भी हो और अधिकांशतः ऐसा है भी ।"[1]

उपर्युक्त विवेचन को जरा विस्तार में लेते हुए हम वर्ण, जाति, वर्ग, एवं अस्पृश्यता आदि के ऐतिहासिक पहलुओं पर दृष्टिपात कर सकते है ।

4. भारतीय समाज एवं वर्ण व्यवस्था :

भारतीय समाज चार वर्णो में विभक्त रहा है - ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र । यह विभाजन आरंभ में जन्मगत न होकर श्रम विभाजन के आधार पर हुआ । श्रम का विभाजन उत्पादन शक्तियों के विकास तथा युग की आवश्यकता के फलस्वरूप होता है । यह उत्पादन की सामूहिकता को समाप्त कर देता है । विभिन्न व्यक्ति अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार अलग अलग कार्यों में लगते हैं और यही कार्यात्मक विभाजन वर्ण विभाजन बन जाता है । डा० नरेन्द्र सिंह वर्ण व्यवस्था की जड़ कृषि के विकास को मानते हुए कहते है --" आज से छः हजार वर्ष पूर्व जब कृषि का विकास हो रहा था, गोत्र समुदाय का धीरे-धीरे ग्राम समुदाय में विलय हो गया, ग्राम समुदाय के आर्विभाव के कारण सामुदायिक कृषि

---

1. दलित साहित्य चेतना - डा० मैनेजर पांडेय से अनूप शुक्ल की बातचीत पृ. 2

व्यवस्था का जन्म हुआ । . . . . प्राय: यह दिखता है कि मनुष्य में असमानता का उदय तथा मानव समाज का वर्णों में विभाजित हो जाने के मूल में कृषि व्यवस्था तथा इस पर आधारित विकास रहा है। वर्ण विभाजन उन समाजों में सबसे पहले हुआ जहां कृषि पर आधारित सभ्यताएं थी जैसे यूनान, मेसोपोटामिया, भारत और चीन आदि । अर्थात वर्ण विभाजन मानव सभ्यता के विकास की एक स्वाभाविक तथा अनिवार्य प्रक्रिया है ।[1]

भारत में वर्ण व्यवस्था के द्वारा पुरोहित वर्ग (ब्राह्मण) ने स्वयं को धर्मसम्मत सर्वोपरि सिद्ध करते हुए दलितों को समाज में सबसे नीचे स्थित किया है । इसके लिए उन्होंने ब्रह्मा के शरीर के विभिन्न भागों से चार वर्णों की उत्पत्ति का सिद्धांत प्रतिपादित किया है । इसके अनुसार ब्रह्मा के मैले पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई है । इस प्रकार स्वयं ईश्वर ने समाज में शूद्रों की भूमिका तय की है ।

ब्राह्मणोस्य मुखमासीद बाहु राजन्य कृत: ।
उरू तदस्य यश्य: पादभ्या शूद्रो जायत् ।।

ऋग्वेद - 10-90-12

अर्थात समाज रूपी पुरूष के लिए ब्राह्मण मुख रूप से क्षत्रिय बाहु रूप से, वैश्य उरू रूप से और शूद्र पाद रूप से विकसित हुए । इस सूक्त में समाज सौष्ठव के लिए चारों वर्गों का एक मन होकर कर्तव्य पालन करना

- -

1. दलितों के रूपान्तरण की प्रक्रिया - नरेन्द्र सिंह - पृ. 14

आवश्यक बताया गया है । यही समाज का धार्मिक रूप भारत के परवर्ती विचारकों के समक्ष भी रहा ।

"तीन उच्चवर्णों की सेवा करने वाले सामाजिक वर्ग के रूप में शूद्रों का प्रथम और एक मात्र उल्लेख ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में आया है, जिसकी पुनरावृत्ति अथर्ववेद के उन्नीसवें भाग में हुई । ऋग्वेद कालीन समाज में कुछ दास दासियां होती थी जो घरेलू नौकर के रूप में कार्य करती थी, पर उनकी संख्या उतनी नहीं थी कि उनको मिलाकर शूद्रों का दास वर्ण बन पाता । वस्तुत: वर्ण व्यवस्था का उदय दास प्रथा वाले भारतीय समाज में हुआ ।"[1]

के॰दामोदरन ने लिखा - "चातुर्वण्य अथवा समाज के चार वर्णों में विभाजन, भारतीय दास प्रथा का एक विशिष्ट रूप था ।[2]

श्रम विभाजन के पहले, भारतीय समाज की आरंभिक अवस्था में कोई वर्ण विभाजन नहीं था । महाभारत के शांति पर्व में भीष्म का यह कथन इस बात का प्रमाण है -

"न वै राज्यम न राजसीन्न व दण्डो न दण्डिना
धर्मेणोव प्रजा सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम ।"

अर्थात इस युग में न तो राज्य था और न राजा, न दंड विधान था और न दंड देनेवाला, धर्म के आधार पर सभी मनुष्य एक दूसरे की रक्षा करते थे ।

- -

1॰ हू वर द शूद्राज - डा० अम्बेड्कर - पृ॰ 239

2॰ के॰दामोदरन - भारतीय चिन्तन परम्परा - पृ॰ 63-64

उत्तर वैदिक धर्मग्रंथों में राजा को ईश्वर का अंश बताया गया है । ब्राह्मण ग्रंथों में बार बार कहा गया है कि राजा ईश्वर का अंश है । शतपथ ब्राह्मण में राजन्य को प्रजा-पति का प्रतिनिधि कहा गया है । धर्मसत्ता में शूद्रों को अधिकारहीन बतलाया है । धर्म द्वारा घोषित राजा इतना स्वेच्छाचारी हो गया था कि यह जनता का रक्षक न होकर भक्षक हो गया । धर्म द्वारा करों के निर्धारण में ब्राह्मण सभी करों से मुक्त था । यही नहीं ब्राह्मण राजशक्ति द्वारा निर्धारित सभी प्रकार के दंड नियमों से भी मुक्त था । भारत में भी अपने समान हितों के लिए राज्यसत्ता और धर्मसत्ता आपस में अनुबंधित थी ।[1]

5. शूद्रों की उत्पत्ति का नस्लवादी सिद्धांत :

वर्ण का शाब्दिक अर्थ है रंग । अनेक समाज शास्त्रियों का विचार है कि आर्य लोग अपने गोरे रंग के प्रति काफ़ी सचेत थे और अपने आगमन से पूर्व भारत के आदिवासियों के श्याम रंग से उसका मिश्रण होने देना नहीं चाहते थे । अतः उन्होंने समाज का विभाजन रंग के आधार पर किया । आगे चलकर इसी ने कार्यात्मक गुणों के आधार पर विभाजन का रूप ग्रहण कर लिया । प्रो. धुर्ये के अनुसार -"ऋग्वेद में वर्ण शब्द किसी भी वर्ग के लिए लागू नहीं किया गया है । वहां तो दास वर्ग के विपरीत आर्य वर्ण का ही उल्लेख है.... । वर्ण का अर्थ रंग और इसी अर्थ में इस शब्द को आर्य तथा दास का वैपरीत्य बतलाने के लिए प्रयोग किया प्रतीत होता है, जिसका अर्थ क्रमशः गोरे और श्याम रंग है । उनका विचार है कि आर्य और दास का यह अंतर बाद में आर्य और शूद्र का अंतर बन गया । उन्ही

---

1. दलितों के रूपान्तरण की प्रक्रिया - नरेन्द्र सिंह - पृ. 28

के शब्दों में उत्तर वैदिक साहित्य में यह पृथक्करण की प्रवृत्ति शूद्र के मध्य हो गई और शूद्र को श्याम वर्ण का बतलाया गया है ।"[1]

प्रो॰एम॰एन श्रीनिवास का भी यही मत है - उन्होंने लिखा है - "एक शब्द जिसका मूलत: प्रयोग विजेता (आर्य) तथा विजित आदिम जातियों (दस्यु) के बीच रंग रूप में भेद करने के लिए किया गया था । बाद में समाज में श्रेणी क्रमात्मक विभाजन के लिए प्रयुक्त हुआ ।"[2]

प्राय: यही मत डा० रोमिला थापर का भी है । प्रसंगात उनके विचारों को देखना प्रासंगिक होगा । वे लिखती है - "वर्ण की दिशा में पहला कदम उस समय उठाया गया जब आर्यों ने दासों को सामाजिक परिधि से बहिष्कृत किया । संभवत: उन्होंने ऐसे दासों से भय किया । उन्हें इस बात का भय था कि दासों के साथ घुलने मिलने से आर्यत्व अक्षुर्ण नहीं रह सकेगा ।"[3]

सारे तर्कों के बावजूद यह बात ठीक प्रतीत नहीं होती । यदि ॠग्वेद के "पुरूष सूक्त" को प्रक्षिप्त मान ले, जैसा कि प्राय: सभी विद्वान जिनमें कोलब्रूक और मैक्समूलर भी शामिल है, तब भी ॠग्वेद में तीन वर्णों में समाज के विभाजन का स्पष्ट संकेत तो मिलता ही है । इस संदर्भ में के॰दामोदरन का मत उल्लेखनीय है । उन्होंने लिखा है कि - "यह तर्क तब ही सही होता जब केवल दो वर्ण होते - "आर्य और अनार्य" । किन्तु

- -

1॰ एम॰एन॰ श्रीनिवास - आधुनिक भारत में जातिवाद तथा अन्य निबंध पृ॰ 68

2॰ रोमिला थापर - भारत का इतिहास - पृ॰ 29

3॰ गोविन्द सदाशिव धुर्ये - जाति वर्ग और व्यवसाय - पृ॰ 45

हम देखते है कि स्वयं आर्य चार वर्णों में विभाजित थे । प्राचीन भारतीय समाज, यूनान और रोम समाज की तरह दासों और दास-पतियों में विभाजित नहीं था, जिन्हें वर्ण कहा जाता था - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ।"[1]

शूद्र के संबंध में इतिहासकारों, समाजवैज्ञानिकों... के बीच गहरे मतभेद है । शूद्र शब्द का सबसे पहला उल्लेख ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में मिलता है, जहां स्त्रष्टा के शरीर के विभिन्न अंगों से उत्पन्न होने वाले वर्णों में चौथा शूद्र है, जिसकी उत्पत्ति पैर से मानी गयी है । विद्वानों का मानना है कि "पुरूष सूक्त" को छोड़कर शूद्र का उल्लेख ऋग्वेद में कहीं नहीं है । कई विद्वानों का विचार है कि भारत में आगमन के पश्चात् आर्यों ने यहां के आदिवासियों पर विजय प्राप्त कर उन्हें दास बना लिया । बाद में यही शूद्र वर्ण के रूप में वर्ण व्यवस्था में शामिल किए गए ।

इन सब से अलग और वैज्ञानिक मत डा० रामविलास शर्मा का है । उनके अनुसार शूद्र भी आर्य ही थे, अनार्य नहीं - वे लिखते है - "वर्ण व्यवस्था समाज में श्रम विभाजन का परिणाम है, इसलिए उसकी रचना के लिए अनार्यों की पराजय कीकल्पना आवश्यक नहीं है । जिस समाज में सदस्य स्वयं को आर्य कहते थे, उसमें द्विज आर्य थे, शूद्र भी आर्य थे ।"[2]

शूद्र को अनार्य मानने वाले एक अन्य विद्वान कागिले के मत का हवाला देते हुए डा० शर्मा लिखते हैं - "शूद्रों को आर्यत्व से खण्डित करने वाली यह

- -

1. के. दामोदरन - भारतीय चिन्तन परम्परा - पृ. 64

2. डा० रामविलास शर्मा - मार्क्स और पिछड़े हुए समाज - पृ. 205

रूढ़िवादी धारणा पूंजीवादी इतिहासकारों के नस्लपंथी दृष्टिकोण से कैसे मेल खाती है इसका प्रमाण कागले ने इस प्रकार दिया है - "प्रत्येक युग में वैदिक यज्ञ धर्म के अनुयायी उच्च वर्ण तक सीमित रहे होंगे और वे पूरी आबादी का अल्पांश ही रहे होंगे । आम जनता अधिकतर आर्येतर उद्भव की थी और सामान्यत: उसे वैदिक क्रियाओं से बहिष्कृत रखा गया था । कुछ लोग आर्य उद्भव के, कुछ लोग आर्येतर उद्भव के थे। यह उद्भव नस्ल के अलावा क्या है ? प्रश्न यह है कि आर्य लोग आर्येतर जनता के संपर्क में आने के बाद यज्ञ धर्म के अनुयायी बने या उससे पहले से थे ? यदि वे पहले से थे, तो हल कौन जोतता था, रथ कौन बनाता था, सूत कौन कातता था ? शूद्र के बिना द्विज का अस्तित्व संभव नहीं है ।"[1]

इसके पश्चात डा० रामविलास शर्मा वर्णों के उद्भव के संबंध में पुरूष सूक्त वाले सिद्धांत का अत्यन्त वैज्ञानिक विश्लेषण करके अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं । उनके अनुसार --"आर्येतर जातियों के शूद्र बनाये जाने की कथा की तुलना में वर्णों की उत्पत्ति का यह पुरूष सूक्त वाला विवरण कहीं अधिक वैज्ञानिक और यथार्थपरक है । जिस पुरूष को देवता विभाजित करते हैं, उसका मुख्य ब्राह्मण है, उसकी बाहें राजन्य है, जांघे वैश्य और उसके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए ।

ऋग्वेद में शूद्र वर्ण का यह एकमात्र उल्लेख है । यह अनार्यों के शूद्र बनाने की कथा से अधिक वैज्ञानिक इसलिए है कि, जिस पुरूष के अंग से तीन उच्चवर्ण बने है, उसी के एक अंग से शूद्र भी उत्पन्न हुए, भले ही यह अंग

- -

1. डा० रामविलास शर्मा - मार्क्स और पिछड़े हुए समाज - पृ० 205

पैर हो । चारों वर्ण एकही पुरूष के हैं । समाज से संबद्ध है । वे किसी अन्य पुरूष राक्षस या दैत्य समाज से लाकर तीन वर्णों वाले समाज में जोड़े नहीं गए और आरंभ में वर्ण भेद नहीं है, पुरूष के पास सिर पैर आदि सभी अंग है, वे विभाजित नहीं है । वर्ण तब बनते है, जब एक ही पुरूष समाज विभाजित होता है ।"[1] स्पष्ट ही डा0 रामविलास शर्मा शूद्रों की उत्पत्ति सम्बन्धी इस गुत्थी को अत्यन्त वैज्ञानिक तथा तर्कपूर्ण ढंग से सुलझाते हैं । उनकी दृष्टि पूरी तरह यथार्थ परक है ।

6· श्रम विभाजन एवं वर्ण व्यवस्था :

हम देखते है कि श्रम विभाजन से, पेशों के अलगाव से वर्ण व्यवस्था का घनिष्ठ संबंध है । श्रम विभाजन से ही प्राचीन गणगोत्रवाला समाज टूटता है, जिसकी कोख से वर्ण व्यवस्था का जन्म होता है । गण व्यवस्था में पेशों का अलगाव नहीं होता है । यहां उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व रहता है । व्यक्ति संपत्ति का अस्तित्व यहां नहीं होता था । डा0 रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है --"गण व्यवस्था में जब तक गोत्र, कई कुटुम्बों समूह उत्पादन का इकाई है, जब तक किसी एक गोत्र के अंतर्गत अनेक कुटुम्ब मिलकर श्रम करते हैं, तब तक कुटुम्बों में संपत्तिगत भेद न होगा, वर्ण भेद भी न होगा । कुटुम्ब जब उत्पादन की अलग इकाई बनता है । तब कुटुम्बों में संपत्तिगत भेद पैदा होने लगता है ।"[2]

- -

1· डा· रामविलास शर्मा - मार्क्स और पिछड़े हुए समाज - पृ· 206

2· डा0 रामविलास शर्मा - मार्क्स और पिछड़े हुए समाज - पृ· 47

गण, गोत्र और कुल अथवा कुटुम्ब - इनका एक दूसरे से बड़ा गहरा सम्बन्ध है । यह सम्बन्ध महाभारत के शान्तिपर्व में बहुत अच्छी तरह दिखाया गया है । भीष्म कहते है -

कुलेषु कलहा जाता: कुलवृद्धै रूपेक्षिता ।
गोत्रस्य नाशं कुर्वन्ति गणभेदस्य कारकम ।।

"गण का नाश कैसे होता है ? कुल में आपस में कलह होती है इसलिए कि वे अलग - अलग खेती करते है, अलग - अलग उत्पादन करते हैं, अलग - अलग संपत्ति एकत्र करते हैं । गोत्र का अधिकार कम होता जाता है ।कुल का अधिकार बढ़ता जाता । गोत्र संपत्ति का स्थान कुल संपत्ति लेती, गण संपत्ति, गोत्र संपत्ति और इसके पश्चात कुल संपत्ति ।"[1] कुल के बढ़ने पर उसके भी अनेक सदस्यों की संपत्ति अलग अलग हो जाती है। इस प्रकार समाज में वर्ग विभाजन होता है - स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था संपत्ति गत भेद से साफ़ तौर से जुड़ी हुई है । भले ही गीता में भगवान श्रीकृष्ण "चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः (4.13, अर्थात् गुण कर्म के अनुसार चतुर्वर्ण की सृष्टि करने का दावा करे, तथ्य यह है कि वर्ण व्यवस्था अपने युग की अनिवार्यता के रूप में वैसे भौतिक स्थितियों के बीच पैदा होती है । सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों से इसका आधार आधेय सम्बन्ध है । प्रो० रामशरण शर्मा - "इसे उत्पादन वितरण की प्रणाली मानते हैं । वे लिखते हैं कि "वर्णों का उदय प्राचीन काल में समाज को चलाने के उद्देश्य से हुआ था । वर्ण व्यवस्था वस्तुत: उत्पादन और वितरण की एक प्रणाली

- -

1. रामविलास शर्मा - भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद -पृ. 38 - 39

थी, जिसमें उत्पादन के फलों का बंटवारा समान रूप से नहीं होता था ।"[1]

सभी वर्णों के लिए विशिष्ट दायित्व एवं कर्तव्य निर्धारित कर दिये गए थे । ऐसा सामाजिक ढांचे को स्थिरता प्रदान करने के लिए किया गया था ब्राह्मण वर्ण व्यवस्था में शीर्षस्थ माने गए । क्योंकि सामाजिक नीति का निर्धारण करने वाले यही वर्ग थे । फलत: उन्होंने अपने लिए ढेर सारी सुविधाएं रख ली । शीर्षस्थ होने के कारण उन्हें तीनों वर्णों से सेवा प्राप्त करने का अधिकार था । वेदों का अध्ययन और अध्यापन, दान स्वीकार करना आदि ब्राह्मण के मुख्य कार्य बताये गये हैं । उसे पृथ्वी पर का देवता घोषित किया गया । उसके महत्त्व के सम्बन्ध में प्रो0 धुर्ये लिखते हैं -

"ब्राह्मण का प्रभुत्व इतना अधिक था कि महाभारत को घोषित करना पड़ा कि वास्तविक रूप से ब्राह्मण ही एक वर्ण था अन्य वर्ण तो उसके रूपान्तर मात्र थे । स्पष्ट है कि ब्राह्मणों के लिए इतने विशेषाधिकारों की व्यवस्था स्वयं ब्राह्मणों ने ही की । इसमें उनका स्वार्थ था । उन्होंने सामान्य करों से अपने को मुक्त कर लिया और यह भी व्यवस्था कर दी कि उन्हें किसी प्रकार का शारीरिक दण्ड नहीं दिया जा सकता है । यहीं तक नहीं, बल्कि यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मण पर अपराध का अभियोग लगाये, तो उल्टे वही व्यक्ति अपराधी माना जाता था । वर्ण व्यवस्था को शाश्वत रूप प्रदान करने के लिए उन्होंने वर्ण को वंशगत बना दिया ।"[2]

- -

1. द्वैमासिक - मई - जून - 1982 - पृ० 47

2. धुर्ये - जाति वर्ग और व्यवसाय - पृ० 50

वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मणों के बाद क्षत्रियों की स्थिति है । उनके कार्य मुख्यत: प्रशासन संबंधी तथा सेना संबंधी थे । वे जनता की देखभाल और उसकी रक्षा करते थे । प्रो0 रामशरण शर्मा ने लिखा है - क्षत्रिय शासन और लड़ाई का काम करते थे और कर उगाहते थे, लेकिन उनका सबसे बड़ा कर्त्तव्य यह था कि वर्णाश्रम धर्म चलता रहे । अत: वे ब्राह्मणों के बनाये हुए कानून को सख्ती से लागू करते थे । वे भीब्राह्मणों के साथ उत्पादन प्रबंधक थे ।"[1] भले ही ब्राह्मणों से वे एक सीढ़ी नीचे थे, किन्तु उन्हें समाज में काफी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था । निश्चय ही दोनों उच्चवर्ग के थे ।

"वैश्य" शब्द "विश" से बना है, जिसका अर्थ है लोगों का समूह था, जो उत्पादन में भाग लेते थे । वे पशुपालन, व्यापार, आदि भी करते थे । उन्हें कर देना पड़ता था । प्रो॰ धुर्ये ने वैश्य के संबंध में लिखा है - ऐतरेय ब्राह्मण में "वैश्य" दूसरों का आधार तथा इच्छानुसार दबाये जाने योग्य था ।"[2] स्पष्ट है कि वैश्य सामान्य जन थे और ऊपर के दोनों वर्णो की तुलना में उनकी स्थिति महत्वहीन थी । फिर भी शूद्रों से उनकी स्थिति बेहतर थी ।

शूद्र वर्ण व्यवस्था के निम्नतम स्तर पर थे । अथर्ववेद के प्रारंभिक भागों में शूद्र को एक जनजाति के रूप में चित्रित किया है । इनका कार्य है - तीन वर्णों की सेवा करना । ये समाज के सभी अधिकारों से रहित, शोषित और उपेक्षित वर्ण था ।

---

1. रामशरण शर्मा - "कथन" द्वैमासिक में आयोजित परिचर्चा - पृ॰ 48

2. प्रो॰ धुर्ये - जाति वर्ग और व्यवसाय - 54

शूद्रों का सेवक होना उत्तर वैदिक ब्राह्मण ग्रन्थों से ध्वनित होता है । आपस्तंब धर्मसूत्र स्पष्ट ध्वनित होता है कि शूद्र को अपने उच्च तीन वर्णों के लोगों की सेवा करके अपना भरण पोषण करना चाहिए ।"[1]

प्रो॰ रामशरण शर्मा के मतानुसार - "शूद्र समुदाय का अधिकांश संभवतः कृषि कार्यों में ही लगा रहता था ।"[2] शूद्रों का कृषि मजदूर होना संभावना नहीं, बल्कि सत्य है । कारण यह है कि पूरी दुनिया में दलितों की पहले पहल उत्पत्ति ही कृषि मजदूर के रूप में हुई थी ।

प्राचीन पालि ग्रंथों के अनुसार मगध में अनेक भूपतियों के पास 8000 एकड़ से भी अधिक भूमि थी । इस विशाल भूमि में पांच सौ हलों से कृषि कार्य किया जाता था और इन सभी भूखंडो के मालिक ब्राह्मण थे । इससे सिद्ध होता है कि बड़े भू - स्वामियों का कार्य बिना भारी संख्या में दासों को कृषि कार्य में लगाए पूरा नहीं हो सकता था । दासों तथा कृषि मजदूरों की यह जमात निश्चय ही शूद्रों की थी, जिसे धर्म, पुराण, समाज सभी ने एक ही व्यवस्था दी थी कि वह अपने सवर्ण मालिकों की प्राण लगाकर सेवा करें ।

7॰ शूद्रों का शोषण के विरूद्ध विद्रोह :

भारतीय समाज में शूद्रों का शोषण एक कलंकित अध्याय है । वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत अपने से ऊंचे तीन वर्गों की सेवा करना उनका प्रमुख कर्त्तव्य बतलाया गया है । "शूद्र घरेलू भृत्य हुआ करते थे । वे धनी मानी लोगों की

1॰ आपस्तंव धर्म सूत्र - पृ॰ 54 - 57

2॰ प्रो॰ रामशरण शर्मा - शूद्रो का प्राचीन इतिहास - पृ॰ 93

निजी संपत्ति होते थे । उन्हें समाज की संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता था । वेद का अध्ययन तो दूर, उन्हें वेद मंत्रादी का श्रवण तक से वंचित रखा गया है । इस नियम का उल्लंघन करने पर उनके कानों में गरम शीशा डालने का विधान मनु ने निर्धारित किया था । वस्तुत: अधिकारों के नाम पर शूद्रों के पास कुछ नहीं है - सिर्फ सेवा का अधिकार छोड़कर ।"[1]

भारत में शूद्रों का कितनी निर्दयता से शोषण, दमन किया जाता था, इसका पता कुछ ऐतिहासिक तथ्यों के उल्लेख से मिलता है ।"प्रो॰ रामशरण शर्मा ने एक दासी का उदहारण देते हुए बताया है कि वह अपने परिश्रम द्वारा जमा की गई रकम अपने मालिक को दे देती थी ।"[2]

निश्चय ही, इन सारे तथ्यों की रोशनी में वर्ण व्यवस्था के शोषक चरित्र का पता चलता है । उच्चवर्ण के लोग, निम्नवर्गों के लोगों - विशेषकर शूद्रों, दासों का सब प्रकार से शोषण करते थे । प्रतिरोध करने पर दासों के लिए सख्त से सख्त सजा का प्रावधान किया गया था,। लेकिन लाख दमन के हथकण्डे हो, क्रूरतम सजा का प्रावधान हो, शूद्र अनेक बार प्रतिरोध विद्रोह करते थे । मालिकों पर दासों का आक्रमण का उल्लेख इतिहास में अनेकाएक मिलता है । मनु तथा अन्य आचार्यों द्वारा दासों के लिए कड़ी से कड़ी सजा का विधान निर्धारित किया जाना स्वयं इस बात का पक्का प्रमाण है कि उस समय तक दास सक्रिय प्रतिरोध करने लगे थे, यहां तक कि ब्राह्मण वध भी करने लगे थे । यह आकस्मिक नहीं है कि ब्राह्मण

- -

1. धुर्ये - जाति वर्ग और व्यवसाय - पृ॰ 44-45

2. रामशरण शर्मा - शूद्राज इन एन्शियेन्ट इंडिया - पृ॰ 108

वध को सबसे बड़ा पाप घोषित किया गया,' जबकि दूसरी ओर शूद्र 'यथाकामवध्य:' माने गए है । के·दामोदरन ने बिल्कुल ठीक लिखा है - "वर्णाश्रम व्यवस्था के अंतर्गत शोषण को भी धार्मिक अधिकारों से विभूषित कर न्याय संगत ठहराने की कोशिश की गयी थी ।"

अ.त: निष्कर्ष के तौर पर हम यह मान सकते हैं कि आज के दलित वर्ग के शोषण एवं उत्पीड़न के पीछे इतिहास की इस शृंखला का योगदान कम नहीं है । समय समय पर इसका प्रतिरोध होता रहा, मगर इसे जड़ से मिटाने के लिए सिर्फ प्रतिरोध काफी नहीं, भारतीय समाज व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन की आवश्यकता है ।

8• जाति प्रथा का मूल उत्स :

समकालीन भारतीय समाज की विसंगतियों को समझने के लिए जाति प्रथा के उद्भव का वैज्ञानिक विश्लेषण आवश्यक है । यदि हम इतिहास के पन्नों को पलट के देखे तो स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि एक जाति विशेष का वर्चस्व प्रवाहमान काल से समाज के समस्त अधिकारों को हड़पता रहा है । जातिप्रथा की उत्पत्ति एवं विकास के संबंध में अलग अलग विचारकों के भिन्न भिन्न राय हैं । इनमें डा0 अम्बेडकर के विचार ज्यादा वैज्ञानिक और तर्क संगत प्रतीत होता है ।

डा0 अम्बेडकर ने जाति प्रथा की उत्पत्ति और व्यवहार के संबंध में अपने निर्णय पर पहुँचने के पूर्व हिन्दू समाज के विभिन्न पहलुओं का अन्तर्वेधी अध्ययन किया । जातिप्रथा के विकास की गहराई में जाते हुए डा0 अम्बेडकर का मानना है - "जाति एक परिवेष्टित वर्ग है और सती-

प्रथा, प्रवर्तित विधवापन एवं बाल विवाह का इसमें प्राधान्य रहा । इस प्रकार यह वर्ग जाति संस्था का जन्मदाता हो गया । इन रीति - रिवाजों का प्रारंभ कर्ता ब्राह्मण वर्ग है ।"[1]

डा० अम्बेडकर मनु को जाति व्यवस्था का नियामक नहीं मानते हैं। मनु ने जाति व्यवस्था का संहिताकरण भर किया था, ऐसी उनकी मान्यता है । वह इसे सर्वथा असंभव कृत्य मानते है कि एक व्यक्ति विशेष द्वारा जाति प्रथा जैसी असाधारण धूर्तता-पूर्ण व्यवस्था का नियमन किया गया है । यह वर्ण व्यवस्था का दूसरा पड़ाव है । वर्ण व्यवस्था का विकृत एवं हिंसक रूप जाति व्यवस्था के रूप में उभरता है ।

आगे जाति के बहुविध रूप कैसे हो गए ? डा० अम्बेडकर ने इसकी मनोवैज्ञानिक और तथ्यात्मक व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है ।"हिन्दू समाज विभिन्न वर्गों का सम्मिश्रण था और जिन्हें पहले निम्न नामों से जाना जाता था ।

1. ब्राह्मण या पुजारी वर्ग 2. क्षत्रिय या सैनिक वर्ग
3. वैश्य या व्यापारिक वर्ग 4. शूद्र या शिल्पी वर्ग"[2]

१. जाति : हिंदी समाज का संरचनात्मक आधार :

एम. एन. श्रीनिवास की भाषा में "जाति हिन्दू समाज का संरचनात्मक

- -

1. भीमराव रामजी अम्बेडकर - डा० जी.एस.लोखण्डे - पृ. 12
2. -वही- -वही-

आधार है । इसे हिन्दू धर्म का लौह ढांचा कहा गया है । जाति व्यवस्था ने लोगों को जन्म पर आधारित पृथक पदानुक्रमित श्रेणी में बांट दिया है । लोगों की अपरिवर्तनशील सामाजिक स्थिति का निर्धारण जन्म से हो जाता है । बेटे को बाप का पेशा ही अपनाना पड़ता है । इसी तरह एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति में विवाह सम्बन्ध करने को स्वतंत्र नहीं होता ।"[1]

डी॰डी॰कोसाम्बी के अनुसार - "भारतीय समाज की मुख्य विशेषता जो देहाती इलाकों में सबसे अधिक प्रबल है, वह जाति प्रथा है । इसका अर्थ है समाज के ऐसे विभक्त समूह जो पास पास तो रहते हैं, परन्तु अक्सर मिलजुलकर रहते हुए दिखाई नहीं देते ।"[2]

लुइ डूमों जाति को "मानसिक स्थिति" मानते हैं । इस प्रकार वे "हिंदू मस्तिष्क की उर्वरता को सबसे महत्वपूर्ण मानते हैं और भारतीय समाज में आर्थिक शोषण, वर्गों और शक्ति की भूमिका को गौण साबित करते है । डूमों जाति व्यवस्था को शुद्ध पदानुक्रम मानते हैं । उनकी शुद्ध पदानुक्रम संबंधी धारणा तीन मुख्य स्तम्भों पर टिकी हुई है (क) कर्मकांडी स्थिति तथा राजनीतिक स्थितियों में मूलभूत अंतर है जो ब्राह्मणों के पूर्ण आधिपत्य को निश्चित करता है । (ख) ब्राह्मण के साथ अछूतों की स्थिति आरंभ से ही रही है तथा (ग) सन्यासियों के अस्तित्व से शुद्ध पदानुक्रम व्यवस्था मजबूत होती है क्योंकि वे उसी में अंतर्भूत है ।

मगर डूमों उपर्युक्त विवेचन से अधिकांश विद्वान सहमत नहीं है । इसे विद्वान भारतीय समाज के बारे में डूमों की अधकचरी समझ मानते है ।

- -

1. एम॰एन॰ श्रीनिवास - आधुनिक भारत में जातिवाद तथा अन्य निबंध पृ॰ 17

2- रामविलास शर्मा - मार्क्स और पिछड़े हुए समाज - पृ - 204

10॰ जाति व्यवस्था के उदय का कारण :

10॰1॰ उत्पादन एवं दस्तकारी के शाखाओं के विकास का सिद्धांत :

जब हम जाति व्यवस्था के उदय के कारणों पर विचार करते हैं, पाते हैं कि उत्पादन और दस्तकारी की विभिन्न शाखाओं के विकास से जातियों का विकास अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है । जब दस्तकारी की शाखाओं का विकास हुआ, तो उनके लिए विभिन्न कार्यकुशल लोगों की जरूरत हुई । विभिन्न लोग विभिन्न पेशों से सम्बद्ध हुए और क्रमशः वे अलग अलग जातियों के रूप में परिणत हो गये । जो वर्ण उत्पादन कार्य में हिस्सा लेते थे, उनसे ही जातियां बनी । इस सम्बन्ध में डा० रामविलास शर्मा का कहना है - "श्रम विभाजन के प्रारंभिक दौर में दो, तीन या चार वर्णों से काम चल जाता है, किन्तु जैसे - जैसे दस्तकारी की शाखाओं का विकास होता है कुछ कुटुम्ब किसी एक शाखा से पीढ़ी दर पीढ़ी जुड़े रहते हैं, वैसे-वैसे जातियों का निर्माण होता है और वे रूढ़िबद्ध होती है । ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण उत्पादन में भाग नहीं लेते, उनमें जातियां नहीं है, सभी ब्राह्मणों की एक जाति ब्राह्मण, सभी ठाकुरों की एक जाति ठाकुर है । "विनियम" से सम्बद्ध एक जाति बनी "बनिया" बाकी सभी जातियों का सम्बन्ध उत्पादन और संस्कृति की शाखाओं अथवा सेवा कार्यों से है । पेशे से अलग जो जाति है, वह वास्तव में जाति है ही नहीं, वह किसी पुराने कबीले, उसकी शाखा, गोत्र का नाम है । उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के विकास के साथ जातियों का निर्माण स्वभाविक है ।"[1]

1॰ रामविलास शर्मा - मार्क्स और पिछड़े हुए समाज - पृ॰ 204, 205

10.2 सामाजिक एकता का सिद्धांत :

रामधारी सिंह "दिनकर" का विचार है कि जातियों का विकास सिर्फ पेशों के विकास के कारण नहीं हुआ, बल्कि इसके पीछे भारत के तमाम लोगों को एक समाज में समेटकर बांध रखने की आर्यों की योजना थी। वे लिखते है - "आर्यों ने जाति प्रथा के अनेक वर्गों और लोगों को एक ही समाज के अन्दर, अपनी अपनी सभ्यता और संस्कृति के अनुसार, उचित स्थानों पर बिठाना था। असल में जातिवाद के रूप में आर्यों ने समाज के भीतर एक दीर्घा खड़ी कर दी, जिसमें नीचे से ऊपर तक सभी श्रेणियों के लोग अपनी अपनी हैसियत के अनुसार, आसानी से बैठ सकते है।"[1]

जातियों के विकास की इस धारणा से सहमत होना कठिन है। आर्यों ने जानबूझकर जातियों की रचना किसी खास उद्देश्य से की, यह बात नहीं जंचती। यह जाति के विकास को आर्थिक स्थितियों से काटकर देखने का परिणाम है और फलतः भ्रामक है। जातियों का विकास ठोस आर्थिक, सामाजिक और ऐतिहासिक स्थितियों से पूरीतरह जुड़ा हुआ है, इस तथ्य की उपेक्षा करना संभव नहीं है।

10.3. "वर्ण संकर" का सिद्धांत :

कतिपय विद्वान अन्वेषक जाति की उत्पत्ति का मूलकरण समाज में व्याप्त वर्ण संकर को मानते है। इस संबंध में पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत उल्लेखनीय है। पं. द्विवेदी के अनुसार "हिन्दू पुराण और धर्मग्रंथों की यह प्रवृत्ति रही है कि किसीजाति की उत्पत्ति के लिए निम्नलिखित पांच कारणों में से किसी एक को मान लेना।

- -

1. रामधारी सिंह "दिनकर" संस्कृति के चार अध्याय - पृ. 73

1. वर्णों के अनुलोम विवाह से

2. वर्णों के प्रतिलोम विवाह से

3. वर्णों की संस्कार भ्रष्टता के कारण

4. वर्णों से बहिष्कृत समुदाय से और

5. भिन्न संकर जातियों के अन्तर्विवाह से ।

इन पांच कारणों के अतिरिक्त कोई छठा कारण पुराणों और स्मृतियों में नहीं बताया गया है। जब किसी नाई जाति का आविर्भाव भारतीय भूमि पर हुआ, तभी कोई न कोई ऐसा ही मिश्रण सोच लिया गया है ।"[1] जाति के विकास में यह एक कारण हो सकता है । यह द्विवेदी जी की वस्तुपरक दृष्टि का परिचायक है । डा० रोमिला थापर का भी यही मत है । उनके विचार से,"जब चार वर्ण अपर्याप्त सिद्ध होने लगे, तब "वर्ण संकर" की धारणा बनायी गयी ।"[2]

1.4. सामंती स्वार्थ का सिद्धांत :

सच पूछो तो जाति सामंती व्यवस्था का अभिन्न अंग है । दास प्रथा के अंतर्गत चार वर्णों की प्रणाली थी, किन्तु सामंती व्यवस्था में वर्ण व्यवस्था का रूपांतरण स्वभाविक रूप से अनेक शाखाओं वाली प्रणाली जाति व्यवस्था में हो गया । के.दामोदरन ने लिखा है --"जाति प्रथा का उद्भव मध्ययुगीन सामन्ती समाज के एक अभिन्न अंग के रूप में हुआ ।"[3]

---

1. पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी - कबीर - पृ. 18
2. डा० रोमिला थापर - एन्शिएन्ट इंडियन सोशल हिस्ट्री - पृ. 129
3. के.दामोदरन - भारतीय चिन्तन परम्परा - पृ. 217

बात सही लगती है, क्योंकि जाति प्रथा केवल भारतीय समाज में ही पायी जाती है । यह विशुद्ध आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों की उपज है । वस्तुत: जातिप्रथा सामंती व्यवस्था की विशेषता है । रामविलास शर्मा लिखते है --"जाति प्रथा केवल भारत की विशेषता नहीं है, जहां भी सामंती व्यवस्था होगी, यानी छोटे पैमाने का उत्पादन होगा और माल मुख्यत: बेचकर मुनाफा कमाने के लिए पैदा न किया जायेगा, वहां बाप का पेशा बेटा भी अपनायेगा और यही जाति प्रथा की विशेषता है । मोची, कुम्हार, कलार, लुहार, सुनार वगैरह जितने भी पेशे होंगे, उतनी ही जातियां बन जायेगी ।"[1] इससे जातियों का आधार जन्म से होने लगता है और यह रूढ़ हो जाता है ।

10.5. त्रिकोणीय सिद्धांत :

डा0 रामशरण शर्मा जातियों के विकास के तीन सबसे महत्त्वपूर्ण कारण बतलाते हैं । "पहला यह कि ब्राह्मणों, क्षत्रियों ने विभिन्न जनजातियों कबीलों को वर्ण व्यवस्था में शामिल करके, उन्हें अलग अलग जातियों के रूप में स्थापित कर दिया । स्वभावत: जन जातियों के शामिल होने से जातियों की संख्या बढ़ती चली गई ।

दूसरा कारण यह हुआ कि अलग अलग हुनर जानने वाले लोग शुरू में तो अपना पेशा बदल सकते थे, किन्तु आगे चलकर इसका विशेषीकरण हो

---

1. रामविलास शर्मा - "सामाजिक विकास और प्रौद्योगिकी शीर्षक लेख, "कथन" मार्च - अप्रैल, 1986 - पृ. 46

गया । शिल्पी लोगों के लिए स्थान और हुनर बदलने का मौका घट गया । इससे तमाम पेशे मध्यकाल में एक एक जाति बन गये और उनमें जन्म और रक्त सम्बन्ध पर जोर दिया जाने लगा ।

तीसरा कारण है नये पंथ या धर्म बने तो उनके अनुयायियों ने भी अपनी - अपनी एक जाति बना ली ।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से पता चलता है कि आदिम काल से आज तक नये नये कौशलों के विकास के साथ जातियों की संख्या बढ़ती गयी । युगीन परिस्थितियों के अनुकूल कभी वह शोषित तो कभी समृद्ध कहलाया ।

<u>1.1. जाति आधार या अधिरचना :</u>

आज के मार्क्सवादी दृष्टिकोण से यदि जाति की व्याख्या करना चाहे तो सवाल पैदा होता है जाति "आधार" है या "अधिरचना" । स्वभाविक है कि इस संबंध में गहरे मतभेद है । प्रख्यात विद्वान हूमों जाति को आधार मानते है, अधिरचना नहीं । वे जाति को मानसिक स्थिति मानते है । इससे वे आर्थिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक स्थितियों को गौण स्थान देकर राजनीतिक शक्ति को इसका प्रमुख कारण मानते है ।

तथ्य यह है कि भारत में जाति व्यवस्था शोषण का प्रमाण प्रस्तुत करती है । यदि जाति व्यवस्था को आधार तथा उत्पादन संबंधों को

- -

1. रामशरण शर्मा - समकालीन भारतीय समाज में वर्ण एवं जातियों को वर्गों से क्या संबंध - शीर्षक परिचर्चा " कथन" मई- 1982 पृ. 94

जाति व्यवस्था पर आधारित माना जाय तो इस तथ्य की ओर आँखें मूँद लेनी पड़ेगी कि इतिहास में अनेक जातियों ने अपने दमन तथा दासता के खिलाफ विद्रोह किये है । जाति व्यवस्था शोषण मूलक है, इससे शायद ही कोई इन्कार करेगा । यह शोषण पर कायम है । गेल आमवेत भी मानती है कि, "जाति का चरित्र शोषक है तथा गांवों के पीड़ित तथा श्रमजीवी वर्ग को विभाजित रखने के लिए इसका इस्तेमाल शासक वर्ग करता । साथ ही साथ जाति की विचारधारा को निम्न जातियां प्राय: स्वीकार नहीं करती बल्कि यह उन पर थोपी जाती है । उन्हें इसका पालन करने के लिए बाध्य किया जाता है ।"[1] आधार और अधिरचना का सवाल पी॰सी॰जोशी ने भी उठाया । वे लिखते हैं --"जाति को हम न तो पूरी तरह आधार पाते हैं, न पूरी तरह अधिरचना । वे दोनों से ही संबंधित है । प्रच्छन्न रूप से वह एक वर्ग भी है, लेकिन पूरी तरह वर्ग भी नहीं है । वह पूरी तरह आर्थिक वर्ग नहीं है लेकिन, उसे वर्ग से अलग करके देखा भी नहीं जा सकता । मार्क्सवादियों का एक तबका यह मानता है कि भारत जाति ही वर्ग है । लेकिन ऐसा कुछ लोग नहीं मानते हैं । जाति ही वर्ग होती तो वर्ग संघर्ष आसान हो जाता । जाति तो वर्ग संघर्ष को तोड़ने वाली है । वह लोगों को रोकती है ।"[2] निश्चय ही, जाति वर्ग संगठन में बाधक है । 8 अगस्त 1853 "न्यूयार्क टाइम्स" में प्रकाशित मार्क्स के वक्तव्य से इसकी पष्टि होती है । उन्होंने लिखा --"आधुनिक उद्योग वंशानुगत श्रमविभाजन को समाप्त कर देंगे, जिस पर भारतीय जातियां टिकी हुई हैं और जो भारत की, प्रगति तथा शक्ति के मार्ग में बड़ी रूकावट है ।"[3]

- -

1. गेल आमवेत - सोशल साइंटिस्ट - -1978 - पृ॰72

2. "कथन" में आयोजित परिचर्चा - मई-जून, 1982 - पृ॰ 51

3. इकानमिक एंड पालिटकस वीकली, फरवरी 1979 में प्रकाशित शरद पाटिल के लेख से उद्धृत - पृ॰ 219

स्पष्ट ही, मार्क्स के इस कथन से भी सिद्ध है कि जाति वर्ग के रूप में लोगों को संगठित होने से रोकती है ।

निष्कर्ष के तौर पर हम जाति को आधार मानते है क्योंकि आज के दलित मुक्ति संघर्ष के संदर्भ में जाति एक जोड़ने वाली तत्व के रूप में उभरकर आ रही है । सभी शोषित वर्ग को जोड़ने वाली यह कड़ी है ।

।2। अस्पृश्यता :

भारत के समाज में अस्पृश्यता का उदय कोई आकस्मिक घटना नहीं है, इसके पीछे युगों से चली आ रही सामाजिक परम्परा का योगदान उल्लेखनीय है । अस्पृश्यता की जड़े हमें निवर्तमान समाज की वर्ण व्यवस्था में मिल सकता है । जो घृणा और वैमनस्य पर आधारित व्यवस्था थी, जो वहां अस्पृश्यता घृणा का पर्याय ही माना जा सकता है ।

अत: जाति व्यवस्था की चर्चा के क्रम में स्वभाविक रूप से अस्पृश्यता पर ध्यान जाता है । हिन्दू समाज में अस्पृश्यता कब और किन कारणों व परिस्थितियों में आरंभ हुई । इस सम्बन्ध में डा0 भीमराव जी अम्बेडकर ने पर्याप्त शोध एवं विवेचन अपने ग्रन्थों में किया है ।

नस्लवादी सिद्धांत का विरोध : डा0 अम्बेडकर :

डा0 अम्बेडकर इस पाश्चात्य सिद्धांत से सहमत नहीं है कि "वैदिक काल में आर्यों में जातिगत एकता थी । वे आर्यों के गौरवर्ण और आर्येतर

के कृष्ण वर्ण होने के सिद्धांत से भी असहमत थे ।"1 यदि पाश्चात्य विद्वानों के वर्णवादी सिद्धांत को मान ले तो ब्राह्मणों के देवता, कृष्ण, राम एवं ऋषि कण्व, दीर्घतमा आदि को किस कोटी में ले । अतः यह बिल्कुल निराधार एवं असंगत विचार है । आगे चलकर अम्बेडकर ने इसका विरोध किया था ।

डा० अम्बेडकर वैदिक आधार पर ही इन पाश्चात्य सिद्धांतों से असहमति प्रकट करते है कि आर्यों ने भारत पर आक्रमण किया और दास तथा दस्यु, जो यहां के मूल निवासी थे, से उनका संघर्ष हुआ था । उनकी मान्यता यह रही है कि आर्यों में दो जातियां थी जिसकी पुष्टि वर्ष 1901 में सर हबर्ट रिस्ले द्वारा तथा 1936 में डा० गुहा द्वारा की गई एन्थ्रोपोमिट्रिकल सर्वे आफ पीपल तथा प्रो० रिस्ले के निष्कर्षों द्वारा होती है ।

डा० अम्बेडकर, शूद्रों को आर्यों की ही एक उपजाति मानते हैं, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय के संघर्ष के परिणाम स्वरूप हुआ । कालान्तर में निम्न-वर्णीय करार दे दी गयी । वे ऋग्वेद के पुरूष सुक्त को प्रामाणिक नहीं मानते हैं, उसे बाद में जोड़ा गया मानता है । पाश्चात्य विद्वान कालबुक, मैक्समूलर और बेबर का भी यही मत था । ... डा० अम्बेडकर इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि,"आरंभ में मूलतः तीन ही वर्ग थे और शूद्र वर्ण क्षत्रिय वर्ण का ही एक भाग था । पुरूष सूक्त, यजुर्वेद की तैत्रीय संहिता,

- -

1. भीमराव रामज जी अम्बेडकर - डा० जी एस लोखण्डे - पृ० 74

कथक संहिता, आदि बाद में ऋग्वेद में जोड़ा गया, जिसमें शूद्रों को चौथा वर्ण माना गया है ।"[1]

"शूद्रों के इस मानभंग के कारण ब्राह्मणों और शूद्रों में हिंसात्मक संघर्ष हुआ । वे इस सम्बन्ध में शूद्र व राजा सुदास और ब्राह्मण ऋषि वशिष्ट और ऋषि विश्वामित्र के संघर्ष का उदहरण देते हुए प्रतिपादित करते है कि क्षत्रियों और ब्राह्मणों में भी अधिकार को लेकर संघर्ष हुए है । विश्वामित्र वशिष्ट संघर्ष इसका उदाहरण है ।"[2]

"शूद्रों को चौथा वर्ण बना देने के पश्चात जो लम्बा संघर्ष छिड़ा, उसमें ब्राह्मणों ने शूद्रों के विरूद्ध जिस मारक अस्त्र का प्रयोग किया वह था शूद्रों को उपनयन संस्कार के अधिकार से वंचित किया जाना । इस संघर्ष के पूर्व स्त्री व शूद्रों को उपनयन संस्कार का अधिकार प्राप्त था । ऋषि वशिष्ट ने शूद्र राजा सुदास का उपनयन किया था तथा उसका राज्याभिषेक ।"[3]

उपर्युक्त विवेचन से दो बातें स्पष्ट होती है - प्रथम, शूद्र के प्रति घृणा का भाव एक पराजित वर्ग के प्रति विजेता वर्ग की हीनदृष्टि का परिचायक है । द्वितीय, वर्षों तक इन पराजित जातियों को सभी सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक अधिकारों से वंचित रख उनका शोषण करना था ।

- -

1. भीमराव राम जी अम्बेडकर - डा० जी.एस. लोखण्डे - पृ. 75

2. भीमराव रामजी अम्बेडकर - डा० जी.एस. लोखण्डे - पृ. 75

3. -वही- पृ. 79

13• ब्राह्मण वर्ग का एकाधिकार एवं छुआछूत की भावना :

डा0 अम्बेडकर की मान्यता इस तथ्य पर आधारित है कि ब्राह्मण वर्ग अपनी सर्वोच्च सत्ता बनाए रखने और भेंट, पूजा, दान, यज्ञ, पौराहित्य के एकाधिकार की सुरक्षा हेतु सदैव ऊंच - नीच का विधान करते है । ऊंच - नीच और छुआछूत का विषफल इसी विष बीज की देन है । इस सम्बन्ध में वे शिवाजी के राज्याभिषेक का उदाहरण देते हुए जब उन्हें अपनी पात्रता सिद्ध करने के लिए कहा जाता है कि वे सिद्ध करें कि वे क्षत्रिय हैं, शूद्र नहीं क्योंकि उनका प्रधान अमात्य मोरोपांत पिंगले एक अन्य मराठा सरदार उन्हें क्षत्रिय नहीं मानकर उन्हें उपनयन तथा राज्याभिषेक के अयोग्य मानते हैं, तब, शिवाजी को इस विशिष्ट संस्कार के लिए बनारस के गंगाभट्ट नामक वेदज्ञ को नियोजित करना पड़ता है क्योंकि महाराष्ट्र का कोई ब्राह्मण उनके उपनयन संस्कार में भाग लेने को तैयार नहीं हुआ ।

अपने राज्याभिषेक तथा उपनयन संस्कार के लिए उस समय शिवाजी को दक्षिणा तथा भेंट के रूप में चार करोड़ छब्बीस लाख रुपये की राशि व्यय करनी पड़ी । इस उदहारण से ब्राह्मण वर्ग के शोषक पक्ष पर प्रकाश पड़ता है । एक अस्पृश्य किस तरह दक्षिणा भेंट देकर सवर्ण बन जाता है । इसका सबसे जीवन्त उदाहरण इससे बढ़िया और क्या हो सकता है ? इस घटना से ब्राह्मण वर्ग के पाखण्ड एवं ढकोसलों का पर्दाफ़ाश होता है ।

14• अस्पृश्यता का प्रथम उल्लेख एवं इसका विकास :

जहां तक अस्पृश्यता के उल्लेख कीबात है, हम पाते हैं कि आपस्तम्ब के "धर्मसूत्र" में भोजन से जुड़ी अस्पृश्यता की चर्चा आई है । ज्ञातव्य है कि

धर्मशास्त्र का काल 600 से 300 ई॰पू॰ तक है । विद्वानों का अनुमान है कि अस्पृश्यता के सम्बन्ध में सबसे पहला उल्लेख यही है । इसमें ब्राह्मणों को उस भोज्य पदार्थ को ग्रहण करने से मना किया गया, जिसे शूद्रों ने स्पर्श कर दिया है । हीन माने जाने वाले पेशों से जुड़े लोगों को अस्पृश्य समझा गया । के॰दामोदरन लिखते हैं - प्राचीन वर्ण व्यवस्था में कम से कम उसके प्रारंभिक रूप में अस्पृश्यता नहीं थी । किन्तु जाति प्रथा के आर्विभाव के साथ वह भी पनपने लगी । सामंती भद्रजन शारीरिक श्रम को नीच काम समझते थे और उन जातियों को, जो अपनी मेहनत मशक्कत से ही गुजारा करती थी, अपने से हीन और अस्पृश्य मानते थे ।"1

प्राय: सभी विद्वान यह मानते है कि वर्ण व्यवस्था के आरंभ में अस्पृश्यता नहीं थी । डा० राम शरण मानते हैं कि वर्ण व्यवस्था के आरंभ में अस्पृश्यता नहीं थी । डा० रामशरण शर्मा का विचार है कि अस्पृश्यता का सारा ढकोसला बाद में खड़ा किया गया, जब समाज कृषि प्रधान होने के बाद वर्णों में बंट गया और ऊपर के वर्ण अपने लिए तरह - तरह की सुविधाएं और विशेषाधिकार मांगने लगे । डा० शर्मा अस्पृश्यता के कारण की विवेचन करते हुए लिखते है --"अस्पृश्यता की उत्पत्ति के अनेक कारण माने जाते है, लेकिन मुख्य कारण आदिम जातियों का संस्कारहीन जीवन था जो वर्ण व्यवस्था में शामिल हुई । ये लोग मुख्यतया शिकारी और बहलिये के रूप में जीवन बिताते थे और उनकी तुलना में ब्राह्मण समाज

- -

1॰ के॰दामोदरन - भारतीय चिन्तन परम्परा - पृ॰ 219

के लोग धातुकर्म और कृषि का ज्ञान रखते थे और नगर जीवनका विकास कर रहे थे । बौद्ध ग्रंथों में चांडाल, निषाद, वेण आदि जातियों को घुमक्कड़ अकिंचन और अभावग्रस्त बताया गया, जिन्हें भरपेट अन्न और वस्त्र शायद ही मिल पाता था । . . . . भौतिक जीवन की विषमता समाज में बढ़ रही घृणा के साथ उग्र होती गयी ।"[1] सामाजिक परिस्थिति के मूल में अर्थ है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता था ।

15. अस्पृश्यता की उत्पत्ति के आधुनिक विचार :

अस्पृश्यता की उत्पत्ति के कारणों पर डा० रोमिला थापर ने नये ढंग से विचार किया है । डा० दीपंकर गुप्ता ने इस सम्बन्ध में रोमिला थापर के हवाले से बताया है कि "अस्पृश्यता की धारणा वस्तुत: मौर्य साम्राज्य के काल के बाद अस्तित्व में आई ।" इसी काल में कुछ बौद्ध स्त्रोतों ने कुछ समुदाय का उल्लेख अस्पृश्य के रूप में किया है । रोमिला थापर के अनुसार इसका स्पष्टीकरण यह है कि चूंकि बौद्ध धर्म शहरी केन्द्रों में फला फूला और उसके ग्रंथों के श्रोत शहरी क्षेत्रों के निवासी थे, वैसे सभी लोगों को जिन्होंने अपनी सेवाएं अर्पित करने के लिए अनियमित रूप से इन इलाकों में प्रवेश किया और बाद में गैर शहरी क्षेत्रों पृष्ठ प्रदेशों में लौट गये, उन्हें बौद्धों ने अस्पृश्य मान लिया । इनकी तुलना आज के शहर में रहने वाले झुग्गी झोपड़ीवालों से की जा सकती है । किन्तु, ग्रामीण इलाकों

- -

1. रामशरण शर्मा - समकालीन भारतीय समाज में वर्ण और जातियों का वर्गों से क्या संबंध "कथन" मई - जून, 1982 - पृ. 49

में जहां वैदिक साहित्य का सम्मान था, वहां उन्हें अस्पृश्य नहीं समझा गया । हिन्दू ग्रंथों में इस संदर्भ में उल्लेख मिलते है ।"[1] अतः यह अस्पृश्यता केवल शहरी केन्द्र तक सीमित था । बैरिस्टर एस॰मुखर्जी लिखते हैं कि - "जिन व्यक्तियों ने हिन्दू धर्म को स्वीकार नहीं किया और जिन लोगों ने हिन्दू धर्म के प्रचार में बाधा डाली थी उनके सिर उड़ा दिये गये थे और गांव से बाहर जाने को विवश कर दिया था । स्मृतियों द्वारा संरचित वर्जनाओं के माध्यम से उन्हें अछूत समझा जाता था ।"[2] बाणभट्ट के समय कोई छुआछूत नहीं थी, किन्तु अशुद्धता का दिखावटी विधान अवश्य था । गुप्त राजाओं के समय में भी यही स्थिति थी । जब 400 ई॰पू॰ में चीनी यात्री फाहियान भारत आया, तब उसने भारतीय लोगों के रीति-रिवाजों का अध्ययन किया । उसने पाया कि केवल चाण्डाल ही उदरपूर्ति के लिए शिकारमें रूचि रखते हैं, शराब पीते थे और लहसून प्याज खाते थे । उन्हें दुष्ट मनुष्य की संज्ञा दी गई थी और वे अन्य लोगों से अलग अलग रहते थे ।

छुआछूत के सही समय का अनुमान करते समय डा0 अम्बेडकर इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि युवान च्वांग के विवरणों से स्पष्ट है कि उसकी यात्रा के समय भारत में छुआछूत व्यवहार में नहीं आ रही थी । अतः छुआछूत 600 ई॰ में दृष्टिगोचर हुई थी एवं 200 ई॰ तक अस्तित्व में

- -

1॰ दीपंकर गुप्ता - कास्ट इनफ्रास्ट्रक्चर एण्ड सुपरस्ट्रक्चर
इकानमिक पालिटिकल विकली - 19 दिसम्बर - 1981 - पृ॰ 2097

2॰ दि डिक्लाइन एण्ड फॉल आफ हिन्दूज - एस मुखर्जी - पृ॰ 21

नहीं आई थी । वास्तव में छुआछूत लगभग 400 ई॰ के समय प्रकट हुई थी ।

16. वर्ण संकर उपजाति एवं अस्पृश्यता :

अस्पृश्यता को लेकर अलग अलग विद्वानों की अलग अलग राय है । कुछ लोग अस्पृश्यता की उत्पत्ति वर्ण संकर उपजातियों के आर्विभाव के कारण माना है । इस सम्बन्ध में डा० रामशरण शर्मा लिखते हैं – वर्ण संकर उपजातियों को अस्पृश्य या अछूत माना जाता था । निचली जातियों की एक बड़ी कमजोरी थी कि शूद्रों और अछूतों के रूप में उनका विभाजन करना जो पाणिनी के समय प्रकट हुआ, बादमें भी रहा और गुप्त काल में तीव्र हुआ ।"[1]

मनुस्मृति में "वर्ण संकर" जातियों की एक लम्बी सूची मिलती है । इन जातियों के व्यवसायों के आधार पर अंतर किया जाता था । चाण्डाल, श्वपाक और अन्त्यावसायिन अपराधियों को फांसी देने का कार्य करते थे । निषाद मछली पकड़ कर अपना निर्वाह करते थे । भेद अंध्र, मदगु और चुं चु का काम जंगली जानवरों का शिकार करना था ।"[2]

अधिकांश संकर जातियां जिनका मनु ने उल्लेख किया है, अछूत थी । मनु अस्पृश्यों और संकर जातियों को शूद्र मानते थे या नहीं यह स्पष्ट नहीं होता । उन्होंने स्पष्ट कहा है वर्ण चार है । इससे यह निष्कर्ष निकल

- -

1. शूद्रों का प्राचीन इतिहास – डा० राम शरण शर्मा – पृ॰ 282

2. मनु स्मृति – पृष्ठ – 48

सकता है कि संकर जातियों को शूद्र में शामिल कर लिया गया था । मनुस्मृति में एक स्थल पर कुल्लूक ने अन्त्यज को शूद्र के रूप में चित्रित किया है, किन्तु मनु ने अन्त्यज शब्द का प्रयोग चाण्डाल के अर्थ में किया है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि अस्पृश्यता की उत्पत्ति समाज में भौतिक पदार्थों की बंटन एवं समाज के शासन पर एक वर्ग विशेष के वर्चस्व के कारण हुई । धीरे धीरे यह फासला बढ़ता गया । ज्यों-ज्यों यह फासला बढ़ता गया त्यों - त्यों समाज में असमानता, शोषण, अत्याचार एवं उत्पीड़न बढ़ता गया । अंततगोत्वा एक वर्ग विशेष को समस्त सामाजिक अधिकारों से वंचित कर, अस्पृश्य घोषित कर दिया गया । जो आज तक अलग अलग शक्ल में वर्तमान है । आज के दलित उसी परम्परा की उपज है ।

17. वर्ण एवं जाति का अंत: सम्बन्ध :

भारत के समाज में जाति एवं वर्ण के महत्व को दो भिन्न पहलुओं से देखा जा सकता है । इनका सम्बन्ध जटिल और पेंचीदा है । अक्सर दोनों को एक दूसरे का पर्याय समझ लिया जाता है । वास्तव में यह गलत है । ऐसा इसलिए भी होता है कि प्राचीन ग्रन्थ में वर्ण के महत्व को सर्वोपरी मानते है । एम. एन. श्रीनिवास लिखते हैं --"भारतीय समाज शास्त्रियों के साथ ऐसा अक्सर हुआ उन्होंने जाति व्यवस्था के जटिल तथ्यों को, वर्ण की मर्यादाओं में समझने की चेष्टा की । परिणाम यह हुआ कि सामाजिक संरचना का अध्ययन अजीब ढंग से एकदम सरल हो गया ।

एक छोटे से क्षेत्र की जाति व्यवस्था असाधारण रूप से जटिल होती है और वर्ण के ढांचे में एक या दो बिन्दुओं को छोड़कर ठीक नहीं बैठती है ।"[1] आगे अपनी बात की पुष्टि के लिए प्रमाण प्रस्तुत करते हुए लिखते है - "एक स्थानीय व्यापारी जाति की संस्कृति वर्ण व्यवस्था के सुसंस्कृत वैश्यों की संस्कृति से अलग किसी शूद्र श्रेणी की संस्कृति के अनुरूप होगी । अन्त में यह थी कि शूद्र, शूद्र श्रेणी के अन्तर्गत मानी गयी जातियां आवश्यक नहीं कि सेवक ही हो । उनमें ऐसे भी हो सकते हैं, जो स्थानीय ब्राह्मणों सहित सभी लोगों पर अधिकार रखते हों ।"[2]

[8] धर्मशास्त्र की सैद्धांतिक कार्यसूची :

धर्मशास्त्र में वर्णों के कार्यसूची मुख्यत: सैद्धांतिक थी, हालांकि आरंभ में यह वास्तविक कार्य का विवरण लगता है । व्यवसायों के गैर धर्म-शास्त्रीय सूत्रों से बड़ी संख्या में प्राप्त प्रमाणों से इसकी पुष्टि होती है । डा0 रोमिला थापर लिखती हैं --"वर्ण व्यवस्था का आधार और अस्तित्व इस वर्तुमुखी विभाजन पर नहीं बल्कि उन अगणित जातियों पर निर्भर था, जो व्यवसायों के आधार पर बन गई थी । अंतत: हिन्दू समाज के दैनंदिन कार्यों में वर्ण की अपेक्षा जाति को अधिक महत्व प्राप्त हुई क्योंकि समाज का कार्य जातियों के संबंधों और तालमेल पर निर्भर करता था, जबकि वर्ण एक ऊपरी सैद्धांतिक ढांचा ही बना रहा । जातियों के संबंध कार्यों के विशेषीकरण तथा पारस्परिक आर्थिक सहयोग पर निर्भर करते थे ।"[3]

- -

1. एम एन श्रीनिवास - आधुनिक भारत में जातिवाद तथा अन्य निबंध पृ. 8
2. -वही- पृ. 8
3. रोमिला थापर - भारत का इतिहास - पृ. 31

स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था में व्यवहारिकता का अभाव है । कार्यक्षेत्र में जाकर जातियों के संबंध में व्यवहारिक अध्ययन से पता चलता है कि तथ्यों की व्याख्या करने में वर्ण व्यवस्था असमर्थ है । वैदिक काल में वर्ण और व्यवसाय में आत्यंन्तिक रिश्ता कायम नहीं हुआ था । यह उस समय की आर्थिक, सामाजिक आवश्यकता के अनुरूप ही था । उस समय तीन और चार वर्णों से काम चलता था । वेदों के काल में ऐसे कई उदाहरण मिलते है, जहां वर्ण व्यवसाय से आत्यंतिक रिश्ता कायम नहीं हुआ था । ऋग्वेद के एक सूत्र (नवम मंडल - ।।2) का ऋषि कहते है कि मैं कवि हूं, मेरे पिता वैद्य हैं और मेरी मां अनाज पीसती है । एक ही वर्ण के तीन व्यक्ति तीन भिन्न भिन्न व्यवसायों में लगे हैं । विपरीत इसके जाति व्यवस्था में यह बात नहीं है । यहां व्यवसाय से जाति का आत्यंतिक रिश्ता कायम हो चुका है । बल्कि विभिन्न पेशों का विकास ही जातियों के विकास के मूल में है ।

जैसा कि चर्चा की जा चुकी है, वर्ण व्यवस्था दास प्रथा वाले समाज में उदित होती है । बाद में जब भारत में सामन्ती व्यवसाय स्थापित होती है, तब जाति व्यवस्था का विकास होता है । इसके पश्चात तो जातियों की संख्या आवश्यकतानुसार बढ़ती ही चली गई । निश्चय ही चार वर्णों की सरल प्रणाली के स्थान पर अनेक शाखाओं, प्रशाखाओं वाली प्रणाली विकसित होती है । किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था दोनों का चरित्र शोषक है ।

।१०' वर्ग की अवधारणा:

जब दलित वर्ग की बात होती है, तब वर्ग की अवधारणा स्वतः

सामने आ जाती है । जब तक हम वर्ग की संरचना एवं मूलभूत प्रेरणाओं को नहीं समझ पाते है, तब तक इसके प्रभावों को समझ पाना मुश्किल है । संसार के सभी समाजों में "वर्ग" का जन्म विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप हुआ है । वर्ग क्या है ? इस सम्बन्ध में डेनिस किंगसले का हवाला देते हुए हेमराज निर्मम लिखते है - "जब कभी हम जातियों एवं वर्गों के विषय में तथा सामाजिक संस्तरण के संबंध में सामान्य रूप से सोचते हैं, तो हमारे मन में वैसे समूह रहते हैं, जिन्हें समाज में विभिन्न मात्रा में सम्मान प्राप्त होता है ।"[1]

कुछ विद्वान मानते हैं कि लोगों का वर्गों में विभाजन उनकी बौद्धिक योग्यताओं के आधार पर होता है । जो लोग सबसे अधिक प्रतिभाशाली, प्रखर बुद्धि तथा नेतृत्वक्षम थे, उनसे प्रभुत्व सम्पन्न वर्ग बने और अयोग्य तथा अल्प सक्रिय लोगों से शोषित वर्ग । सामान्य बुद्धि का व्यक्ति भी वर्ग के इस विभाजन को स्वीकार करेगा, इसमें सन्देह है । प्रभुत्वसम्पन्न वर्ग में भी एक से बढ़कर एक बेवकूफ, निकम्मे लोग मिल जाते हैं, तो दूसरी ओर शोषित वर्ग में महान प्रतिभाशाली और सक्रिय लोग पाये जाते हैं । विश्व के अनेक बड़े मनीषी शोषित वर्ग में उत्पन्न हुए है । आज के संदर्भ में डा० बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर इसके ज्वलन्त उदाहरण है ।

2.6 मार्क्सवादी दृष्टिकोण :

वस्तुत: वर्ग के संबंध में वैज्ञानिक अवधारणा मार्क्सवादी सिद्धांत के पास है । पहलीबार मार्क्स ने उत्पादन के साधनों के स्वामित्व और

---

1. हेमराज "निर्मम" - हिंदी उपन्यासों में मध्यवर्ग - पृ. 13 - 14

गैर स्वामित्व के आधार पर वर्गों का स्वरूप निर्धारित किया है । उत्पादन के साधनों से वर्गों का सम्बन्ध जोड़ते हुए उन्होंने बताया कि उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व ही किसी वर्ग को प्रभुत्व सम्पन्न तथा विशेषाधिकारों से युक्त बनाता है । विपरीत इसके, उत्पादन के साधनों से वंचित वर्ग शोषित वर्ग होता है । मार्क्स ने इन्हीं दो वर्गों की स्थिति स्वीकार की है ।

लेनिन ने अपने प्रख्यात निबंध "शानदार शुरूआत" में वर्ग को परिभाषित करते हुए लिखा है -

"वर्ग लोगों के ऐसे बड़े समूहों को कहते हैं, जो सामाजिक उत्पादन को इतिहास द्वारा निर्धारित किसी रीति में अपने स्थान की दृष्टि से, उत्पादन के साधनों के साथ अपने सम्बन्ध की दृष्टि से (जो अधिकांशतः कानून द्वारा निर्धारित तथा प्रतिपादित कर दिया जाता है), श्रम के संगठन में अपनी भूमिका की दृष्टि से और फलस्वरूप सामाजिक सम्पदा के जितने हिस्से के वे मालिक होते हैं, उसके परिमाण तथा उसे प्राप्त करने की विधि की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न होते हैं । सामाजिक अर्थ प्रणाली की एक निश्चित पद्धति में अलग अलग स्थान ग्रहण करने के कारण वर्ग लोगों के ऐसे समूह होते है, जिनमें से एक दूसरे के श्रम का शोषण कर सकता है ।"[1] स्पष्ट है कि इसमें वर्ग के वस्तुपरक लक्षणों का निरूपण किया गया है । उत्पादन के साधनों के साथ सम्बन्ध श्रम के सामाजिक संगठन में भूमिका के साथ ही सामाजिक सम्पदा पाने की विधि तथा उसके परिमाण की चर्चा की गयी है ।

- -

1. प्रगति - द्वंद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद की सरल रूपरेखा से उद्धृत - पृ॰ 375-376

2.1 वर्ग का उदय :

आदिम समाजों में कोई वर्ग विभाजन न था । वह गण - व्यवस्था वाला समाज था, जिसमें सामूहिक श्रम के अनुरूप उपज का सामान वितरण होता था । उत्पादन की उन्नत पद्धति के अभाव में उस समय उतना ही उत्पादन हो पाता था, जितना समाज के भरण - पोषण के लिए आवश्यक था । लोग सामूहिक रूप से उसका इस्तेमाल करते थे । व्यक्तिगत सम्पत्ति का अस्तित्व नहीं था । आगे चलकर उत्पादन की शक्तियों के विस्तार और सम्पत्ति वृद्धि के लिए समुदाय के अन्दर श्रम विभाजन की आवश्यकता हुई । विभिन्न कार्यों के लिए कुशल व्यक्ति चुने जाने लगे । स्वभावत: उत्पादन में वृद्धि हुई । सम्पत्ति कुछ लोगों के पास अधिक होने लगी । सम्पत्तिगत भेद से भूमि का केन्द्रीकरण जुड़ा हुआ है । जो शक्तिशाली है, वे अधिक भूमि पर कब्जा कर लेते हैं, वे दूसरों की भूमि छीन लेते हैं । धीरे - धीरे अधिक भूसम्पत्तिवाले कुटुम्बों का एक अभिजात वर्ग बन जाता है । ऐसे लोगों ने दूसरों के श्रम का शोषण करना आरंभ किया । वस्तुत: अतिरिक्त उत्पाद ने, जो धीरे धीरे निजी संपत्ति बनता गया, समाज को वर्गों में बंटने का आर्थिक आधार प्रस्तुत कर दिया । एस.ए.डांगे ने लिखा है --"व्यक्तिगत उत्पादन और निमंत्रण के द्वारा सम्पत्ति की विषमता उत्पन्न होती है । इसका अर्थ यह होता है कि साम्य संघ दो वर्गों को जन्म देता है । एक वर्ग धनी और दूसरा वर्ग निर्धन एक शोषक और दूसरा शोषित होता है, जल्द ही ये दो वर्ग स्वामी और दास वर्णों में परिणत हो जाते हैं ।"[1]

---

1. श्रीपाद अमृत डांगे - भारत आदिम साम्यवाद से दास व्यवस्था तक का इतिहास - पृ. 177

हालांकि सम्पत्तिगत भेद, जो वर्ग विभाजन का आधार है, गण-व्यवस्था वाले समाज में ही विकसित हो गये थे, किन्तु वर्ग का उदय स्पष्ट तौर पर नहीं हुआ था । वर्गों का उदय गण-समाज के विघटन के बाद हुआ । एंगेल्स के हवाले से डा० रामविलास शर्मा लिखते हैं कि -"गण व्यवस्था के बाद समाज में तीन वर्ग बने । एक वर्ग जमींदारों का था, दूसरा किसानों का और तीसरा कारीगरों का । सार्वजनिक पदों पर काम करने का अधिकार केवल जमींदारों को था । एंगेल्स ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि यह विभाजन हमेशा अमल में न आता था क्योंकि वर्गों के बीच कोई कानूनी भेद न था । फिर भी, जमींदारों के लिए सार्वजनिक पद सुरक्षित थे और इस वर्ग भेद से पता चलता है कि पुराने गण समाज में चुपचाप नये सामाजिक तत्व विकसित हो चुके है । कुछ परिवार सार्वजनिक पद पर अधिकार करते आये थे, अब यह उनका विशेषाधिकार बन गया । ये परिवार अपने धन के कारण शक्तिशाली थे, वे अपनी बिरादरी के बाहर एक विशेषाधिकार वर्ग के रूप में मिलकर एक होने लगे । किसानों और कारीगरों के बीच श्रमविभाजन इतना सुदृढ़ हो गया था कि गण और गोत्रों वाले पुराना विभाजन को वह चुनौती देने लगा था ।"1

एंगेल्स के इस विवरण का डा० शर्मा ने भारतीय समाज के विकास को समझने में इस्तेमाल किया है । भारतीय समाज के संदर्भ में डा० शर्मा लिखते हैं ---"गणसमाज को जिस श्रमविभाजन ने तोड़ा, उसका संबंध खेती और दस्तकारी से है । श्रम विभाजन से किसानों का वर्ग अलग बना और

- -

1. डा० रामविलास शर्मा - भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद - दूसरा खण्ड - पृ. 85

कारीगरों का अलग । अधिकांश यूरोप में 18वीं सदी तक एक ही कुटुम्ब खेती और दस्तकारी दोनों का काम करता था । वहां प्राकृतिक अर्थतंत्र का प्रचलन था । . . . . ऋग्वेद में ऐसे मंत्र मिलते हैं, जिसमें पता चलता है कि एक परिवार के सदस्य कई तरह के काम करते थे । किन्तु, उत्तर वैदिक काल में खेती और दस्तकारी का संयोग टूट रहा था । प्रसिद्ध "पुरूष सूक्त" में जिन वर्णों का उल्लेख है, उनका आधार नया श्रम विभाजन है । . . . . गण व्यवस्था के भीतर कुछ परिवार सार्वजनिक पदों पर अपना विशेषाधिकार कायम कर लेते हैं । भारत में यही लोग राजन्य या क्षत्रिय वर्ण बने । भूमि का केन्द्रीकरण हुआ । तब भू-स्वामियों का अभिजात वर्ग बना, इन्हीं के हाथ में राज्यसत्ता रही । भूमि के केन्द्रीकरण के बिना सामन्ती व्यवस्था में राज्यसत्ता का निर्माण नहीं हो सकता । ऐंगेल्स ने लिखा है कि यूनानी समाज में हर बिरादरी टूटी, उसका एक भाग विशेषाधिकारी हुआ, दूसरा निम्नवर्ग हुआ । यही भारत का द्विज और शूद्रवाला भेद है ।"1

अत: निष्कर्षत: हम कह सकते है कि समाज के कुछ स्वार्थ लोलूप एवं लोभी वर्गों का एकाधिकार आज तक इस व्यवस्था को कायम रखा हुआ है । अत: दलितों के लिए यह आवश्यक है, वे इतिहास से सबक लेते हुए, वर्तमान को दुरूस्त करने की रणनीति स्वयं तय करें ताकि शोषण की जड़ मिट सके ।

- -

1. डा0 रामविलास शर्मा - भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद - दूसरा खंड - पृ. 85-86

2.2. आर्थिक पिछड़ापन - दलित :

कल के शूद्र, आज के दलित है । नाम से स्पष्ट है - उनके अन्दर का आक्रोश अब करवटें लेने लगा है । आज तक भी कुछ विद्वान दलितों की इस नियति के लिए आर्थिक पिछड़ापन को मुख्य कारण मानते हैं । क्योंकि आधुनिक समाज के संचालन में अर्थ का बहुत बड़ा योगदान है । अस्पृश्यता एवं शोषण के विकास के ऐतिहासिक कारणों का हवाला देते हुए बी.टी. रणदिवे लिखते हैं --"स्पष्ट है कि अस्पृश्यता ठोस आर्थिक स्थितियों की उपज है । आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े हुए लोग ही अछूत माने गये । सामाजिक व्यवस्था के मूल में अर्थ ही है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है ।

आर्थिक पिछड़ेपन के कारण दलितों के समस्त राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार छीन लिये गये । उन्हें एक घृणित एवं अभिशाप्त जीवन जीने के लिए बाध्य किया जाता था । आज आधुनिक समाज में देखने को मिलता है, आर्थिक पिछड़ेपन के दूर होने से दलितों में आंशिक आत्मविश्वास का उदय हुआ है । वे अब अपने अधिकारों की बात सोचने लगे । पुख्ता आर्थिक आधार हो सकता है, उन्हें सदियों की अभिशाप्त जीवन से मुक्त दिला सके । अपने एक लेख में डा० धर्मवीर लिखते हैं -- "दलितों की समस्या क्या है ? इस समस्या को तरह तरह के नाम दिये जा सकते है । अबतक ये बाकी समाजके दास बने रहे हैं । हिन्दुओं के धर्मशास्त्रों में

- -

1. बी.टी.रण दिवे - समकालीन भारतीय समाज में वर्णों और जातियों का वर्गों से क्या संबंध है - "कथन" मई - 1982 - पृ. 53

इनका अधिकार दूसरों की सेवा करने के सिवाय कुछ नहीं माना गया है । इनके बाजार नहीं हो सकते और ये बाजार में कोई दुकान नहीं खोल सकते है । बाजार में इनके हाथ से कोई चीज नहीं खरीदेगा । इनके हाथ का पानी पीना भी मना था । ये व्यापार नहीं कर सकते थे और इनके कारोबार इनसे जब चाहे छीन लिये जाने का विधान था । इनको निजी सम्पत्ति रखने का कोई अधिकार नहीं था ।

"अब सरकारी सेवाओं में आरक्षण मिलनेके बाद इन लोगों ने कुछ मुद्रा देखी है । अब कहीं - कहीं ये साग सब्जी बेचने की दुकान भी कर लेते है । भूमि सुधार के बाद थोड़ी कृषि भूमि भी इनके कब्जे में आयी है । लेकिन एक शक्तिशाली सामाजिक वर्ग के रूप में विकसित होने के लिए यह थोड़ी सी मुद्रा पर्याप्त नहीं है । एक जाति के साथ . इन्हें आर्थिक क्षेत्र में स्वावलंबी बनना चाहिए । ऐसा हो कि यदि कभी आगे खराब वक्त आने पर, दोबारा कोई इनका सामाजिक बहिष्कार करने की कोशिश करे, तो बचाव में ये लोग अपनी आर्थिक दुनिया आप हो ।"[1] अतः उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट होता है कि आर्थिक स्वावलंबन दलितों को कुछ हद तक शोषण मुक्त कर सकता है । कुछ विद्वान ऐसे हैं, जो मानते है, सिर्फ आर्थिक पिछड़ेपन के दूर होने से दलितों के दुःख का अंत नहीं होगा । क्योंकि भारत की सामाजिक व्यवस्था बड़ी जटिल और पेंचीदा है ।

- -

1. "हरिजन से दलित" संपादक राज किशोर - डा० धर्मवीर का लेख - पृ० 152

"हाँ, दलितों के शोषण और उत्पीड़न के लिए उनका आर्थिक दृष्टि से अविकसित होना कुछ हद तक कारण हो सकता है । यह पूर्ण सत्य नहीं, यह आंशिक सत्य है । हिन्दी के नवोदित आलोचक जयप्रकाश "कर्दम" लिखते हैं - आर्थिक असमानता ही सब कुछ नहीं है । हाँ यह एक अहम वजह हो सकती है । मगर जो वास्तविक समस्या है वह कहीं हमारी समाज व्यवस्था में छिपा बैठा है । जिसकी ओर हर विद्वान एवं गवेषक आज तक अनदेखी करते आए हैं । तथाकथित दलित आन्दोलन के झण्डा-बरदार आज तक उनके आन्दोलन को सही दिशा देने की जगह बियाबान में भटकने छोड़ दिया है । आलोचक की भाषा में "...दलितों की सारी समस्याओं की मूल, आज के विद्वानों को अर्थ के अभाव में दिखाई देता है ... केवल यहीं तक देख पाना सत्य दृष्टि नहीं है । यह भी दलितों की बहुत बड़ी समस्या है । किन्तु दलितों की असली समस्या है, वर्ण और जाति की समस्या, समाज में उनके सम्मान और स्वीकृति की समस्या - जिसके चलते आज वे जन्म लेते ही तथा कथित उच्च वर्णों की घृणा उपेक्षा और तिरस्कार के पात्र बनते है । यह उपेक्षा बोध और तिरस्कार के पात्र बनते है । यह उपेक्षा बोध उनमें हीनता का भाव पैदा करता है और हीनता भाव उन्हें जीवनभर उबरने नहीं देता है ।"[1] मगर आधुनिक ज्ञान एवं चेतना के प्रकाश से दलितों में जो जागृति आयी है, फलस्वरूप आज के दलितों की यंत्रणा में कुछ हद तक कटौती हुई है । राजकिशोर जी लिखते है --"दलित की यंत्रणा क्या सिर्फ एक सामाजिक प्रश्न है ? युवा कथाकार ओमप्रकाश बाल्मीकि के आत्मवृत्त से यह प्रकट है कि आधुनिक और मध्य वर्गीय जीवन के बदते हुए वृत्त में शामिल होने के बावजूद दलित की जाति उसका

- -

1. युद्धरत आम आदमी - विशेषांक - 34 - 35
जयप्रकाश कर्दम का लेख - पृ. 44

पीछा करती रहती है । लेकिन यह भी सच है आज के ओमप्रकाशों की सन्तानों को अपने परिवेश में ठीक उतनी और उस प्रकार की यंत्रणाएं नहीं सहन करनी पड़ती, जैसी पिता को अपने बचपन में तथा गांव के परिवेश में सहन करनी पडी थी ।........ यदि सभी दलित परिवारों की आय इस हिसाब से बढ़ जाय तब भी उनके प्रति सामाजिक तिरस्कार की भावना क्या ऐसी ही रहेगी ? अर्थ की देवी दूसरे सभी देवी देवताओं को दबोच लेती है ।"¹

निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते है कि यदि दलितों की आर्थिक स्थिति में सुधार हो तो कुछ हद तक इस समस्या पर नियंत्रण पाया जा सकता है ।

2.3. दलित: सांस्कृतिक पराजय :

जहां हमने देखा, दलित के दु:ख का एक कारण समाज में व्याप्त आर्थिक असमानता है, वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक अनग्रसरता भी उनके कारूणिक जीवन का अन्य एक कारण है । सदियों से अशिक्षा, अज्ञान एवं अंधविश्वास के दलदल में सड़ते, इस वर्ग के प्रति उच्चवर्ण की मानसिकता में कोई परिवर्तन नहीं आया । उच्च वर्ण का साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है । हिंदी के लोकप्रिय कवि तुलसीदास जो आज तक लोकमंगल की भावना के कवि कहे जाते रहे है । उनके मन में भी दलितों के प्रति कोई सदाशयता नहीं थी । राम चरित मानस के

- -

1. हरिजन से दलित - सं - राजकिशोर
संपादक की बात - पृ. 7

दो प्रसंग जिसे अधिकांश विद्वान प्रक्षिप्त मानते है । मगर रामचरित मानस का एक अभिन्न गुरू मंत्र मानकर उसकी उपासना करते है । राम चरित मानस की लोकप्रियता के कारण तुलसीदास को लोक नायक तक का दर्जा दिया जाता है । लेकिन इसी रामचरित मानस में तुलसी दास लिखते हैं -

"पूजिए विप्र ज्ञान गुन हीना
शूद्र न गुण मन ज्ञान प्रवीण ।"[1]

आगे रामचरित मानस का हवाला देते हुए जयप्रकाश कर्दम लिखते है --"ब्राह्मण की हर हालत में पूजा होनीचाहिए, चाहे वह ज्ञान और गुणों से हीन क्यों न हो । लेकिन शूद्र चाहे कितना ही गुनवान और ज्ञानवान क्यों न हो उसकी पूजा कदापि नहीं की जानी चाहिए । तुलसीदास के अनुसार मूर्ख, अज्ञानी और पागल होते हुए भी एक ब्राह्मण गुणवान शूद्र की अपेक्षा श्रेष्ठ है । यही नहीं शूद्रों को तो पशु समान माना है और उसकी प्रतारणा का आदेश दिया है - यथा -

ढोल गंवार, शूद्र, पशु, नारी
ये सब ताड़न के अधिकारी ।"[2]

यही हाल गीता का है । गीता व्यासकृत महाभारत का एक भाग है, कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया नैतिक उपदेश है । गीता

---

1. युद्धरत आम आदमी - विशेषांक - 34 - 35 - पृ. 39
2. युद्धरत आम आदमी - विशेषांक - 34-35
   जयप्रकाश कर्दम का लेख - पृ. 40

में निश्चित सिद्धांतों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत - "निष्काम कर्मयोग" अर्थात् बिना फल की कामना किए कर्म करते रहना । इसकी गहराई में जाए तो देखते है कि दलितों के लिए यह सिद्धांत अधिकार विरोधी है । रामचरित मानस में राम और महाभारत में कृष्ण महानायक है । इन दोनों रचनाओं में इन दोनों ही दिव्य नायकों की महिमा गान है । राम को मर्यादा पुरूषोत्तम और कृष्ण को कर्म योगी कहा गया है । इन युगों को श्रेष्ठ युग बताया गया है । लेकिन राम के समय में राम ने खुद अपनी तलवार से शूद्र ऋषि शम्बूक की गर्दन काटी और कृष्ण के काल में कृष्ण के इशारे पर शूद्र धनुर्धर एकलव्य का अंगूठा काटकर उसे धनुष चलाने के अयोग्य बनाया गया । शम्बूक और एकलव्य के विषय में इन ग्रंथों में कहा गया है कि वे अपनी - अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन करते रहे थे । उनके राज्य की उन्नति और शांति के लिए खतरा बताया गया । जबकि इन प्रसंगों से जो सच्चाई उजागर होती है वह यह है कि शम्बूक और एकलव्य का दोष यह था कि उन्होंने स्वयं को शूद्र नहीं मनुष्य माना तथा वेदों में निहित चार्तुवर्ण व्यवस्था को नकार कर दूसरे मनुष्य के समान उद्योग किया । सांस्कृतिक रूप से यह हमला हमेशा के लिए दलितों को अशिक्षा के अंधकार में रहने को विवश किया । हर युग में दलितों का अपना एक शिक्षा दर्शन था, जो लोकायत कहलाता था । इसने अपना नाम वेद के विरूद्ध लोक रखा था । यह वेद पाठ के खिलाफ "लोकवाद" था । संकट में यह इंद्र, वरूण, मारूति आदि देवताओं की स्तुति नहीं करता था, बल्कि प्राकृतिक शक्तियों की वैज्ञानिक खोज कर उन्हें अपने वश में करना चाह रहा था ।

कहा जा सकता है कि लोकायत और निर्गुण संतों का मिलन ठीक से नहीं बैठता, लेकिन यह सच नहीं है । लोकायत कोई जड़ परम्परा नहीं थी । इसे विकसित होना था । वेद भी वेदांत तक विकसित हुआ । वैदिक षडदर्शन में कई दर्शन ईश्वर को नहीं मानते थे यही कहानी लोकायत से संत मत तक की है । बल्कि यह एक ही महानदी है, जो भारत में प्रवाहित हुई है । जहां यह धारा सूखती हुई दिखती है, वहां यह दलितों के हृदय में सरस्वती की तरह भीतर - भीतर बह है । लोकायत के निर्गुण संत मत बनने में कुछ भी अजूबा नहीं है । इस देश में सबसे बड़ा दार्शनिक अजूबा शंकराचार्य के उस वेदांत में था, जिसमें एक जाल से अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की जा रही थी और दूसरे जाल से अस्पृश्यता का व्यवहार किया जा रहा था । निष्कर्ष के तौर पर दलितों के सांस्कृतिक पराजय को भी उनके शोषण का एक महत्वपूर्ण कारण मान सकते है ।

24. निष्कर्ष :

आज दलित एक वर्ग बनकर उभर रहा है । वर्ण विरोधी संघर्ष अंतत: वर्ग संघर्ष होता है । जाति उन्मूलन के बाद भी वर्ग रहता है । [illegible] । अत: केवल सुधारवादी नीतियों से दलित के दु:ख दर्द का अंत नहीं हो सकता है । इसलिए वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है । राजकिशोर जी लिखते है --" गांधी जी ने इनके लिए हरिजन शब्द का प्रयोग किया था । कल का हरिजन आज अपने को दलित ही कहने लगे है । यह एक दृष्टि स अच्छी बात है, एक दृष्टि से चिंताजनक भी । अच्छी बात इसलिए कि यह भारत के अछूत वर्ग

को एक पृथक और पीड़ित सामाजिक राजनीतिक वर्ग के रूप में मान्यता दी है, जो तथ्य सम्मत है ...... । आज सवर्ण समाज ... हरिजन संज्ञा छोड़ रहा है और अनुसूचित जातियों को दलित मानने को विवश है, क्योंकि इन जातियों के सदस्य अपने को दलित के रूप में पेश कर रहे हैं । हर वर्ग को अपना नाम चुनने का हक है । दलित एक सटीक शब्द है । क्योंकि यह न केवल उनकी पूरी स्थिति का निचोड़ है बल्कि संघर्ष की भी प्रेरणा देता है ।"[1]

---

1. हरिजन से दलित - सं. - राजकिशोर - संपादक की बात -पृ. 5

द्वितीय अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर परिवेश और दलित

2.1 भूमिका

2.2 राजनैतिक परिवेश

- 2.2.1 राजसत्ता का वर्गस्वरूप
- 2.2.2 दलित हित की उपेक्षा
- 2.2.3 दलित और आरक्षण
- 2.2.4 दलित नेतृत्व की मिलीभगत
- 2.2.5 व्यवस्था के खिलाफ आवाज
- 2.2.6 मूल्यहीनता का प्रसार एवं भ्रष्टाचार
- 2.2.7 मोहभंग की स्थिति
- 2.2.8 किसान संघर्ष
- 2.2.9 दलित आन्दोलन की सीमायें
  - 2.2.9.1. वैचारिक मतभेद
  - 2.2.9.2 बहुसंगठनवाद
  - 2.2.9.3 हीनता की भावना
  - 2.2.9.4 त्याग की भावना
  - 2.2.4.5 योग्य नेता का अभाव
- 2.2.10 प्रजातंत्र की घटती अर्थवत्ता
- 2.2.11 सामाजिक न्याय का अधूरा प्रश्न

2.3 आदिवासियों की स्थिति

2.4 सामाजिक परिवेश

2.4.1 संक्रमण

2.4.2 नागरीबोध

2.4.3 ग्राम्य बोध

2.4.4 पश्चिम का प्रभाव

2.4.5 अस्तित्व बोध खोखलापन और रिक्तता

2.4.6 आधुनिक समाज की पाखण्डता और दलित उत्पीड़न

2.4.7 आदिवासी बदलते सामाजिक स्थिति एवं शोषण

2.5 आर्थिक परिवेश

2.5.1 बढ़ती हुई फासला

2.5.2 औद्योगीकरण

2.5.3 आर्थिक उदारीकरण की व्यवस्था

2.5.4 आर्थिक परिवेश एवं दलित

2.5.5 आदिवासी

2.6 सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिवेश

द्वितीय - अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर परिवेश और दलित

1. भूमिका :

साहित्य और मानवीय चेतना का सम्बन्ध अटूट है । मनुष्य हमेशा देश और काल के अनुरूप बदलता रहा है । इसी बदले हुए मानवीय चेतना को उजागर करने का प्रयत्न हर लेखक करता है । वह अपने चारों ओर के परिवेश और उसके विभिन्न आयामों से अपने को असम्पृक्त नहीं कर पाता है । आज का लेखक भी इसका अपवाद नहीं है ।

लेखक के लिए परिवेश एक व्यक्तिगत वस्तु है, क्योंकि परिवेश में न जाने क्या - क्या बिखरा पड़ा रहता है। एक लेखक परिवेश के सभी बारीक और स्थूल आयामों को तो रूपायित नहीं कर सकता है । परिवेश की उसी दिशा से उसका सम्बन्ध होता है, जिसने लेखक की चेतना को स्पर्श किया हो । परिवेश का वह रूप जिसने लेखक की चेतना को

झकझोरा है, वह उसे ग्रहण कर लेता है । मसलन दलित कथाकार के लिए दलित जीवन की पीड़ा, उसे लिखने की ओर प्रेरित करता है । इस प्रकार हर लेखक का अपना परिवेश हो जाता है । वह दूसरे लेखक से मिल भी सकता है, भिन्न भी हो सकता है ।

अपने समकालीन परिवेश से हर युग का रचनाकार प्रभावित होता रहा है, किन्तु आज के युग और प्राचीन युग के परिवेश में काफी अंतर दिखलाई देता है । पहले की दुनिया परिवर्तनशील होते हुए भी छोटी थी । तब का लेखक आस पास के सीमित कटघरे में बन्द रहता था । मगर आज एक एक क्षण में जो परिवर्तन आ रहा है, लेखक उससे असम्पृक्त है । जैनेन्द्र कुमार की भाषा में - "एक बिन्दु पर आकर स्वयं लेखक भी अपना परिवेश हो जाता है ।"[1] प्रतिभाशाली और सचेत कलाकार का परिवेश विस्तृत होता है । कुछ परम्परावादी कलाकार जानबूझकर बदलाव से आंख मूंद लेते है, क्योंकि उनकी चेतना सीमित होती है । इसलिए उनका परिवेश भी कठघरे में गिरफ्त होता है । "किन्तु इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि आज अधिकांश लेखक अपने परिवेश से दबाव की अनुभूति का एहसास करता है । उसके परिवेश के उस भाग से, जिसने उसकी चेतना के तार को स्पर्श किया है । उसके अनुसार उसकी रचना-शीलता उत्तेजित और निर्मित होती है । इस प्रकार हर अच्छा लेखक अपना परिवेश बन जाता है ।"[2]

अतः हमें स्वातंत्र्योत्तर परिवेश के अध्ययन के लिए अद्यतन सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक स्थितियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करना होगा । परिवेश का यह रूप कहीं तेवर के साथ, कहीं

- -

1. समय सीमा और सिद्धांत - जैनेन्द्र कुमार - पृ. 7
2. हिंदी उपन्यासों में ग्राम - रीता वर्मा - पृ. 44

ठंडे रूप में और कहीं विस्फोट होकर हिंदी साहित्य में उपलब्ध है । इस अध्याय में हमने दलित जीवन को केन्द्र में रखते हुए, स्वातंत्र्योत्तर परिवेश का आकलन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । आज आजादी के पचास साल बाद दलितों की सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक स्थितियों का विवेचन इस अध्ययन का मुख्य ध्येय है ।

2. राजनैतिक परिवेश :

बहुत संघर्ष, त्याग और छटपटाहट के बाद परतंत्रता की बेड़ी कटी, 15 अगस्त सन् 1947 को भारत आजाद हुआ । इसके ठीक तीन वर्ष बाद स्वतंत्र भारतका संविधान बना । हम गणतंत्रात्मक शासन की जनता हो गये । कहा गया कि हमारे हाथ प्रशासन का सूत्र है । सिद्धांत रूप में यह सही भी है, किन्तु भारत की जनता पश्चिम की तुलना में अब भी सैकड़ों वर्ष पीछे हैं। उसकी मानसिकता में वह परिपक्वता उपलब्ध नहीं है, जिसकी लोकतंत्र में अपेक्षा होती है । वह अर्धमृत है, उसमें सब कुछ सहने की आदत पड़ चुकी है । सामाजिक ढांचे में कोई तबदीली नहीं आई । लोगों के विचार एवं मनोवृत्ति में कोई बदलाव नहीं आया । इस तथ्य का संकेत डा० अम्बेडकर, डा० राम मनोहर लोहिया एवं जगजीवन राम हमेशा करते रहे है ।

आज हम आजादी की स्वर्ण जयंती मना रहे है । मगर इस आजादी का स्वरूप किसी के सामने स्पष्ट नहीं है । स्वतंत्रता आज तक हमारे लिए एक पहेली बनी हुई है । डा० रमेश उपाध्याय की भाषा में - "आजादी के दो रूप होते है, एक तो किसी चीज से आजादी जैसे औपनिवेशिक गुलामी से आजाद होना, दूसरे किसी चीज

के लिए आजाद होना, जैसे व्यक्ति और समाज के विकास के लिए आजाद होना । पहला रूप नकारात्मक है दूसरा रूप सकारात्मक है । हम शायद अपनी आजादी को अभी तक पहले रूप में समझते है । उसे दूसरे रूप में समझने और उसका उचित उपयोग करने की कोशिश अभी बाकी है ।"[1]

2.1. राजसत्ता का वर्ग स्वरूप :

15 अगस्त, 1947 को मिली आजादी वास्तव में आज के उन करोड़ों भूखी, नंगी जनता की आजादी नहीं थी । वास्तव में इसे एक तरह से पुरानी सामंती व्यवस्था का कायाकल्प माना गया है । राजसत्ता में काबिज वर्ग और कोई नहीं बल्कि यहां के भूस्वामी एवं पूंजीपति ही थे । कुंवरपालसिंह की भाषा में --"इस नये उभरे हुए वर्ग में भू-स्वामियों और पूंजीपति दोनों के सम्मिलित गुण दृष्टि-गोचर होते हैं । जिसमें पुराने जमींदार की कुटिलता और पूंजीपति वर्ग की चतुराई एवं निर्ममता का सम्मिश्रण है । अपना काम निकालने में सिद्धहस्त यह वर्ग देश की राजनीति और सम-सामाजिक जीवन को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर रहा है ।"[2]

भारत में स्वतंत्रता का अर्थ परिभाषित होने से पहले ही, इन शोषक वर्ग ने इसका गला घोंट दिया । अपने वर्ग हित एवं स्वार्थ से

- -

1. जलेस खबर - अगस्त - 1996 अंक - 2-3-रमेश उपाध्याय का लेख पृ-1

2. हिंदी उपन्यास सामाजिक चेतना - कुंवरपाल सिंह - पृ. 155

प्रेरित होकर ये लोग आम जनता की दुःख दुर्दशा को भुला दिए ।

धनंजय वर्मा ने अपने एकलेख में लिखा -- "भारत के संदर्भ में स्वतंत्रता पूरी तरह परिभाषित हो, इसके पहले ही उसका अवमूल्यन हो गया । जिसे हम भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन कहते हैं, उसका मकसद, सिर्फ राजनीतिक स्वतंत्रता था । राजनीतिक स्वतंत्रता मिली और हमें स्वर्ग मिल गया . . . . . उसके मिलते ही चौतरफा मोहभंग का जो सिलसिला शुरू हुआ, उसने साबित कर दिया कि वह सिर्फ सत्ता का हस्तांतरण था, उसमें विदेशी पूंजीपति के बदले देशी पूंजीपति बैठ गया और विलायती गोरी नौकरशाह की जगह देशी, काली नौकरशाह ने ले ली ।"[1]

इस बात की पुष्टि हमें पं. जवाहर लाल नेहरू के उस कथन से भी मिलती है, जब उन्होंने देश की आजादी का लक्ष्य स्पष्ट किया था । "हम केवल राजनीतिक आजादी प्राप्त कर सके है सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता के लिए अभी संघर्ष की आवश्यकता है ।"[2] अर्थात् उन पूंजीपति वर्गों से सत्ता को छीननेके लिए और एक स्वतंत्रता संग्राम की आवश्यकता थी, जो आज तक नहीं हो पाया है । आज भी राजसत्ता का वर्ग स्वरूप कुछ समृद्ध लोग ही निर्धारित करते है ।

- -

1. कल्पना अंक - 3 मार्च - 1965 - धनंजय वर्मा का लेख

2. नेहरू के भाषणों का संग्रह - 1943-53 - प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय

2·2· दलित हित की उपेक्षा :

समाज के शोषित, उत्पीडित वर्ग के लोगों को दलित कहा जाता है । जब हमने स्पष्ट किया कि सत्ता आज समाज के शोषक वर्गों के हाथ में है, तो निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि दलितों के हित की उपेक्षा की जायेगी । आज की राजनैतिक स्थिति की यह सबसे बड़ी सच्चाई है, चाहे कानूनी तौर पर कितने ही सुधार क्यों न हो यथार्थ के जीवन में दलित आज भी शोषित एवं उपेक्षित जीवन जीने के लिए अभिशाप्त है । इस स्थिति से आज के जागरूक दलित युवा पीढ़ी वाक़िफ हो चुकी है और आज वहअपना अधिकार हासिल करने के लिए मार्ग प्रस्तुत करना प्रारंभ कर दिया है । डा0 रामवीर सिंह का कहना है -"दूसरी ओर देश के दलित वर्ग, जिसने सदियों से कठोर यातनाओं का जीवन दिया है, आज वहअपना अधिकार स्वयं हासिल करने के लिए कटिबद्ध है । यहमाना कि स्वतंत्रता अब भी बड़े लोगों की चौपालों पर पैर पसारे बैठे हैं, बड़े बड़े बाबू लोग ही उसके भागीदार हुए, लेकिन दलित कहलाने वाले गरीब, मजदूर देहाती अनपढ़ देख- सुनकर स्वतंत्रता का अर्थ समझने लगे हैं । इस तरह दलितों में राजनीतिक चेतना की लहर धीरे - धीरे फैल रही है, एक दिन वे अपने अधिकार को हासिल करके रहेंगे । प्रत्येक दलित की संतान आज अपने सपने को साकार करने के लिए अधिकार का प्रयोग कर रहे हैं ।"[1]

1· नागार्जुन के उपन्यास में सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष -पृ·81
डा0 रामवीर सिंह

2.3. दलित और आरक्षण :

भारत को स्वतंत्रता मिली । स्वतंत्रता प्राप्ति एवं विशुद्ध भारतीय राष्ट्रीय सरकार का निर्माण होने के पश्चात डा० अम्बेडकर जैसे मनीषी विचारकों का विचार एवं सरकार की नीति इस प्रकार हो गई कि भारत की उन्नति के लिए अभिशाप के रूप में विद्यमान जातिप्रथा को समूल नष्ट किया जाए । मगर व्यवहारिक तौर पर यह इतना सरल काम नहीं था । अत: जो समाज के शोषित एवं उत्पीडित वर्ग के लोग है, उनके हित की रक्षा हेतु, भारतीय संविधान के अन्दर परिगणित जातियों के लिए विशिष्ट नियमों का निर्धारण किया गया है । सन 1955 में भारतीय लोकसभा में "अनटचबिल्टी एक्ट" पास किया गया, जिसके अनुसार निम्न जातियों को मंदिरों, कुओं, विद्यालयों, दुकानों, जलपान गृह एवं सिनेमा गृह में प्रवेश निषिद्ध करना, अथवा अन्य किसी प्रकार के भेदभाव बरतने वालों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई । केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकार की नौकरियों में जाने के लिए आयोजित होने वाले प्रतियोगिता परीक्षाओं में निम्न जातियों के दलित वर्ग के विद्यालयों के लिए छात्रवृत्ति भी दी जाती है । जहां तक सिद्धांत का प्रश्न है यह सही है, मगर व्यवहारिक दृष्टि से इसकी कई कमियाँ आज परिलक्षित होने लगी है ।

डा० आनन्द भास्कर की भाषा में -"सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक पिछड़ेपन के आधार पर आरक्षण का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण बन गया है और हाल के वर्षों में राजनीतिक क्षेत्रों में इसकी चर्चा है ।

अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जन जातियों के अलावा, विभिन्न पिछड़े वर्ग तथा समूहों के लिए आरक्षण की व्यवस्था किये जाने के लिए बहुत दबाव डाला जा रहा है ।"[1]

वास्तव में संविधान में उल्लिखित सभी सुविधायें दलितों को उपलब्ध नहीं है । कुछ जगहों पर आज भी कानून को ताक पर रखके दलितों के साथ भेदभाव पूर्ण रवैया अपनाया जा रहा है । दलितों को दी जा रही आरक्षण,जाति के आधार पर है, इसलिए आज दलितों में भी कुछ ऐसी जातियाँ उभर रही है जो आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से सम्पन्न होते हुए भी, आरक्षण का लाभ उठा रही है । हाल ही में दलितों में एक समुदाय ने आरक्षण का वर्गीकरण करने की मांग पर बगावत पर उतर आये है । डा० राजकिशोर का कहना है - "आज दलितों में भी कुछ मलाईदार वर्ग उभर चुकी है, जो आरक्षण की सारी सुविधायें, हड़प ले रही है, वास्तव में जरूरत मन्द समुदाय आज भी अनग्रसर और पिछड़ा है ।"[2]

2.4. दलित नेतृत्व की मिलिभगत :

राजनीति आज स्वार्थी नेताओं का अखाड़ा बन गया है । स्वार्थपरता एवं अवसर-वादिता ने राजनेताओं को कहीं का नहीं रखा है । आजकल के राजनेताओं का मुख्य लक्ष्य है चुनाव जीतना और ये

---

1. हिंदी साहित्य में दलित चेतना - आनन्द भास्कर - पृ. 35

2. "जनसत्ता" राजकिशोर का लेख शीर्षक - आरक्षण का प्रश्न 26 जुलाई, 1996

किसी भी हाल में चुनाव जीतना चाहते है । हर विचार एवं सिद्धांत को ताक पर रखके ये अपना उल्लू सीधा करते है । स्वतंत्रता के बाद भी संविधान में, राजनीति में भी दलितों को सहभागी बनाने के लिए, संसद एवं विधान सभा की सीटों पर आरक्षण की व्यवस्था की गयी । लोगों को लगा दलित वर्ग से चुने जानेवाला नेता दलितों के हित की चिंता करेगा । मगर ऐसा कुछ हुआ नहीं । आज दलित नेतृत्व वर्ग भी स्वार्थी, शोषक वर्ग के हाथों कठपुतली बन गया है । क्योंकि, आज के चुनाव में धन की जरूरत होती है, और इस धन की मांग को पूरा करने वाले पूंजीपति वर्ग के लोग ही है । अतः यह निश्चित है, जो व्यक्ति पूंजीपतियों के धन के बल पर चुनाव जीतता है, वह शोषक वर्ग के स्वार्थ को अनदेखा नहीं कर सकता है । चुनाव जीतने के बाद वह अपने वर्ग को भुला बैठता है ।

"सदियों से शोषित पीड़ित वर्ग को दी जाने वाली रियायत के बल संसद में पहुंचने वाला नेता अपने वर्ग को भुला बैठता है । शहरी जीवन की ताम, झाम और शान शौकत उसके अन्दर की स्वार्थ एवं अवसरवादिता के गुण को जगा देती है । वह पांच साल तक दलितों के दुःख दर्द से आंख मूंद लेता है । पांच साल के बाद जब चुनाव आता है, उसकी नींद खुलती है । फिर एक बार वह दलितों की दुःख दुर्दशा पर मगरमच्छ की आंसू बहना शुरू कर देता है ।"[1]

---

1. आठवें दशक के उपन्यास - सुमित शेखर - पृ. 114

आज दलितों में चेतना की लहरें करवटें ले रही है । वह जान चुका है, उसके अधिकार के साथ हर नेता खिलवाड़ कर रहा है । मगर वह कर भी क्या सकता है ? क्योंकि राजनीति ऐसी काजल की कोठरी है, वहाँ जो जाता है, काला होकर ही निकलता है । अतः चाहिए कि डा० अम्बेडकर जैसे विचार, बुद्धि सम्पन्न आदर्शवादी नेता, समाज में जन्म ले, जो अपनी अधूरी लड़ाई को पूरा कर सके । इसलिए दलित युवको को डा० अम्बेडकर से प्रेरणा लेकर अपने आप को तैयार करना होगा ।

2.5. व्यवस्था के खिलाफ आवाज :

स्वातंत्र्योत्तर राजनीतिक व्यवस्था जनता का, विशेषकर दलितों का अधिक से अधिक शोषण कर रही है । भारतीय जनता का शोषित होना कोई नयी बात नहीं है । पहले विदेशियों के द्वारा वह शोषित होती रही, अब अपने ही लोग उसका शोषण कर रहे हैं । फर्क यह है कि पुराना रूप अब बदल गया है । यहाँ तक कि राजनीति के कारण समाज का प्रत्येक वर्ग आज दुखी है, त्रस्त है, परेशान है ।

इस राजनीतिक अव्यवस्था के प्रति अन्दर ही अन्दर आक्रोश है । फिर विरोध क्यों नहीं होता ? विरोध होता है, लेकिन आश्चर्य यह है कि जो विरोध का नेतृत्व करते है, वे भी उसी ढाँचे के बने हुए है, तो दोष किसको दे ? आज की व्यवस्था के विरोध में क्रांति की बात भी उठती रही है । लेकिन यह क्रांति केवल मंचों पर या शब्दों तक

सीमित रहती है । जहाँ यह विरोध आक्रामक होता है, वहाँ उसे निर्ममता-पूर्वक कुचल दिया जाता है । हाल ही में हो रहे कई वारदातें इसके जीवन्त मिसाल है । बिहार एवं उत्तर प्रदेश में दलितों पर हो रही अत्याचार की घटनायें, इस व्यवस्था के खिलाफ आवाज के कारण हो रहे है । आज भी पूँजीपति, इज्जतदार वर्ग अपने प्रभुसत्ता को बनाये रखना चाहते हैं । वे किसी भी हाल में समाज के शोषित वर्ग के लोगों को उनका हक देना नहीं चाहते हैं । हर तरह से इस वर्ग के लोगों को दबाना ये अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते है । मगर ये वर्ग जागरूक हो चुका है । पूंजीपति एवं भूस्वामियों की हिंसक हमलों से वह अब शांत होने वाला नहीं है । अब इन शोषित वर्गों के हाथ में भी हिंसा के उपकरण आ चुके है । इन हिंसक वारदातों से कई ग्रामों में जान-माल की क्षति हो रही है । प्रतिशोध एवं बदले की भावना से प्रेरित होकर दोनों पक्ष एक दूसरे की जान लेने पर आमदा है । कई जानें, जा रही हैं । बिहार में, उत्तर प्रदेश के कई ग्रामों में "दलित सेना" का गठन किया गया है । ये लोग दलितों के हित की रक्षा के लिए संघर्षरत है । मगर यह रास्ता दोनों पक्ष के विकास की गति को अवरूद्ध कर देता है । डा० राजकिशोर का कहना है --"विश्वभर में आज यह प्रमाणित हो चुका है कि हिंसा के मार्ग पर आने वाला परिवर्तन, क्षणिक राहत क्यों न दे, किन्तु यह परिवर्तन और एक हिंसक संघर्ष को पेट में पालता रहता है ।"[1] अत: व्यवस्था के प्रति उत्पन्न आक्रोश को हिंसक मार्ग पर न चलकर, शांति एवं सद्भावना के बल पर हल किया जा सकता है ।

- -

1. "जनसत्ता" -"दलित आक्रोश परिणति" शीर्षक लेखक -
मार्च, 22 - 1996 - राजकिशोर

इसलिए चाहिए कि ज्यादा से ज्यादा लोगों में शिक्षा के प्रकाश को फैलाया जाय । डा० अम्बेडकर ने भी लोगों को शिक्षित करने पर जोर दिया था । लोगों के शिक्षित होने पर वे अपने अधिकार के प्रति जागरूक हो उठते हैं ।

2.6. मूल्यहीनता का प्रसार एवं भ्रष्टाचार :

जिन मूल्यों एवं सिद्धांतों के लिए स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी गयी, स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात ये तमाम मूल्य ढहने लगे । राजनीति में भ्रष्टाचार एवं भाई भतीजावाद का बोलबाला होने लगा । इसका मुख्य कारण सत्ता की बागडोर गलत लोगों के हाथों आ जाना था । डा० सुवास कुमार लिखते है --"भारतीय विकास गति की यह विडम्बना को फलांगते हुए समाजवाद तक पहुंचने के लिए व्यवहारिक कदम नहीं उठाकर, प्रगति का सारा दायित्व जानबूझकर स्वार्थी एकाधिकारी अर्थतंत्र पर छोड़ दिया गया, फलत: इस पूंजीवाद विकास के भ्रष्टाचार तथा और भी बहुतेरी विकृतियां समाज में भर दी ।"[1]

मूल्यहीनता का दौर स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरंत बाद ही शुरू हो गया था । धीरे धीरे यहसिलसिला बढ़ता गया । आज का नारा है "राजनीति में कुछ भी जायज है" । अन्याय शोषण एवं अत्याचार भी आज राजनीति में जायज है । गांधी जी को इस स्थिति की जानकारी तुरंत स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही मिलने लगी थी । डा० नम्बूदिरिपाद

---

1. आधुनिक हिंदी कविता - डा० सुवास कुमार - पृ. 27

गांधी जी की जीवनी का हवाला देते हुए लिखते है --"गांधी जी उस तब्दीली से काफी दुःखी थे, जो कांग्रेसियों के भीतर आ रही थी। 12 जनवरी, 1948 की शाम अपने प्रार्थना भाषण के दौरान उन्होंने एक घोषणा की कि मैं 13 जनवरी से उपवास रखूंगा। उन्होंने आंध्र प्रदेश के पुराने कांग्रेसी नेता, देशभक्त कोंडा वेंकटैया के एक पत्र का अंश भी पढ़ा, जिसमें कहा गया था --"दूसरी, अनेक राजनैतिक व आर्थिक मुद्दों की बड़ी जटिल समस्याओं से अलहदा एक भारी समस्या उस नैतिक पतन की है, जिसके कांग्रेसजन शिकार हो चुके है। मैं दूसरे, सूबों के बारे में ज्यादा कुछ नहीं कर सकता, मगर मेरे सूबे में हालात बहुत निंदनीय है। राजनैतिक सत्ता के नशे में उनके दिमाग फिर गये है।....कांग्रेस के भीतर जो घड़े हैं, विधायकों एवं पार्षदों में बहुतरे जो धन बटोरने के धंधे में लगे हुए है और मंत्रियों की जो कमजोरियां है वे सब, आम जनता के बीच विद्रोह की भावना को जन्म दे रही है। लोगों ने यह कहना शुरू किया कि अंग्रेजों की हुकूमत इससे कहीं ज्यादा बेहतर थी।"[1]

आज आजादी के पचास साल के बाद यह स्थिति और दयनीय हो चुकी है। चुनाव से लेकर चुने जाने तक हर नगर धांधली एवं घूसरखोरों का बोलबाला है। आज राजनीति में समाज के अपराधिक तत्वों की सक्रिय हिस्सेदारी ने इस स्थिति को और बिगाड़ दिया। धर्म, जाति, प्रांत, भाषा के नाम पर वोट बटोरने में आज का नेता हिचकता नहीं है। दलित वर्ग से आये कई नेता भी इस जाल में फंस गये हैं। अतः

---

1. समकालीन भारत सर्वग्रासी संकट - डा० ई एम.एस.नंबूदिरिपाद -पृ. 4

आजकल दलितों के हित की बात करने वाला नेता, सिर्फ दलित वोट के मद्देनजर यह सब करता है ।

2.7. मोहभंग की स्थिति :

हम को स्वतंत्र हुए पचास नहीं हुए है, चारों तरफ मोहभंग का आलम है । यह मोहभंग आज की नहीं आजादी के तुरंत बाद गांधी जी को भी लगने लगा था । हमें जो सत्ता हासिल हुआ है, उससे इस देश के करोड़ों भूखी, नंगी जनता को कोई लाभ पहुंचनेवाला नहीं है । नंबूदिरिपाद, डि.जे. दिनकर का हवाला देते हुए लिखते है --"गांधी जी का कहना था {26 जनवरी, 1948, मरने से चार दिन पहले} आज का दिन, 26 जनवरी का दिन है । इसका उत्सव मनाना तब तक ठीक था, जब तक हम आजादी के लिए संघर्ष कर रहे थे और आजादी हमने देखी नहीं थी और न उससे बरता था । अब हम इसे बरत चुके है और हमें इससे मोहभंग होता दिखाई देता है । कम से कम मेरा तो मोहभंग हो चुका है, भले ही आप सबका न हो ।"[1] स्वतंत्रता के बाद लोगों को राष्ट्र से कई अपेक्षायें थी । जिस शोषण जाल से मुक्त होने के लिए भारतीय जनता जान पर बाजी लगाके लड़ी थी, फिर वे वह अपने आप को एक नये शोषण के चक्रव्यूह में फंसता पाया । उसकी आशायें मिटने लगी । कुछ विचारकों को इस स्थिति का पता चल चुका था । नंबूदिरिपाद लिखते है --"अविभाजित कम्युनिस्ट पार्टी व दूसरी वामपंथी ताकतों को शुरू से ही पता था कि सत्ता भारत के आवाम के हाथों

---

1. समकालीन भारत सर्वग्रासी संकट - ई.एम.एस.नंबूदिरिपाद पृ. 2

नहीं, बल्कि शोषक वर्ग के एक संकुचित तबके के हाथों में आयी थी । देश के करोड़ों लोग, जिन्होंने इस उम्मीद से स्वतंत्रता के प्रभात का स्वागत किया था कि नये शासक के रूप में गद्दी पर बैठे नेतागण उनकी तमाम समस्याओं को हल कर देंगे, बुरी तरह निराश होने लगे और यह निराशा इतनी जल्दी सामने आ गई, जिसकी कोई कल्पना नहीं कर सकता था ।"1

आज यह मोहभंग हर वर्ग में फैला हुआ है । तुष्टिकरण की राजनीति ने लोगों की वास्तविक समस्या से मुंह फेर लिया है । दलितों को दी जा रही, छोटी-मोटी रियायतें उनकी समस्या के हल के लिए पर्याप्त नहीं है । गरीबी, अशिक्षा एवं शोषण तीनों तत्वों ने मिलकर भारतीय जनता की कमर तोड़ दी है ।

2.8. किसान संघर्ष :

आजादी से पहले भारत में साम्राज्यवादी अंग्रेज, पूंजीपति और जमींदारों के त्रिकोणात्मक शोषण में जनता का निर्वाह हो रहा था । इन्हीं तीनों के मिले जुले आतंक से समाज के अन्दर विविध स्तरों पर, नैतिकता, अनैतिकता को बढ़ावा मिल रहा था । लम्बे संघर्षों और जन-आन्दोलनों के बाद देश आजाद हुआ । साम्राज्यवादी शोषण से मुक्ति मिली, परन्तु पूंजीपति और जमींदार अभी बरकरार है ।

- -

1. समकालीन भारत सर्वग्रासी संकट - ई.एम.एस.नंबूदिरिपाद - पृ. 1

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय नेताओं ने देश के विकास के लिए योजनाबद्ध कार्यक्रम निर्धारित किये, जिसमें कृषि को सर्वोच्च वरीयता दी गई । किसानों और मजदूरों को सामंतो और जमींदारों के शोषण से मुक्त करने के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत जमींदारी उन्मूलन कियागया ।

डा० रामबीर सिंह लिखते है --"परन्तु जमींदारी उन्मूलन के बाद गांवों के अन्दर बड़ी ही विषम परिस्थिति ने जन्म लिया । गांव वैचारिक स्तर पर दो हिस्सों में बंटने लगे । एकओर गांव का जमींदार और उसके कर्मचारी, दूसरी ओर किसान, खेतिहर मजदूर और नीचे दर्जे के लोग जो खेती पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अपनी जीविका चला रहे थे ।"[1]

यद्यपि जमींदारी उन्मूलन इकतरफा नहीं था । एक ओर उनसे मध्यस्थ सत्ता को लिया गया था तो दूसरे उन्हें मुआवजे के रूप में शासन की ओर से लाखों रुपये की धनराशि वार्षिक आय के रूप में बिना हाथ पैर हिलाये ही मिलने लगी । फिर भी उन्हें इतने भर से संतोष नहीं था ।

जमींदारी उन्मूलन के साथ-साथ सरकार ने बड़े भूस्वामियों की खेती की सीमा की भी हदबांदा कर दी थी । फिर भी बहुत सारी जमीन को बंजर, पोखर, बाग, चरागाह आदि घोषित कर उन्होंने उसे अपने कब्जे में ले लिया था । डा० रामवीर सिंह डैनियल कार्नर का हवाला देते हुए लिखते है -"बिहार में जमींदारी उन्मूलन के बाद भी पांच सौ

- -

1. नागार्जुन के उपन्यासों में सामाजिक एवं राजनैतिक संघर्ष - डा० रामवीर सिंह - पृ० 128

या सात सौ ही नहीं एक हजार एकड़ की जमींदारियां साधारणत: है । इस रूप में अब भी जमींदारों के पास काफी जमीन है ।"[1] आए दिन, भूमिहीन दलित लोग जब अपने आसपास की भूमि पर अधिकार की बात करते है, तो भूस्वामियों के साथ इनकी हिंसक झड़पे होती है । भूमिहीन लोगों भूमि देने की सरकारी नीति को ताक पर रखके सरकारी एजेंसियाँ ऐसे भूस्वामियों की रक्षा के लिए पुलिस एवं प्रशासन की हरसंभव सहायता प्रदान करते है । मगर दलितों की चीख-पुकार से किसी के कानों पर जूं तक नहीं रेंगती है ।

2.9. दलित आन्दोलन की सीमायें :

आज दलितों में आयी नवीन चेतना, एकता के अभाव में सही तरह से फल फूल नहीं पा रहा है । हिंदी के नवोदित आलोचक जयप्रकाश कर्दम दलित आन्दोलन की कई सीमायें गिनाये हैं । वह इस प्रकार है :-

1. वैचारिक मतभेद
2. बहुसंगठन वाद
3. हीनता की भावना
4. त्याग की भावना का अभाव
5. योग्य नेता का अभाव

1. वैचारिक मतभेद :

यह सर्वविदित है कि दलितों का शोषण हो रहा है, मगर इससे निपटने के लिए जो रणनीति अख्तियार किये जा रहे है, उसमें तरह तरह

---

1. ऐग्रेरियन प्रास्पेक्ट इन इण्डिया - 1956 - पृ. 34

तरह के वैचारिक मतभेद पनप रहे है । जो आन्दोलन को कमजोर कर रहे है । जयप्रकाश कर्दम जी का कहना है --"आज अम्बेडकरवादी आन्दोलन तीन विचार धारा वाले लोगों के हाथों में है । युवा एवं क्रांतिकारी वर्ग के लोगों में एक उतावलापन सा है, वे शीघ्र - अतिशीघ्र लक्ष्य को पाना चाहते है । लक्ष्य और उनके बीच में बहुत बड़ी दूरी है । दूसरी ओर परम्परावादी लोग अत्यन्त संयमी है, उनमें कोई उतावलापन नहीं, लेकिन जहां तक रचनात्मकता का संबंध है वे भी निष्क्रिय प्राय: है । अपनी अपनी प्रवृत्तियों और विचारों के कारण युवकों तथा परम्परावादियों में कम बनती है ।"[1]

अत: यह आवश्यक है कि दलितोत्थान के लिए किसी मध्यम मार्ग की तलाश की जाय ।

2. बहुसंगठनवाद :

दलित हित के लिए लड़नेवाले कई संगठन है, जिनमें परस्पर संवाद-हीनता के कारण वे एकजुट होकर दलित अधिकार के लिए लड़ नहीं पा रहे है । यदि इन तमाम संगठनों को एकता सूत्र में बांधकर एक लक्ष्य के लिए लड़ने का गुर सिखाया जाय तो ,अपने लक्ष्य तक पहुंचने में इनका मार्ग प्रशस्त हो जायेगा । आज देश भर में अनेकों दलित संगठन है । ये संगठन ग्राम स्तर से क्षेत्र स्तर तक व जिला स्तर से राज्य स्तर तक के है । किंतु इनमें से कोई भी संगठन यथार्थ में राष्ट्र स्तर का नहीं है ।"[2]

- -

1. अम्बेडकरवादी आन्दोलन दशा और दिशा - जयप्रकाश कर्दम-पृ. 32

2. -वही- पृ. 34

3. हीनता की भावना :

अस्पृश्यता की भावना के कारण दलितों में आज भी हीनता की भावना व्याप्त है। "यद्यपि पिछले कुछ दशकों से बाबा साहब अम्बेडकर द्वारा मानवीय शोषण के विरूद्ध संघर्ष प्रणीत किये जाने के उपरान्त शोषित एवं सर्वहारा समाज के विकास कीगति में काफी सुधार हुआ है, किन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि अधिकांश दलितों में अब भी हीनता का भाव बना हुआ है। इस हीनता के कारण ही उनकी शक्ति एवं संघर्ष-क्षमता प्रबल नहीं हो पा रही है।"[1] अतः आज यह अत्यावश्यक है कि दलितों के मन से सबसे पहले इस हीन भावना को दूर किया जाय। इसलिए शिक्षा एक मात्र औजार है।

4. त्याग की भावना का अभाव :

दलित समाज का जागरूक वर्ग यद्यपि आज सामाजिक व आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष कर रहा है, किन्तु अधिकांश लोग अभी भी इस संघर्ष से दूर तथा स्वयं में लिप्त है। समाजोत्थान के प्रति इनकी विशेष रूचि दिखाई नहीं पड़ती। अपितु ये लोग स्वार्थ परताओं से इतना अधिक बंधा गये है कि अपने व्यक्तिगत उत्थान के अतिरिक्त शेष दलित लोगों के उत्थान की बात इनके मस्तिष्क में प्रवेश तक नहीं करती। कुछ लोग इन निरीह एवं पतित लोगों की दुर्गति के प्रति सहानुभूति तो रखते है, किन्तु उनमें त्याग की भावना का सर्वथा अभाव है।"[2]

---

1. अम्बेडकरवादी आन्दोलन दशा और दिशा -जयप्रकाश कर्दम -पृ. 35

2. -वही- पृ. 36

जब तक दलितों में सम्पन्न लोग, अपने गरीब भाई के प्रति सहयोग का हाथ नहीं बढ़ायेंगे, इनमें एकता स्थापित नहीं हो सकती है ।

5. योग्य नेता का अभाव :

आजादी के पचास साल बाद भी दलितों में आज तक कोई ऐसा नेता नहीं आया, जो दलितों के दु:ख दर्द के प्रति सच्ची सहानुभूति रखता हो । अधिकांश स्वार्थी नेता सिर्फ सत्ता के लिए दलितोत्थान की बात करते हैं । जब सत्ता की कुर्सी पर काबिज हो जाते है, तत्काल दलित हित की भावना को मन से निकाल फेंकते हैं ।

"यह एक सर्वविदित सत्य है और इसे सर्वमान्य होना चाहिए कि भारत के मानवीय इतिहास में डा० अम्बेडकर ही ऐसे महापुरूष हुए हैं, जिन्होंने दलित, पीड़ित, उपेक्षित एवं सर्वहारा लोगों के दु:खों को दूर करने के लिए उनका नेतृत्व स्वीकार किया तथा दलितों के नेता के रूप में स्वयं को स्थापित किया । अपने महान एवं ओजस्वी विचारों तथा क्रांतिकारी आह्वान से उन्होंने निरीह, उपेक्षित एवं पद-दलित लोगों को सशक्त वाणी दी ।....... किन्तु डा० अम्बेडकर के पश्चात दलित वर्ग को किसी योग्य एवं प्रभावी नेता का नेतृत्व नहीं मिल सका । नेता के अभाव ने ही समूचे दलित वर्ग को पंगु बना दिया । यद्यपि बाबू जगजीवन राम भी दलित समाज की ही उपज थे तथा देश के स्वतंत्रता आन्दोलन में हिस्सा लेने के साथ निरन्तर तीन दशक से भी अधिक लम्बी अवधि तक भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों का कार्यभार संभालते रहे है, सन् 1977 में जनता शासन में वह देश के उप प्रधान मंत्री भी बने, एक कुशल प्रशासक के रूप में उनकी अनेकों उपलब्धियां रही है, किन्तु दलित समाज

के प्रति उनकी कोई विशेष उपलब्धि नहीं रही ।"[1]

2.10. प्रजातंत्र की घटती अर्थवत्ता :

स्वतंत्रता लाभ के पश्चात भारत को एक लोकतांत्रिक राष्ट्र का दर्जा प्राप्त हुआ । मगर धीरे धीरे यह लोकतंत्र कुछ स्वार्थी शोषक वर्गों को अपने हित साधन का सबसे उत्तम हथियार महसूस होने लगा । समाज में शोषक एवं शोषित, सम्पन्न एवं विपन्न लोगों के बीच खाई बढ़ती गयी । लोगों को निराशा छूने नहीं पाती है, क्योंकि हर पांच साल के बाद उसके सामने एक परिवर्तन का नाटक खेला जाता है । डा० सुवास कुमार रोजा लक्जेमबर्ग का हवाला देते हुए लिखते है --"रोजा लक्जेमबर्ग ने ठीक ही कहा कि प्रजातंत्र वह लंगोटी है, जिससे पूंजीवादी, तानाशाही अपना नंगा शरीर ढके रहती है ।"[2] आज लोगों में बहस शुरू हो गयी है कि कैसे प्रजातंत्र की घटती अर्थवत्ता को व्याख्यायित किया जाय । गिरधर राठी "उदार लोकतंत्र" शीर्षक टिप्पणी में लिखते है -"ईश्वर की तरह लोकतंत्र पर भी कभी बहस खत्म नहीं होगी । अक्सर यह बहस आस्था अनास्था के आवर्त में भटककर उसी के आधार पर तय होकर रह जाती है । ईश्वर की तरह लोकतंत्र भी कुछ लोगों की दृष्टि में एक अस्तित्वहीन, निरर्थक या फिर धोखेबाज शब्द मात्र है ।"[3]

- -

1. अम्बेडकरवादी आन्दोलन - दशा और दिशा - जयप्रकाश कर्दम पृ. 43

2. आधुनिक हिंदी कविता - डा० सुवास कुमार - पृ. 27

3. ऊहापोह - साहित्य, समाज, संस्कृति आज - {164} गिरधर राठी - पृ. 164

2.1.1. सामाजिक न्याय का अधूरा प्रश्न :

भारतीय राजनीति में अस्सी का दशक कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है । यह राजनीति के इतिहास में एक संक्रमण का दौर रहा है । मंडल आयोग की रिपोर्ट में समाज के पिछड़े वर्ग के लोगों को आरक्षण देकर सामाजिक न्याय की स्थापना करना चाहते थे । शीघ्र ही यह एक वोट बटोरने का साधन बन गया । सामाजिक समरसता की जगह, सामाजिक मुठभेड को बढ़ावा मिला । दलित वर्ग में उत्पन्न आशा की किरण पलभर में बिखर गयी । राजेन्द्र यादव लिखते है -"दलित अधिकार की बात क करने वाले मंडलियों एवं प्रतिक्रियावादी कमंडलधारी वर्ग को अपने हित साधने का यह एक सुनहरा मौका था । सामाजिक न्याय का प्रश्न अब पीछे छूट गया है, चुनावी स्पर्धा में एक दूसरे को पछाड़ने की होड़ अब तेज हो गयी है ।"[1] इस तरह यह फिर एक बार साबित कर दिया कि दलितों के हिमायती वास्तव में दलितों का नहीं, अपना उल्ले सीधा करने चाहते है । जब तक यह दौर जारी रहा, लोगों में परस्पर अविश्वास का माहौल पनपने लगा । आज समाज को बाँटने में इन राजनेताओं का बहुत बड़ा हाथ है ।

3. आदिवासियों की स्थिति :

दलितों के अंतर्गत आदिवासियों की गणना की जाती है । दलितों के समान ही ये समाज के उपेक्षित एवं अनादृत वर्ग है । जनसंख्या की दृष्टि से भारत के आदिवासियों को तीन क्षेत्रों में बाँटा जा सकता है ।

---

1. काँटे की बात - राजेन्द्र यादव - पृ. 35

1. उत्तर - पूर्वी क्षेत्र - यह हिमालयी क्षेत्र तथा उत्तर पूर्वी भारत की पहाड़ियों तक फैला हुआ है ।

2. मध्य क्षेत्र - इसमें मध्य भारत के उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, उड़ीसा और राजस्थान है ।

3. दक्षिणी क्षेत्र - इसमें मैसूर, तमिलनाडु, आंध्र, केरल राज्य आते हैं ।

जनजातियां हिन्दू जाति व्यवस्था से परे है । प्रायः इन आदिवासियों के पिछड़ेपन तथा अपनी प्राचीन धार्मिक मान्यताओं के कारण हिन्दू समाज में इन्हें नीच माना जाता है । यहां तक कि हिन्दू समाज में इन्हें शूद्रों से भी नीच माना जाता है, जबकि सच्चाई यह है कि इन आदिम कबीलों में प्राचीनकाल से ही आधुनिक समझे जाने वाली लोकतांत्रिक प्रणाली विद्यमान है । आदिवासी, जन जंगल, पहाड़ तथा रेगिस्तान जैसे अनुर्वर भू-भागों में निवास करते है । यहां खाद्यान्न प्रायः कम होते हैं । निर्धनता इनके लिए अभिशाप है । महाजनी सभ्यता के कारण आदिवासियों को गुलाम बनाकर बाकायदा बाजारों में बेच दिया जाता है ।

पिछड़ेपन का मुख्य लक्षण है - सामाजिक ढांचे की गतिहीनता । यह सामाजिक गतिहीनता ही जनजातीय समाज की चारित्रिक विशेषता है । भूख और भुखमरी के मारे अर्द्धशहरी और शहरी केन्द्रों में भागने तथा आदिवासियों की जन्मभूमि में गैर कबायली मैदानी निवासियों द्वारा हमलों के फलस्वरूप आदिवासियों की भाषा तथा संस्कृति की समानता छिन्न भिन्न हुई है । इसीलिए आदिवासियों में हमें कुछ ऐसे कबीले या इन कबीलों के तबके मिलते है, जिन्होंने अपने परिवेश से भिन्न भाषा एवं संस्कृति अपना ली है और इस प्रकार ये अपने मूल सांस्कृतिक अवशेषों से

अलग हो गए है । इसके बावजूद वे शोषकों की नई जमात के हाथों शोषित उत्पीडित हो रहे हैं ।

भारतीय संविधान के अनुसार अनुसूचित जन जातियों का अभिप्राय है ऐसी जन जातियां या आदिम समुदाय जो अनुच्छेद 342 के अनुसार संवैधानिक प्रयोजनों के लिए अनुसूचित जन जातियां समझी जाती है । इस प्रकार संविधान में अनुसूचित जन जातियों की स्पष्ट परिभाषा नहीं की गई है । अनुच्छेद 342 के अनुसार :-

राष्ट्रपति राज्य के राज्यपाल से परामर्श करने के पश्चात लोक अधिसूचना द्वारा उन आदिम जातियों या आदिम जाति समुदायों के भागों या उनमें से एक का उल्लेख कर सकेगा जिन्हें इस संविधान के प्रयोजनों के लिए उस राज्य के संबंध में अनुसूचित जन जातियां समझा जाएगा ।

इस प्रकार जन जाति वह है जिसका पहले राष्ट्रपति एक अधिसूचना द्वारा उल्लेख करे और उसे अनुसूचित जन जातियों की श्रेणी में शामिल करें या उससे निकाल दें । संविधान की इस व्यवस्था के कारण स्वभावतः बहुत सी असंगतियां पैदा हो गई है । कुछ जन जातियों को एक राज्य में जहां अनुसूचित जन जाति के रूप में अधिसूचित किया गया है तो वही उसे दूसरे राज्य की सूची में शामिल नहीं किया गया है । मध्य प्रदेश, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र में इस प्रकार से छोड़ दी गई जनजातियों को उदाहरण स्वरूप देखा जा सकता है । बावजूद इन सभी विसंगतियों के 1981 के जनगणना के अनुसार सात करोड़ से अधिक अर्थात् भारत की आबादी का सात प्रतिशत आदिवासी था ।

आदिवासियों की स्थिति ज्ञात करने के लिए अनेक सरकारी प्रयासों तथा आंकड़ों के बाहुल्य के बावजूद आदिवासियों से संबद्ध भरोसे के तथ्य प्राप्त करना आसान काम नहीं है । यू॰एन॰ढेबर ने इसी को देखते हुए उदासी भरे हृदय में लिखा था --"मैंने जो कुछ देखा, उस पर मैं विश्वास न कर सका । स्वतंत्रता पश्चात चौबीस वर्ष बीत चुके हैं । लोकप्रिय सरकारें उनके भाग्य की जिम्मेदारियाँ सम्हाले हुए थी । धन की कहीं कोई कमी नहीं थी, मगर मैंने देखा कि कुछ खास बस्तियों के अलावा आदिवासी जीवन अव्यवस्थित बना हुआ था । हमने आंकड़े जमा करने के लिए जमीन आसमान एक कर दिया । बहुत कठिनाई के बाद हम आंकड़े एकत्रित कर सके, लेकिन हमें यह समझते देर नहीं लगी कि ये आंकड़े भी उतने अस्पष्ट थे जितना कि आदिवासियों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान । इन आंकड़ों की विश्वसनीयता पर विश्वास करने के लिए हमारे पास कोई आधार नहीं था ।"[1]

इन शब्दों के लिखे जाने के तीन दशक से अधिक समय गुजर जाने के बाद भी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया । आदिवासी जीवन के विविध क्षेत्रों में की गई प्रगति संबंधी आंकड़े आज भी अनिश्चितता से घिरे है और जो आंकड़े हैं भी, उनमें नौकरशाहों द्वारा तथ्य को बढ़ा-चढ़ा कर पेश किए जाने की संभावना अधिक है ।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में आदिवासियों का उत्थान कैसे संभव है जबकि भारतीय नेतृत्व की आदिवासियों से संबंधित धारणा बैरियर एल्विन से

- -

1॰ वर्धन - "अनसुलझी जन जाति समस्या - पृ॰ 3।

प्रभावित रही है । भारत के प्रथम प्रधान मंत्री जवाहर लाल नेहरू एल्विन महोदय से परम प्रभावित थे । उन्होंने एल्विन के साथ मिलकर एक आदिवासी नीति बनाई जो नेहरू नीति के नाम से प्रभावित हुई । वैरियर एल्विन ने कबीलाई संसार नामक अपनी पुस्तक में पं० नेहरू को यह कहते हुई कोट किया है कि "स्वयं मुझे ही निश्चित रूप से यहमालूम नहीं है कि रहन-सहन का कौन सा ढंग सबसे अधिक अच्छा है । कुछ मामलों में मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि रहन-सहन में जन जातियों का ढंग अधिक अच्छा है । इसलिए स्वयं में उच्चता का भाव लेकर उनके पास जाना या उनसे कुछ करने या न करने को कहना भारी भूल है । उनसे अपनी नकल करवाने में मुझे कोई दलील या तर्क नहीं दिखाई पड़ता । आदिवासी क्षेत्र में स्कूलों, स्वास्थ्य सहायता कार्यों, कुटीर उद्योगों तथा अन्य बातों की अधिक आवश्यकता है, परन्तु यह सदा याद रखना चाहिए कि हम उनके रहन-सहन के ढंग में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहते बल्कि हम तो उन्हें उनका जीवन बिताने में ही समाहता देना चाहते है ।"[1]

"ए॰ फिलसफी फार नेफा" नामक अपनी पुस्तक में एल्विन ने अपनी आदिवासियों संबंधी इस नीति का खुलासा किया है । इस नीति के अनुसार आदिवासी जीवन और संस्कृति के प्रति सम्मान और आदिवासियों के प्रति प्रेम प्रकट किया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप किसी भी प्रकार की उच्चता की भावना की गुंजाइश नहीं रहती है । इसके द्वारा आदिवासियों को आधुनिक जीवन के सर्वोत्तम लाभ प्राप्त होंगे और वह भी इस ढंग से कि उससे उनका परंपरागत जीवन भी नष्ट नहीं होगा और उनमें जो गुण है, उनको और अधिक विकसित किया जाएगा ।

- -

1. वर्धन - अनसुलझी जनजाति समस्या - पृ॰ 40

पं॰ नेहरू और एल्विन महोदय ने यह कहीं नहीं बताया कि जब आदिवासी परिवहन के साधन न होने पर शेष भारतीय समाज से कटे रहेंगे, तो बिजली, पानी, कपड़ा, घर, चिकित्सा, शिक्षा जैसी सुविधाएं आदिवासियों को किस जादुई चमत्कार से प्राप्त कराएंगे। जल्दी ही पं॰ नेहरू और एल्विन की आदिवासियों से संबंधित नीति की धज्जियां उड़ गई। सन 1962में चीन ने नेफा पर हमला कर दिया। नेफा में उन दिनों सड़क द्वारा यातायात न उपलब्ध होने के कारण तथा भारत से कटे नेफा के आदिवासियों द्वारा चीन के समर्थन के कारण भारतीय सेना को भारी पराजय का सामना करना पड़ा। 17 दिसंबर 1962 के हिन्दुस्तान टाइम्स में x के मुखर्जी ने नेहरू की इस असफल नीति के बारे में लिखा था। यदि नेफा और आसाम को प्रभावशाली ढंग से बचाना है और भविष्य के आक्रमणों से भी बचना है तो यहआवश्यकहै कि इसे पूरी तरह से खोल दिया जाए। "29 दिसंबर, 1962 के हिन्दुस्तान टाइम्स के संपादकीय में लिखा गया चीनी हमले के संदर्भ में नेफा व आसाम में आवागमन को तुरंत सुधारना होगा। परिणाम स्वरूप यदि यह क्षेत्र खुल गयया तो पहाडी और मैदानी लोगों के बीच और अधिक संपर्क स्थापित होंगे। चाहे कागज पर कितने ही कानूनी प्रतिबंध लगते रहे, लेकिन भविष्य में ऐसे बंधन नहीं लगने चाहिए जो देश की शेष जनता के साथ आदिवासियों की एक जुट होने में बाधक हो।"[1]

सन् 1961 की जनगणना में पूरे देश में साक्षरता का प्रतिशत 24.0 दिया गया था, परन्तु अनुसूचित जन जातियों के मामले में ये मात्र 8.53 प्रतिशत था। यहां ध्यान देने की बात है कि 1931 की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जनजातियों में साक्षरता का प्रतिशत मात्र 0.7 था।

---

1. वर्धन - 'अनसुलझी जनजाति समस्या'- पृ. 44

हाल में 1981 की जनगणना के अनुसार इनमें साक्षरता का प्रतिशत 10%
से ज्यादा नहीं हो पाया है । पच्चास वर्षों में जबकि आदिवासियों
की शिक्षा के लिए खास कुछ भी नहीं किया गया है । उनकी साक्षरता
प्रतिशत 10% ही जाना भी कम रहस्यमय नहीं है । आंकड़ों की यह
जादूगरी सत्तारूढ़ दल की महती उपलब्धि है ।

आदिवासियों में उत्पन्न राजनैतिक चेतना को बार-बार गुमराह
किया गया है । इसका सबसे ज्वलंत उदाहरण "झारखंड राज्य आन्दोलन"
है । अपने अधिकार के लिए लड़नेवाले इन भोले भाले जन जातियों को
हमारे राजनीतिक नेतृवर्ग ने भटका दिया । दूसरी बात उनके अपने नेताओं
को भ्रष्टाचार होना ।यह सिलसिला कब तक चलता रहेगा ? आज तक
उनके अधिकारों पर कोई भी सहृदय होकर सोचा तक नहीं है ।

4.' सामाजिक परिवेश :

4.'1.' संक्रमण :

स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ वर्षों पूर्व से ही भारतीय समाज में संक्रमण
और रूपान्तरण की प्रक्रिया चल रही थी और स्वराज्य कालमें इस प्रक्रिया
को और भी बढ़ावा मिला । अज्ञेय और सहवर्ती साहित्यकारों ने 1943
के तार सप्तक के माध्यम से भारतीय समाज में निर्मित और परिवर्तित
हो रहे मूल्यों को संकेतित और अन्वेषित करने का प्रयास किया था ।
रूपांतरण की इस प्रक्रिया में हमारे आदर्श परिवार,' धर्म,' समाज और
संस्थाएं बिखर रही थी । लेकिन नवीन मूल्यों की खोज और स्थापना में

अधिकांशतः उखड़ा सा, बिखरा बिखरा सा दिखाई दे रहा था । नेमीचंद्र जैन के शब्दों में,"हमारे समाजमें आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक रूपांतरण की प्रक्रिया एक अजब से असमंजस में गिरफ्तार है, वह या तो इधर से उधर टकराती टकराती रहती है या ठहर ठहर कर नंगे भंवर पैदा करती है । 1947 में राजनैतिक आजादी से जिस व्यापक सामाजिक रूपांतरण की संभावना की आशा होने लगी थी और उसके रास्ते खुलते नजर आये थे, वह बाद के बरसों में राह से भटक गया, जिसने बड़ा गहरा असंतोष एक प्रकार का अपने आप से ही अलगाव और बेगानापन, आम आदमी और खासतौर पर सर्जनशील व्यक्ति के मन में पैदा किया । सामाजिक रूपांतरण की इस भटकाव और साहित्य की मौजूदा अस्थिरता में कोई कार्य कारण सम्बन्ध हो या न हो, पर दोनों की समान्तरण स्थिति की सच्चाई से इन्कार नहीं किया जा सकता है ।"1 पर वास्तव में रूपांतरण की यह प्रक्रिया पूरे विश्व में चल रही है । एक बौद्धिक संक्रान्ति जिसमें हमारे पिछले सारे आदर्श, मान्यताएं टूट - टूट कर अवमूल्यन और असमंजस की ओर आ रही है । इस उथल पुथल में कुछ भी संगठित या स्थापित नहीं हो पा रहा है । बल्कि जो भी नवीन विचार और मान्यताएं सामने आती है, वे भी एक सी नहीं लगती है । एक विशाल रूप में जहां परिवर्तन हो रहा है, वह कुछ भी एकत्रित नहीं बल्कि बिखरा हुआ नजर आ रहा है ।

इस बात को लगभग सभी स्वीकार करते हैं कि स्वतंत्रता के बाद

---

1. नेमिचन्द्र जैन - समकालीन साहित्य की स्थिति : हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग की एक परिचर्चा में पढ़े गए एक निबंध से उद्धृत।

भारत की जनसंख्या में तीव्रगति से वृद्धि हुई है । और आधुनिकता के वकाचौंध में एक बड़ी तादाद गांव छोड़कर नगरों की ओर पलायन कर रही है । इससे गांव तो टूट रहे है किन्तु नगरों और महानगरों की भीड़ आशातीत रूप से बढ़ रही है । बढ़ती हुई भीड में आम आदमी आसानी से खो जाता है, व्यक्ति की व्यक्ति से पहचान तात्कालिक खोखली, आडम्बरयुक्त और लगभग नहीं के बराबर होता है । इससे वह टूट टूट कर आत्मपरीक्षण की भावना में अपने को विवश पाने लगता है । "नगरों का कृत्रिम जीवन तथा विज्ञान और प्रविधि का विकास मनुष्य को यंत्रीकृत करता है । अधिकाधिक यंत्रीकरण ने मनुष्य की मानवीय क्षमता क्षरित होती है । आदमी अजनबी होता हुआ अकेलेपन के वैभव में जीता है । फलस्वरूप निराशा और अवसाद का वातावरण निर्मित होता है । नगरों का जीवन नीरस, आत्मीयताहीन, व्यर्थ के आडम्बरों और मुखौटो से भरा हुआ था । यहां मूर्ख राजनीतिक अपने -अपने टुच्चे दांव पेच से कहीं अधिक सम्मान का अधिकारी था बनिस्वत उस ईमानदार बौद्धिक के जो अपनी पत्नी की साड़ी और दवा के लिए तरसते बीमार बच्चों की मासूम आंखों में झांककर रात भर बिता देता है । चुनाव एजेंट वाले, अड़ियल सूदखोर, उनकी चाटुकारिता करने वाली व्यवस्था के अंग टुकड़ई बौद्धिक, इजारेदार, सरमायेदार, जिस समाज में पनपते है, वहां सब कुछ होता है, सिर्फ न्याय नहीं होता ।"[1]

4.2. नागरी बोध :

नागरी और ग्राम्य जीवन में निश्चित रूप से अन्तर होता है । नगरों की सभ्यता कृत्रिमता के आवरण में ढकी हुई है और फैशन परस्त और

---

1. कल्पना - नवलेखन विशेषांक - पृ. 67

मुखौटों वाली होती है । नागर व्यक्तित्व की अपनी अलग विशेषता होती है । उसकी चाल, व्यवहार, भाषा एवं चरित्र में उलझाव, बनावट, एवं स्वार्थ की बू आती है । वह जीवन को एक गति और क्षण के रूप में देखता है । उसमें आशा और विश्वास की कमी, तथा वर्तमान की अच्छी तरह से जीने की प्रवृत्ति होती है । नगर की समस्यायें ग्राम्य से अलग होती है । अकाल, भूखमरी बेरोजगारी, लूट हत्या और आगजनी तो आज आम बात है । रास्ते चलते आदमी की मौत हो जाती है और नागरिक अपने काम में लगे रहते है । नागरी जीवन में आदमी जल्दी टूटकर बिखरने लगता है, क्योंकि उसके सपने अधूरे रह जाते है । व्यक्ति विवश होकर किसी तरह जिन्दगी के बोझ को ढोये जाता है, लेकिन यहां ऐसे भी लोग होते हैं जो अन्याय, टुच्चागिरी और तिकड़म के द्वारा खुशहाल रहते है । नगर जीवन में ज्यादातर मनुष्य धूर्त और पाखण्ड होते है । इसलिए यहां सदैव अविश्वास वातावरण मंडराने लगता है । यहां व्यक्ति मृगतृष्णा की भांति भागता है लेकिन सब कुछ हासिल नहीं कर पाता ।

4•3• ग्राम्य बोध :

नगरों की तुलना में गांव का जीवन प्रायः स्थिर, खुला और सरल होता है । यहां का आदमी बेईमान, दुधारी मस्तिष्कवाला, टुच्चा, चापलूस और स्वार्थी नहीं होता है । मानवीय गुण यहां क्षरित नहीं है । किन्तु स्वतंत्रता के बाद से भारतीय गांव भी बदलते हुए दिखाई देने लगे । संचार के साधनों के प्रसार और नगरों से संपर्क के कारण गांव में भी नागरी तत्व उजागर होने लगे है । प्रेमचन्द के समय के गांव में और आज के गांव में बहुत अंतर हो गया है । अब आदमी पहले जैसा सरल और सपाट नहीं रहा । नगर का व्यक्ति गांव में रहकर अपना प्रभाव छोड़ जाते है

और गांव का व्यक्ति शहर में रहकर बदल गया है । राष्ट्र में परिवर्तन की दिशाओं और घटनाओं का ज्ञान उसे हो गया है । वह अब पहले से चालाक और छल कपट जानने लगा है । सन् 1950 के बाद से बहुत सारे रचनाकारों का अचानक गांव से मोह बढ़ा । ढेर सारी रचनायें गांवों के कूलों, कछारों और वहां के सामाजिक, राजनैतिक परिवर्तन तथा मनुष्य के नये तेवर को उजागर करने के लिए प्रस्तुत हुई है । रेणु, नागार्जुन, श्रीलाल शुक्ल, सुरेन्द्रपाल, मार्कण्डेय, राजेन्द्र अवस्था, उदय शंकर भट्ट, रामदरश मिश्र, देवेन्द्र सत्यार्थी और तृषित आदि कथाकारों की रचनायें इसका साक्ष्य प्रस्तुत करती है ।

4.4.पश्चिम का प्रभाव :

स्वतंत्रता के बाद भारत की सामाजिक स्थिति में पश्चिमी सभ्यता ने बहुत कुछ प्रभाव उत्पन्न किया । पश्चिम के वर्जनाहीन समाज के अनुरूप भारत की सामाजिक स्थिति में भी वर्जनायें और बन्धन टूट रहे हैं । परम्परा और रूढि में आबद्ध नारी का रूप आज बदल चुका है, पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव के कारण वह नारी के लिए निरन्तर संघर्ष कर रही है । समाज के प्रत्येक क्षेत्र में चाहे राजनीतिक हो या धर्म, साहित्य हो या कला - सभी में समान रूप से हिस्सा लेती और उनसे उपलब्धि आयात करने के कारण आज पारिवारिक रिश्ते टूट रहे है, धर्म, समाज एवं नैतिकता के मानदण्ड तेजी से विघटित होकर नया रूप प्राप्त कर रहे है । सेक्स का आदर्श मान बदलकर एक आवश्यकता की तरह कल्पित किया जाने लगा । एक तरह से इस संक्रमण के बीच, भारतीय संस्कृति और समाज की जड़े हिल चुकी है । युग युग से संस्कृतियों को

बचानेवाली भारतीय संस्कृति पश्चिम को आत्मसात न कर सकी । पश्चिमी संस्कृति को आधुनिकता की अवधारणा और फैशन का स्वर दे दिया गया ।

4.5 अस्तित्वबोध, खोखलापन और रिक्तता :

द्वितीय महायुद्ध के बाद यूरोप के देशों में अजीब उदासी, बेगानापन का वातावरण सर्जित हुआ । विशाल आकार में पूरा यूरोप एक बेकारी और भूख की स्थिति से गुज़र रहा था, यहाँ तक कि मनुष्य अपने अस्तित्व के प्रति भी भयभीत और शंकित होने लगा था । अनैतिक आचरण और चोर बाजारी निरन्तर बढ़ती गयी थी । इससे समाज का एक वर्ग लगातार नीचे गिरता गया । उसने अनुभव किया कि आदमी केवल खाली पुतला ऊपरी खोल लटकाए जी रहा है । लेकिन सुविधाओं और भौतिक सुखों को प्राप्त करने की, रिक्त और खोखलेपन की यह अनुभूति आज दूर नहीं हुई है । लगभग यही स्थिति भारतीय परिवेश में लगातार सूखे और युद्धों के कारण उत्पन्न हुई है । सात्र और कामू, काफ्का और व्यक्ति विल्सन का सम्पूर्ण दर्शन इस अस्तित्वहीनता की कहानी को रूपायित करता है । सम-सामयिक हिंदी में भी उत्तर आधुनिकता का प्रभाव विकास के कारण आज का जीवन इतना सामूहीकृत और यांत्रिक हो गया है कि उसमें हम अपने अस्तित्व को खोया हुआ पाते है । यह अनुभव ही नहीं हो पाता है कि हमने कुछ भी किया है या हमारी अनुभूतियों एवं विचारों की भी कुछ उपलब्धि है । "आज के वैज्ञानिक तथा प्राविधिक विकास ने १९वीं शती के आरंभ में होने वाले अनेक संस्थाओं, व्यवस्थाओं

और सिद्धांतों तथा मूल्यगत स्थितियों का अनुपात और सन्तुलन भी कर दिया है । परिणाम है कि नये विकास की सारी संभावनाएं ऐसी सामूहीकृत और यांत्रिक हो गई है कि इस स्थिति में व्यक्तिगत दायित्व बोध असंगत जान पड़ता है ।"¹

आधुनिक मानव की आंतरिक समस्याओं और उनसे उत्पन्न व्यक्तित्व संकट पर विचार करने वाले इससे मानव व्यक्ति की अखण्डता को खतरा मानने वाले मनोवैज्ञानिकों और मनोचिकित्सकों की पहली स्थापना है कि बीसवी सदी के मध्य देश के व्यक्ति की प्रमुख समस्या खोखलापन और रिक्तता ह की है । रिक्तता का अर्थ केवल इतना नहीं है कि आज अनेक लोग यह नहीं समझ पाते कि वे चाहते क्या है, बल्कि यह भी अक्सर उन्हें अपनी अनुभूति और संवेदना की स्पष्ट धारणा भी नहीं होती । आज का व्यक्ति प्राय:अपनी आंतरिक प्रेरणाओं से निर्देशित और चालित न होकर अन्यों से समूहों से निर्देशित होता है । उसकी अपनी कोई निजी इच्छा निजी प्रेरणा, निजी मूल्य औरआदर्श नहीं रह गई है ।

४.६. आधुनिक समाज की पाखण्डता एवं दलित उत्पीड़न :

स्वतंत्रता के पश्चात समय के साथ दलितों ने शिक्षा, रोजगार व अन्य सुविधाओं से लाभ उठाने की दिशा में अच्छी पहल की है । दलितों को आवास, रोज़गार, भूमि, पानी, बिजली आदि प्राप्त हो रहे है । इसके फलस्वरूप दलितों की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में काफी सुधार

---

1. रघुवंश - आज के राजनीतिक समाज में साहित्यकार का स्थान
   कल्पना - 182 - 1967 - पृ. 48

हुआ है । उनमें आत्मसम्मान एवं अपना वाजिब हक प्राप्त करने की भी भावना बढ़ी है । दलितों की इस प्रगति और समानता के दावों से सदियों से इन पर अत्याचार करते चले आ रहे प्रतिगामी सवर्णों का इन पर क्रोधित हो उठना स्वाभाविक है ।

दलितों पर हो रहे अत्याचारों की सूची बहुत लंबी है । विस्तृत संदर्भ में अत्याचार का अर्थ वे सभी अन्याय, शोषण और त्रास, जो उच्च शक्ति सम्पन्न वर्गों द्वारा परंपरागत रूप से दलित वर्ग पर, जो अपनी रक्षा करने में असमर्थ है, ढाए जाते हैं । इनमें निंदा, गाली, धमकी तथा सामाजिक बहिष्कार से लेकर बेगार कराना, संपत्ति से बेदखल करना, शासन द्वारा प्रदत्त भूमि पर कब्जा न देना, शारीरिक क्षति के रूप में मारना, पीटना, हत्या, बलात्कार के साथ साथ लूटपाट आगजनी आदि भी शामिल है । परन्तु सरकारी फाइलों में केवल हत्या, बलात्कार आगजनी जैसी हिंसक वारदातों को ही शामिल किया जाता है ।

दलितों पर अत्याचार की प्रवृत्ति पिछले कुछ वर्षों से अत्यंत गंभीर होती जा रही है । 1975 से 1985 के बीच दलितों पर अत्याचारों में पहले की अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई है । 1977 में अत्याचारों की संख्या 10,873 थी, 1980 तक यह 13,341 हो गई ।

प्रस्तुत आंकडे से ज्ञात होता है कि आए दिन दलितों पर हत्या बलात्कार जैसी गंभीर अपराधों में वृद्धि हुई है । आज के युग में दलितों पर अत्याचार की तीन मुख्य प्रवृत्तियां दिखलाई देती है । अत्याचार की इन प्रवृत्तियों के आधार पर स्वातंत्र्योत्तर भारत में दलितों और उच्च वर्गों के बीच संबंधों एवं परिवर्तनों को भी माना जा सकता है । भारत की आजादी के पहले दलितों में चेतना जाग्रत करने का काम मुख्य

रूप से प्रगतिशील गैर दलित कर रहे थे । ये लोग अपने स्वार्थ के लिए दलितोत्थान को स्वतंत्रता आन्दोलन के साथ जोड़कर इसे व्यापक बनाना चाहते थे । सामान्यत: दलित भी राष्ट्रीय नेतृत्व के प्रति समर्पित थे । दलित वर्ग भी आश्वस्त थे कि आजादी के बाद उनके साथ न्याय होगा और युगों से उपेक्षित उनके हितों की आवश्यक सुरक्षा प्राप्त होगी ।

लेकिन ऐसा नहीं हुआ, बल्कि राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़ने के कारण उनकी सामाजिक, राजनीतिक चेतना ही विकसित हुई । इसके परिणामस्वरूप आजादी के बाद दलितों की तरफ से बेहतर स्थिति एवं सुविधाओं की मांग ज़ोर पकड़ने लगी और इसी के साथ दलितों पर अत्याचारों की संख्या में वृद्धि हुई ।

इसके पहले चूंकि हरिजन अपने अधिकारों के प्रति उदासीन थे, अत: उन पर अत्याचार भी होते थे । इस प्रकार कांग्रेस के नेतृत्व से दलित दो तरफा छले गए । स्वतंत्रता के बाद भी यह क्रम जारी है । दलितों पर अत्याचार क्यों होते है ? इस संबंध में दो प्रकार की धारणाएं है - पहला कानूनी और दूसरा सामाजिक । कुछ लोगों का सोचना है कि दलितों पर अत्याचार कानून और व्यवस्था का मामला है जिसे कानून एवं व्यवस्था में सुधार करके नियंत्रित किया जाना चाहिए । जबकि दूसरी धारणा है कि इस समस्या का मूल सामाजिक व्यवस्था में है और बिना सामाजिक ढांचे को बदले समस्या का हल संभव नहीं है ।

दलितों पर अत्याचार मुख्यत: उच्च जातियों को सम्मान न देने के साथ साथ, साधन संपन्न वर्ग कीबेगारी करने से इनकार, परंपरागत सेवा करने से इनकार आदि के कारण होता है ।

प्राचीन काल से ही दलितों की स्थिति समाज में निम्न थी । वे अछूत माने जाते थे तथा उन्हें मुख्य आबादी से दूर रखा जाता था । आज ऐसा किसी भी रूप में संभव नहीं है, जबकि साधन संपन्न सवर्ण आज भी वही स्थिति चाहते है । ऐसे में उनके एवं दलितों के मध्य टकराव होते है । इस स्थिति में शासन तंत्र के अप्रभावी होने के कारण साधन संपन्न वर्ग इन पर तरह तरह के अत्याचार करने में सफल हो जाता है ।

दलितों पर अत्याचार के लिए मुख्य रूप से जातीयता की भावना, अस्पृश्यता, भूमि विवाद, ऋण वसूली तथा राजनीतिक स्पर्धा उत्तरदायी है ।

दलितों पर अत्याचार की जड़े समाज में बहुत पुरानी तथा गहराई के साथ जमी हुई है । जब तक दलित गांव की सीमा पर स्थित झोपड़ों, टप्परों में रहते है, उनके मालिकों, साहूकारों, गुंडों की खिदमत करते है, सस्ते में अपना श्रम बेचते है, समाज में अपनी दलित स्थिति को स्वीकार करते हुए दीन हीन बने रहते है । तब तक समाज भी उन्हें दया और करूणा से देखता है । परन्तु, जैसे ही वे समाज में अपनी हैसियत एवं सुविधाओं की मांग करते है, संपन्न सवर्णों के साथ इनका संघर्ष शुरू हो जाता है । साथ ही शुरू हो जाता है इन पर होने वाले अत्याचारों का सिलसिला । निष्कर्ष यह है कि जब तक अंर्तविरोध और तनावजनित स्थितियां सामाजिक संरचना में विद्यमान है, दलितों पर अत्याचार की समस्या समाप्त नहीं हो सकती ।

4.7. आदिवासी: बदलते सामाजिक स्थिति एवं शोषण :

दलित वर्ग के अंतर्गत आदिवासियों की गणना की जाती है ।

हालांकि जन जातियां हिन्दू समाज व्यवस्था से परे है । प्रायः इन आदिवासियों के पिछड़ेपन तथा अपनी प्राचीन धार्मिक मान्यता के कारण इन्हें नीच माना जाता है । स्वातंत्र्योत्तर भारत में सबसे ज्यादा शोषण इसी वर्ग का हुआ है । आज से 20 वर्ष पहले फणीन्द्र ने अपने निबंध आदिवासी समाज की बदलती तसवीरे में लिखा था --"वर्षों से उन्हें शोषित किया जा रहा है । बाहर के लोगों ने उसकी सबसे प्यारी निधि जमीन छीन ली है । उनके हृदय का टुकड़ा, उसकी आंखों की ज्योति, जंगल सब उससे बिछुड़ गए । तब उसका उदास होना स्वाभाविक था । जब तक वे संगठित नहीं थे, अज्ञानी और साधन-हीन थे । तब तक वे उत्पीड़न और दुर्व्यवहार सहते गए । अब जागृति का बिगुल बज उठा है । स्वतंत्रता की मुक्त किरणें अब उनकी भी दुनिया में प्रवेश कर चुकी है । सेठ साहूकार, जमींदार, ठेकेदार की लाल आंखें व गर्जना से वे भयभीत नहीं होते ।"1

आज सारी कोशिशों के बावजूद जन जातियों की सामाजिक संरचना में खास परिवर्तन नहीं आ रहे हैं । उनकी मूल समस्याओं तथा निर्धनता, पिछड़ापन, अशिक्षा, बेकारी तथा पृथक्कीकरण में कोई खास एवं संतोषजनक परिवर्तन नहीं आ रहे है । इसके लिए सरकार एवं सामाजिक संस्थाओं को अभी बहुत कुछ करना होगा, वरना आदिवासियों की समस्या एक दिन भयंकर रूप ग्रहण कर सकती है, इसका परिणाम देश को टुकड़ों में बांट देगा ।

---

1. वर्धन - अनसुलझी जनजाति समस्या - पृ. 44

5. आर्थिक परिवेश :

1. बढ़ती हुई फासला :

सैकड़ों साल तक जिस भारत को विदेशियों ने शोषित करके जर्जर किया था उसके बाद का ठगा हुआ भारत आज भी उसी धुरी पर घूम रहा है । हमने आजादी की लड़ाई, अपूर्व त्याग और तपस्या से लड़ी थी और उस समय जो सपना बनाया था, वह स्वतंत्रता के बाद धीरे धीरे टूट कर बिखर गया । भारत की सरकार ने पूँजीपतियों को बढ़ावा दिया । फलत: धीरे धीरे भारत की समस्त पूँजी एवं ऐश्वर्य चन्द धनी लोगों की मुट्ठी में बन्द होने लगा, वे निरंतर अमीर होते गए । दूसरी ओर जो गरीब थे, फटेहाल थे, उनकी स्थिति दिन पर दिन गिरती गई । आज अमीर और गरीब के फासले में असामान्य वृद्धि निर्मित हो चुकी है ।

सरकार से सम्बद्ध तथा राजनीतिक मनुष्य प्रत्येक दल और छद्म के द्वारा अपने स्वार्थ की पूर्ति करने में संलग्न है । सबको अपने की चिंता है, किसी दूसरे की नहीं । सरकार की गलत नीतियों के कारण उससे लोगों का विश्वास उठ चुका है । लोगों ने सब देखा और समझ लिया है । लेकिन आश्चर्य यह है कि लगातार यंत्रणा सहने के बावजूद लोगों में सहे जाने की आदत बन चुकी है । तो फिर मुक्ति कौन दे ? कौन मसीहा बने ? यह भारतीय आदमी की विसंगति और सच्चाई है । आर्थिक नवनिर्माण के लिए बड़ी बड़ी योजनायें और विकास की स्कीमें फाइलों में बन्द होकर सड़ रही है, जिस अनुपात में पिछले वर्षों में मुद्रा स्फीति की स्थिति आई है, उससे चीजों के भाव तेजी से बढे है,

बढ़ते जा रहे है । इससे आम आदमी की हालत पर दूरगामी प्रभाव पड़ता है । उसकी कमर एकदम टूट जाती है । आज स्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी है कि किसी भाँति दो वक्त की रोटी लोग जुटा ले, वही सबसे बड़ी उपलब्धि है । इस हालत की ओर संकेत करते हुए डा० शिवप्रसाद सिंह ने लिखा था --"जीर्ण शीर्ण परम्परा से चिपकी तथा अनके समस्याओं पर भीषण मतभेद रखने वाली बेशुमार भारतीय जनता दिनोंदिन अभिशाप के गर्त में गिरती गई । पंचवर्षीय योजनायें असफल हुई । गरीब निरंतर गरीब और अमीर निरंतर अमीर होते रहे । अलगाव बढ़ता गया । स्वदेशी सिक्का और इन्सान सस्ते होते गए । "[1] और जब शिवदान सिंह चौहान ने लिखा था·····"इन परिस्थितिजन्य वैविध्यों के बीच से गुज़र कर भारतीय जीवन अपने चर्तुमुखी विकास की नई दिशा पाने का प्रयास कर रहा है ।"[2] तो आज की हालत को देखते हुए यह कथन सच्चाई से कोसों दूर खोखला प्रतीत होता है ।

हाल-हीमें सरकार की उदारीकरण नीति ने अमीर और गरीबी की खाई को और चौड़ा कर दिया । मिश्र अर्थ व्यवस्था की नीति असफल साबित हुई । इसलिए एक के बाद एक सार्वजनिक क्षेत्रों में ताला झूलने लगा है ।

5·2· औद्योगीकरण :

सन् 1950 के आसपास से ही देश में बड़े बडे उद्योग स्थापित होने लगे थे । और पचास वर्ष के स्वातंत्र्य काल में विश्व सभ्यता की तरह भारत की सभ्यता में भी यंत्र और उद्योग की प्रमुखता हो चली है ।

- -

1· कल्पना - 210 - पृ· 15

2· आलोचना - 34 स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य विशेषांक -पृ· 33

बड़े बड़े औद्योगिक नगर विकसित हो रहे हैं। गांव से भाग-भाग कर लोग कारखानों में मजदूरी करने लगे हैं। लेकिन अधिकाधिक औद्योगिकरण और मशीनी विकास में हमें दो चीजें खोनी पड़ी - पहली चीज तो यह कि इन बड़े उद्योगों और मशीनों की होड़ में हमारे कुटीर उद्योग, हाथ की कारीगरी, जिसकी कोई मिसाल नहीं रहा करती थी, नष्ट होने लगी। बहुराष्ट्रीय कंपनियों का जाल बिछता जा रहा है। आधुनिक कंप्यूटर के प्रयोग से बेरोजगारी एवं बेकारी बढ़ गयी है। इससे देश का गरीब आदमी प्रभावित हुए बिना न रह सका। उसकी आय का एक प्रमुख स्त्रोत बंद हो गया। पूंजी के असमान बंटवारे से धनी, गरीब के बीच खाई चौड़ी होती जा रही है। दूसरी चीज प्रदूषण से भारी संकट उत्पन्न हुआ है। विश्वभर में प्रदूषण के बचाव का मुद्दा आज चर्चे में है। औद्योगिकरण से उत्पन्न इस खतरे से विश्व को बचाने के लिए आज से हमें ठोस कदम उठाना पडेगा।

विज्ञान के विकास में एक से एक नई चीजें प्रतिदिन खोज में आ रही है, उसकी स्पर्धा में हमारी पुरानी कारीगरी बेकार साबित हो रही है, आज तो केवल वह अजायबघर की चीज बनकर रह गई है।

5•3• आर्थिक उदारीकरण की व्यवस्था :

1989 के मध्यावधि चुनाव के बाद से नई सरकार की नीतियां बहुत कुछ बदली है। सार्वजनिक उद्योग एवं व्यवसाय के क्षेत्र में निजीकरण को बढ़ावा दिया जा रहा है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों को भारतीय उद्योग एवं बाजार में बिना शर्त प्रवेश दिलाने की नीति को अपनाया जा रहा है। इस बदलाव के मूल में भारत को विश्व में विकसित देशों का दर्जा

दिलाने का लक्ष्य है । सरकार का विश्वास है, इसे समाज में आर्थिक असमानता दूर होगी, रोजगार के मौके बढ़ जाएंगे, वस्तुत: यह लक्ष्य विदेशों की नकल है । इन नीतियों के पीछे बड़े राष्ट्रों का भी हाथ हो सकता है, क्योंकि विदेशों में हमारी साख बढ़ सकती है । सरकार ने पूंजी को बाज़ार में छोड़ दिया है । उद्योग एवं उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए निजी क्षेत्रों का स्वागत किया जा रहा है । मगर उससे पहले सरकार बिल्कुल उल्टा नीति अपनाई थी । 1970 के बाद पूंजी को अधिकाधिक सरकारीकरण करने का प्रयत्न किया गया। उद्योग एवं उत्पादन को अपने हाथ में लाकर आबंटित करने का लक्ष्य रखा गया था । राजाओं एवं महाराजाओं की पेंशन बन्द कर दी गयी । बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया । अब हर क्षेत्र को सरकारी चुंगल से निकालकर निजीकरण करने का प्रयास किया जा रहा है । सरकार को विश्वास है कि निजीकरण से विकास की गति तेज होगी । भ्रष्टाचार एवं लापरवाही घट जाएगी । मगर हाल के लक्षणों से लग रहा है कि सरकार की नीति गलत साबित होने लगी है । 1970 के आस पास चीनी, कोयला यहां तक कि खाद्यान्न को भी सरकारीकृत करने का प्रयास किया गया । लेकिन तब भी सरकार को लगा था कि जब तक चोर बाजार एवं भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलेगा, राष्ट्र का विकास संभव नहीं है । आज भ्रष्टाचार दीमक की तरह समूचे तंत्र को चाट गई है । आज भ्रष्टाचार के कारण मुद्रा स्फीति बढ़ गई है । चीजें महंगी और बाजार से गायब होने लगी है, इससे राहत मिलने के बजाय उलझन ही होती गयी । विदेशी मुखौटा भारतीय परिवेश में पहनाना मुश्किल कार्य है ।

इस प्रकार भारत की आर्थिक नीतियों ने आम आदमी की रीढ़ को तोड़कर चरचरा दिया है । ऋण के भार से लदा हुआ आदमी दुर्बल

होता जा रहा है । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आज रूपया सस्ता हो गया है और आदमी लगे हाथं बिक रहे हैं । बेकारी और आर्थिक तंगी के कारण कितने लोग अपनी इज्जत देने को मजबूर होते है ।

5.4. स्वातंत्र्योत्तर आर्थिक परिवेश एवं दलित वर्ग :

स्वतंत्रता के बाद से लेकर आज तक की सरकारी नीतियों में कहीं भी दलित वर्गों के साथ न्याय नहीं किया गया है । चुनाव पूर्व घोषणाएं तो बहुत होते रहे हैं मगर उसे व्यवहार में लाने वाले बहुत कम हुए हैं । 1967-68 में रिजर्व बैंक आफ इंडिया की एक सर्वेक्षण रिपोर्ट में बताया गया कि ग्रामीण आबादी का 70 प्रतिशत हिस्सा गरीबी रेखा केनीचे रहता है । 1981 में यह संख्या 70 प्रतिशत से घटकर 46 प्रतिशत हुआ है । इस रेखा के नीचे दलित मजदूर आते है । बेशक यह कहा जा सकता है कि वे जीवित है, मर नहीं जा रहे है । 1972 में बांकुड़ा जिले के दो गांवों के सर्वेक्षण से पता चलता है कि दलित मजदूर की मजदूरी 55 पैसे थी । तत्कालीन श्रम आयुक्त ने इस पर टिप्पणी की थी कि वे लोग कैसे जीवित है, यह चमत्कार है । अन्य सभी राज्यों में भी मजदूरी के मामले में एक जैसी बात थी ।

स्वतंत्रता के पश्चात यद्यपि सरकार ने दलित मजदूरों की मजदूरी को लेकर अनेक कानून बनाए । मगर ये ठण्डे बस्ते में डाल दिए गए । कागज के ऊपर की मजदूरी में वृद्धि दिखला दी गई, परन्तु दूसरी तरफ दैनिक उपयोग की वस्तुओं के दामों में वृद्धि करने इसे नाकाम कर दिया गया । जिन लोगों ने अपने अधिकार को लेकर आन्दोलन किए, उन्हें

काम पर से निकाल दिया गया । बड़े भू-स्वामियों ने बाहरी लोगों को कम मजदूरी पर काम करवाना शुरू किया और इस प्रकार स्थानीय मजदूरों और बाहरी मजदूरों के मध्य संघर्ष प्रारंभ हो गए । इससे भूपतियों को लाभ हुआ, जबकि मजदूरों की एकता छिन्न भिन्न हो गई और विवशतावश ज्यादातर दलितों को कुमंतु जीवन बिताने के लिए मजबूर होना पड़ा ।

मजदूरों को काम मिलने की कोई गारंटी नहीं रही तो वे कर्ज लेने को बाध्य हुए । भारत सरकार की 1981-82 की रिपोर्ट में बताया गया कि दलितों के प्रत्येक दस परिवारों में से छः परिवार कर्ज से ग्रस्त थे । कर्ज के रूप में ली गई कुल राशि में से सहकारी संस्थाओं ने आठ प्रतिशत से भी कम ऋण दिया था । शेष राशि गांव के सूदखोर, महाजनों को प्राप्त हुई थी । निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि भारतीय ग्रामीणों में व्याप्त कर्ज़खोरी दलितों की स्थिति को अधिक दयनीय बना देता है ।

5.5. आदिवासी :

सातवें दशक में आदिवासियों के सामाजिक, आर्थिक सर्वेक्षण के आधार पर मध्य प्रदेश में आदिवासियों के प्रति व्यक्ति सालाना औसत आय 104.69 रुपए, राजस्थान में 103.60 तथा गुजरात में 101.60 रुपये पाई गई थी । औसत आदिवासी परिवारों की निर्धनता की कल्पना करना भी कठिन है । आदिवासी अर्थतंत्र पर महाजनों का शिकंजा इतना भयावह है कि आदिवासी उम्र भर इससे मुक्त नहीं हो पाता । कर्ज़ पाने का लोभ इतना प्रबल है कि वे संगठित होकर महाजनों की गलत चालों का प्रतिकार भी नहीं कर पाते । अनेक ऐसे उदहारण है, जिनमें आदिवासी खुद अपनी जमीन पर बटाइदार के रूप में काम करता है । ऐसी जमीन

पर वह एक खेतिहर मजदूर की हैसियत रखता है, जिसका वह स्वयं कानूनी हकदार है । जब भी कोई आदिवासी कर्जदार हो जाता है या महाजनों के चाल में फंस जाता है तो सर्वप्रथम वह अपनी जमीन से हाथ धो बैठता है । यही नहीं, दूसरे दौर में वह अपना श्रम बेचने की आजादी से भी हाथ धो बैठता है । स्वतंत्र भारत के संविधान की पांचवी अनुसूची में स्पष्ट व्यवस्था दी गई है --"अनुसूचित क्षेत्रों के अनुसूचित जन जातियों को कर्ज देने वाले व्यक्तियों द्वारा चलाए जा रहे महाजनी धंधों को नियंत्रित किया जाए ।"[1]

इसे नियंत्रित करने का काम प्रदेश के राज्यपालों का है । यह भी सत्य है कि विभिन्न राज्य सरकारें अनेक नियम और कानून जारी कर चुकी है तथा बंधुआ मजदूरी पर प्रतिबंध लगाया जा चुका है ।बावजूद इसके अभी भी यह समस्या बेकाबू है ।

अनुसूचित जनजाति आयोग के आयुक्त की बीसवीं रिपोर्ट में पिछड़े ग्रामीण क्षेत्रों में आदिवासियों को बंधुआ मजदूर बनाने की साहूकारों एवं महाजनों की नीति के प्रति ध्यानाकर्षित किया गया है । आदिवासियों की चिरकालिक ऋणग्रस्तता की तरफ भी इशारा किया गया है । रिपोर्ट में अनेक राज्य सरकारों के शुतुरमुर्गी व्यवहार की तीव्र आलोचना की गई, जो कानून की पुस्तक पर एक विधान रख कर यह दावा करती है कि बंधुआ मजदूरी खत्म कर दी गई है ।

बंधुआ मजदूरी प्रथा जो विभिन्न राज्यों में विभिन्न नामों से जानी जाती है, अभी भी अनेक राज्यों तथा केन्द्रशासित क्षेत्रों में मौजूद

- -

1. वर्धन - अनसुलझी जनजाति समस्या - पृ. 40

है । आंध्र प्रदेश में यह गोथी, गुजरात में हाली, जम्मू कश्मीर में जन, केरल में वाल्लूर कावू पानम, मध्य प्रदेश में हरवाही, महाराष्ट्र में वेट, बेगार, उड़ीसा में गोथी, राजस्थान में सागरी, उत्तर प्रदेश में सजयत कहलाती है । कानूनी पाबंदियां इस प्रथा को स्थायी रूप से समाप्त नहीं कर सकती है, जब तक कि स्वयं आदिवासी लामाबंदी होकर प्रतिक्रियावादी ताकतों के राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक आधार पर इन्हें ध्वस्त करने के संकल्प के साथ प्रहार नहीं करते ।

आदिवासी मजदूरों की कुल संख्या का 73 प्रतिशत खेतिहर है । खेत मजदूरों के पास भी छोटे छोटे खेत है और वे एक प्रमुख सहायक पेशे के रूप में खेती करते है । इस प्रकार कृषि आदिवासी अर्थ तंत्र का एक प्रमुख स्तम्भ है । आदिवासी क्षेत्रों में जिन परिस्थितियों में कृषि कार्य किया जाता है, वे मैदानी भाग की परिस्थितियों से सर्वथा भिन्न है । कृषि भूभाग पहाड़ी एवं उबड़ खाबड़ है । ग्रामीण इलाकों के उबड़ खाबड़ होने के कारण मिट्टी का व्यापक कटाव होता है । सिंचाई की सुविधाओं के अभाव में आदिवासी खेती के लिए पूर्णरूपेण वर्षा पर निर्भर है । आदिवासियों की अच्छी ज़मीने गैर आदिवासियों के हाथों चली गई है । आदिवासियों की कृषि योग्य जमीनों का छीना जाना बड़े दुर्भाग्य कीबात है । दर असल गैर आदिवासी शोषक आदिवासियों को उनकी, अच्छी जोतों से दूर रखने के लिए तरह-तरह के हथकंडों का इस्तेमाल करते है ।

जंगल सदा से आदिवासियों का घर रहा है । पिछली शताब्दी के मध्य तक आदिवासी हीजंगल के मालिक थे । इसके पश्चात अंग्रेज शासकों ने वन विभाग के जरिए जंगल के संसाधनों और आदिवासियों की जमीनों

को हथियाना शुरू कर दिया । 1952 में स्वतंत्र भारत की वन नीति निर्धारित की गई । इस नीति ने जंगल के मालिक को प्रजा की हैसियत में ला खड़ा किया । आदिवासी अब वन विभाग के मातहत वन अधिकारी और जंगल के ठेकेदार की मर्जी पर चलने वाला पगारजीवी गुलामबनकर रह गया । जंगल में एक आदिवासी मजदूर प्रतिदिन जितना पगार पता है, उसमें वह एक समय का भोजन कर सकता है ।

1970 में एक जंगल मजदूर एक दिन के श्रम का मूल्य दो रूपये पच्चास पैसे के रूप में पाता था । आज भी बीस रूपयेसेअधिक नहीं पाता । पगार भी अनियमित दी जाती है । जंगल में मजदूरों के शोषण के विरूद्ध कहीं से कोई आवाज नहीं उठती । हाल में झा·मु·मो· रिश्वत कांड से यह बात साबित हुई कि उनके तथाकथित नेतृत्व वर्ग भी बिके हुए है । अतः जंगल के आदिवासी मजदूर ठेकेदारों के जुल्म सहने को मजबूर है । पूंजी-पतियों के लिए जंगल हमेशा से लालच का केन्द्र रहे है । इनकी लोलूप दृष्टि जंगल के संसाधनों पर टिकी रहती है । शहतीर, जड़ी, बूटियां, तेदू पत्ता, जानवरों की खाले आदि कौड़ियों के भाव लूट लिए जाते है । और उन्हें शहरों में महंगे दामों में बेचा जाता है । शासकीय दावों के बावजूद कि जंगल में बिचौलियों का उन्मूलन तथा जंगलों का राष्ट्रीय-करण कर दिया गया है, जंगलों के मजदूरों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ है, जबकि उद्योगपतियों के लिए अवश्य जंगल की उपज और सस्तेमाल की आपूर्ति की व्यवस्था कर दी गई । हमारे देश में जंगलों के मध्य स्थित इस प्रकार के गांवों में सुलभ आदिवासियों की श्रमशक्ति पर जंगल विभाग एवं उसके चहेते ठेकेदारों का पूर्ण नियंत्रण है, यहां के आदिवासियों को जो दैनिक पगार का नियमित भुगतान करवाने के लिए

के लिए कोई उचित व्यवस्था भी नहीं है । वन विभाग की मर्जी के विरूद्ध ये आदिवासी कहीं दूसरी जगह काम भी नहीं कर सकते है । कुछ एक को कृषि के लिए जमीनें भी दी गई है, तो उनके पट्टे वन विभाग के पास होते है । इस प्रकार उन्हें जब चाहे जमीन से बेदखल किया जा सकता है । वस्तुत: जंगल के बीच गांवों में आदिवासी सदियों पुरानी भू-दासता की स्थिति में जी रहे है । स्वतंत्र भारत के ये दलित आदिवासी गुलामी की स्थिति में है ।

दलित वर्ग के मसीहा अम्बेडकर ने अछूतोद्धार के लिए महान और क्रांतिकारी कार्य किए । डा० भीमराव अंबेडकर स्वयं दलित वर्ग में उत्पन्न हुए थे और दलित वर्ग पर होते अत्याचारों और शोषण से भलिभांति परिचित थे । उन्होंने दलित वर्ग को अज्ञान के अंधकार से, चातुर्वर्ण्य की चक्की में पिसने, दरिद्रता की आग से मुक्ति दिलाने के लिए ही अपना जीवन संघर्ष में लगा दिया था । दलितों को सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, न्याय प्राप्ति और अधिकार दिलाने के लिए अपने दिल दहलाने वाले विचारों और प्रयत्नों से एक क्रांतिकारी स्थिति उत्पन्न कर दी थी । बाबा अम्बेडकर के क्रांतिकारी व्यक्तित्व और कृतित्व से दलित वर्ग में अपूर्व जागृति उत्पन्न हो गई थी । दलित वर्ग का उद्धार करने और समानता का न्याय दिलाने के लिए तत्कालीन सरकारको भी बाबा अम्बेडकर ने विवश कर दिया था । जिसके लिए सरकार को दलित वर्ग के हितार्थ कानून बनाने पड़े । साइमन कमीशन के समक्ष अपने साक्ष्य प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था कि "अछूतों की समस्याओं को हिन्दुओं से न जोड़ा जाए । अछूत सामाजिक दृष्टि से

पूर्णतः शोषित एवं दलित हैं । इन्हें सैकड़ों वर्षों से शोषित पीड़ित एवं दलित रखा गया है । इनके लिए शिक्षा के द्वार बंद कर दिए गए है । यह इंसानियत रूपी हैवानियत की जिन्दगी के रूप में पशुओं की भांति इधर उधर विचरण कर रहे है ।"[1] यद्यपि अनेक समाज सुधारकों, क्रांतिकारी संत कवियों और आन्दोलनों दलित वर्ग की स्थिति में पर्याप्त अंतर आया है । दलित वर्ग में जागृति उत्पन्न हुई है, लेकिन भारतीय ग्रामीण दलितों में आज भी स्थिति चिंताजनक और विचारणीय है । शहरों के दलित वर्ग कीस्थिति कुछ संतोषजनक है ।

6. सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिवेश :

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात संस्कृति और साहित्य की दुनिया में संक्रमण की स्थिति देखी गई और स्थिति यहां तक है कि हमारे परम्परागत सारे मानदण्ड और मूल्यों के आधार ही जैसे उखड़ गए है । भारतीय जीवन में परिवार, धर्म, प्रेम और सामाजिक आचरण की मर्यादाएं अनिश्चित हो गई । यह इसलिए भी हुआ कि जहां मनुष्य मनुष्य से टकरा रहा है, वहां अनेक राष्ट्र एवं जातियां परस्पर टकरा रही है । इस संघर्ष और टकराहट के बीच मानवीय अनुभूतियां कम हुई है और अनुभूति के स्खलन का मतलब है अनर्थक, मूल्यहीन, अर्थहीन जीवन की स्थिति । जातियों और संस्कृतियों की परस्पर टकराहट और संघर्ष में नये नये विचारों का आदान-प्रदान और मूल्यांकन होता है । परंपरा

- -

1. डा० भीमराव अंबेडकर द्वारा साइमन कमिशन की बैठक में दिया गया भाषण, मासिक पत्रिका "उत्तर प्रदेश" अम्बेडकर विशेषांक 1991 - पृ. 59

के प्रति मोहभंग की प्रक्रिया प्रारंभ होती है और नवीन चेतना का भाव उदित होता है । आधुनिक और अत्याधुनिकता का मूल्य इस संक्रमण और टकराहट का परिणाम है । साहित्य के माध्यम से सांस्कृतिक उपलब्धियों एवं परिवर्तन का मूल्यांकन किया जाता है और साहित्य भी तो संस्कृति का एक अंग है ।

परिवार, धर्म, एवं नैतिकता के परम्परागत मानदण्डों में बदलाव की प्रक्रिया कई आयामों में परिलक्षित हुई । इस सम्बन्ध में मनुष्य की दृष्टियां कई वर्गों की ओर अग्रसर हुई । यहां यह ध्यान रखना उचित होगा कि आलोच्यकाल के मनुष्य का सांस्कृतिक जीवन प्रविधि प्रधान हो गया है । इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ, क्योंकि "मशीन के संस्पर्श से मनुष्य भी यंत्र हो जाने के खतरे में हो गया ।"[1] आधुनिक भारत के सर्वश्रेष्ठ मनीषी गांधी ने अपने समूचे जीवन में और साहित्यकार जयशंकर प्रसाद अपनी उत्कृष्ट रचना कामायनी में मानवीय सभ्यता के इस वर्तमान खतरे को बड़ी क्षमता के साथ ध्यान आकृष्ट किया है ।

आज धर्म के प्रति हमारी परम्परागत रूढ़िबद्ध विचार दृष्टियां बदल चुकी हैं । उसके स्थान पर नवीन मान्यताओं एवं विचारों ने जन्म लिया है । धर्म के ठेकेदारों की लूट खसोट और आडम्बर का मुखौटा उतर चुका है । अब तो मशीनी संस्कृति के विकास के कारण नैतिकता और धर्म के आदर्शों का कोई मूल्य नहीं रह गया है । न्याय, अन्याय और किसी भी कीमत पर लोग अपने स्वार्थ की पूर्ति में लगे हुए हैं ।

- -

1. हिंदी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियां - रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ. 4

नैतिकता, अनैतिकता से आज मनुष्य भयभीत नहीं होता । स्वर्गवादी दृष्टि को मनुष्य ने भुला दिया है । इसी भूमि पर मनुष्य ने मरना और जीना सीखा और समझा है । इसलिए पाप-पुण्य नाम की चीज दिखाई नहीं देती । मनुष्य कितना नैतिक है और कितना अनैतिक है, यह उसकी अपनी क्षमता और दृष्टि पर निर्भर करता है। कोई बात यदि दूसरों की दृष्टि में अनैतिक है, तो हमारी दृष्टि में नैतिक भी हो सकता है । नैतिकता एवं अनैतिकता का सवाल व्यक्ति की अपनी दृष्टि और परिस्थितियों पर आधारित है ।

मूल्यगत संक्रमण के परिप्रेक्ष्य में व्यक्तिवादी दृष्टि का खासा विकास हुआ है । लगातार युद्धों के बाद उत्पन्न संकट की स्थिति में मनुष्यों में घोर निराशा, कुंठा और निरूपाय की भावना को जन्म दिया है । इससे उसमें अनुभूति शक्ति स्खलित हुई है और उसने अपने आत्म परीक्षण में संलग्न किया है । उसे समूह और वर्ग से प्रेम न होकर नितांत अपने से मोह होता गया है । व्यक्तिवादी अन्तदृष्टि के कारण बौद्धिक जागरूकता की क्षमता बढ़ी है । व्यक्ति अपनी बुद्धि पर पूर्ण भरोसा करने लगा है । उसके लिए संस्कृति का मोह उतना ही रह गया है जितने में उसके जीवन में कोई अड़चन पैदा न हो ।

साहित्य के क्षेत्र में भी स्वतंत्रता के पश्चात तेजी से बदलाव देखा जा सकता है । सन पचास के बाद के साहित्य को देखने से स्पष्ट हो जाएगा कि यह साहित्य वैयक्तिक आत्म परीक्षण की भावना से ओत-प्रोत था । "आत्मपरीक्षण का यह भाव मोहभंग का सूचक होता है । आत्म परीक्षण की प्रक्रिया सच्चे अर्थों में तभी शुरू होती है, जब व्यक्ति का अपने से भिन्न किसी महत तत्व मूल्य या धारणा से विश्वास खत्म हो

जाता है ।"[1]

स्वतंत्रता के पश्चात साहित्य को देखने से स्पष्ट हो जाएगा कि निश्चित रूप से इस समय दो धाराएं चल रही थीं । एक धारा नगरों एवं महानगरों के जीवन को समेटने में व्यस्त थी । दूसरी धारा, अछूतों अंचलों के प्रति मोहित थी और बड़े विश्वास के साथ सहज और अकृत्रिम जीवन को रूपायित करने के लिए लालायित थी । चाहे नागरी और महानगरी जीवन के चित्रण में हो या आंचलिक जिन्दगी के सम्प्रेषण में, दोनों शिविरों में नये लेखकों ने परम्परा एवं पिटी पिटायी पद्धतियों एवं माध्यमों को तोड़ा है । पुराने जर्जर मूल्यों की अपेक्षा नये मूल्यों की पड़ताल की गई है । स्वतंत्रता के पश्चात नागरी और आंचलिक जीवन में जो बदलाव आया उसकी नाप जोख और मूल्यांकन नये साहित्य ने विभिन्न आयामों में प्रस्तुत किया । जीवन गत परिवर्तनों के विभिन्न मुद्दों का संकेत साहित्य में झलकने लगा । सन 50 के बाद कई सारे नये लेखक उभर कर साहित्य के क्षेत्र में आये और कई मुहावरों के साथ सृजन प्रक्रिया में संलग्न हुए । युवा लेखकों को अपने को स्थापित करने में काफी संघर्ष करना पड़ा, क्योंकि पुराने लेखक जम कर बैठे थे और युवा पीढी को सामने आने देना नहीं चाहते थे । वे कमर बांधकर साहित्य के क्षेत्र में उतर आते थे और किसी के सुनने का उनके यहां अवकाश नहीं होता था । किन्तु नये लेखकों के प्रवाह ने एक जुट होकर पुराने गुटों की नकेल घुमाने में जबर्दस्त लोहा लिया । उन्हें लेखक होने के साथ-साथ आलोचक की भूमिका निभानी पड़ी । अधिकतर नये रचनाकारों ने शिविर बनाकर संघर्ष का रास्ता अपनाया । अपनी बात को वे एक

---

1. कल्पना - नवलेखन विशेषांक : अगस्त - सितंबर, 1969 वर्ष -20 संपादकीय टिप्पणी से उद्धृत डा0 शिवप्रसाद सिंह -पत्रिका संख्या 210 - पृ. 3

समूह में स्वीकृत करा लेते थे और एक समूह के मान लेने पर वह बात लगभग स्वीकार कर ली जाती थी । इस प्रकार इस काल में लेखकों में आपा धापी की प्रक्रिया आरंभ हुई । यह बात सही है कि बिना शिविर का पल्ला पकड़े स्थापित होना मुश्किल था । 80 के बाद इसमें और ज्यादा परिवर्तन आया । 80 से पहले कुछ लेखक शौकिए लेखक हुआ करते थे । जो जन जीवन से दूर बैठे, जनता के दुःख, दर्द का कारूणिक एवं मर्मस्पर्शी चित्रण करते थे । विशेषकर दलित जीवन की पीड़ा को लेकर सृजन करने की प्रक्रिया की वृद्धि हुई थी । बहुत से ऐसे लेखक जिनका दलित जीवन से दूर दूर का नाता नहीं था, वे दलितों के लिए मगरमच्छ की आंसू बहाने लगे । सच कहें तो मार्क्सवाद के पतन के बाद दलित जीवन को लेकर जोरदार नारे बाजी होने लगी । मगर यह कोरी सृजन चिरस्थायी न हो पाया । दलितों में नवीन चेतना के विकास के साथ साथ, उससे भी कई युवा साहित्यकार जन्म लेने लगे । जो अपने भोगे हुए जीवन की करूण गाथा को आधार बनाकर साहित्य सृजन करने लगे । उनका नारा था --"हमें अब सहानुभूति की नहीं स्वानुभूति की जरूरत है ।" यद्यपि उनमें कई साहित्यकार अन्य वर्गों से आए हुए थे, मगर उन्हें दलित जीवन की पीड़ा का गहरा ज्ञान था । मज़े की बात यह है कि नये लेखकों का शिविर जो स्थापित हो जाता है, वह भी जमकर वहीं बैठ जाता है और आगे आने वाले दूसरे लेखकों का रास्ता रोक कर खड़ा हो जाता है । स्थापित हो जाने के बाद वह समझने लगता है कि साहित्य का विलक्षण सृष्टि कर्त्ता वहीं है । जो वह करेगा, वह पत्थर की लकीर है और सब तो हवा है । पर सत्य यह है कि हर लेखक की रचना में कुछ न कुछ सार्थक रहता ही है । उसी को ढूंढना आलोचक का कर्तव्य है, इसलिए किसी भी लेखक को ठुकराना उसके साथ बेमानी करना होगा ।

आलोच्यकालीन मनुष्यों की तरह लेखकों का भी चारित्रिक पतन हो रहा है । नैतिकता और आदर्श के स्थान पर वे धन कीकीमत पर बिक रहे हैं, जिसके कारण टुच्चे और नकली साहित्य की भी सृष्टि हुई । चारों तरफ घोर निराशा और पराजय के बाद मजबूर होकर रचनाकारों का रूझान आत्म परीक्षण की ओर जा रहा है । उनके लेखन में बेगानापन, खालीपन, खोखलापन, रूमानियत और भय का भाव उदित हुआ । डा0 शिवप्रसाद सिंह ने स्वीकार किया है कि --"धुरी हीनता, स्वार्थ-परता, दलबन्दी, फिराकपरस्ती आलोचना का शिविरवाद, आत्मीयता का अभाव और सबसे ऊपर समकालीन स्थितियों के प्रति उदासीनता - यह सत्तावन के बाद वाले पंचवर्षीय नव लेखन के वातावरण का निर्माण करते है, जहां पहुंचकर सच झूठ में और सारा झूठ सच का रूप धारण कर लेता है ।"[1] तो उनका संकेत नये लेखकों के निराशापन और पराजय को स्पष्ट करना था । बहुत से नये लेखक तो स्थापित होने की आतुरता में निराश हो जाया करते थे, क्योंकि किसी ओर उनको शरण नहीं मिल पाती थी ।

स्वातंत्र्योत्तर साहित्य में युवा पीढ़ी का विक्षोभ कई आंदोलनों के रूप में दिखाई देता है । "भूखी विद्रोही पीढ़ी, अन्यथावाद, अनर्थक अभिव्यक्ति के विभिन्न प्रकार तथा अकहानी और अकविता इन सभी आन्दोलनों के बीच हमारे युग की युवा पीढ़ी का विक्षोभ, आक्रोश और विद्रोह भाव मूलक प्रेरक शक्ति के रूप में देखा जा सकता है । पर ऐसा लगता है कि यह विक्षोभ, आक्रोश और विद्रोह का भाव, तथा उसकी

- -

1. कल्पना - 182 - नवलेखन विशेषांक, संपादकीय टिप्पणी से ।

दिशा ठीक - ठीक परिभाषित नहीं की जा सकती है, समीक्षा के क्षेत्र में नहीं स्वयं रचना के क्षेत्र में ही ।"[1]

नव लेखन में पाठकीय संकट भी देखा गया है । एक तो नव लेखन के नाम पर बहुत सी रचनाएं इतनी उलझी और दुरूह है कि उन्हें सामान्य पाठक आसानी से नहीं समझ पाता । दूसरे हिंदी के पाठक पश्चिम के पाठकों की तुलना में अभी उतने जागरूक नहीं हो पाये हैं । वस्तुत: हिंदी का पाठक सही रूप में पाठक नहीं है । साहित्य के प्रति रूझान वैसे ही कम लोगों में पाया जाता है, फिर साहित्य खरीदने की क्षमता का अभाव भी उन्हें साहित्यिक हलचलों से दूर करता जाता है । स्वयं पाठकों ने नवलेखन को सही मायने मेंसमझने की कोशिश नहीं की है । क्योंकि उसका युग बोध, भाव बोध और शिल्प विधान इतना पुराना है कि नव लेखन के साथ चल नहीं पाता है ।

इस समय चाटुकार और सरकारी साहित्यकारों की एक भीड़ दिखाई देती है । इन टुच्चे साहित्यकारों ने स्वातंत्र्योत्तर साहित्य सर्जन को कुछ मूल्यवान देने के बजाय गन्दे वातावरण की सृष्टि की है । इससे सृजन आसानी से क्षरित होता जाता है । आज भी सर्वमान्य साहित्यकार वह है, जिसकी पहुंच प्रदेश के या केन्द्र के सूचना विभागों, शिक्षा मंत्रालयों में है ।

इन तमाम अंर्तविरोधों एवं विसंगतियों के बावजूद साहित्य के कथ्य, शिल्प एवं भाव में पर्याप्त विकास हुआ है । सातवें दशक के आस

- -

1. डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी - हिंदी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियां पृ. 21

पास साहित्य जब जन जीवन से कटकर वायवीय दुनिया में भटकने लगा था, वहीं नवें दशक तक फिर से एक बार जन जीवन से जुड़ गया । हर तरह की राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक घटनाक्रमों को साहित्य अपने आप में समा कर चलने लगा है । दलित लेखन की उत्तरोत्तर वृद्धि ने साहित्य को फिर एकबार उसका अस्मिता प्रदान किया है । आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों की भूल-भूलैएमें आज साहित्य आस्तित्व की लड़ाई लड़ते हुए भी अपने मूल्यों एवं आदर्शों को पकड़ने की भरपूर कोशिश कर रहा है ।

इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर सांस्कृतिक और साहित्यिक परिवेश का हिंदी उपन्यासों पर प्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है,' क्योंकि इसी साहित्यिक वातावरण में ही तो सर्जक कलाकार जीता है और अपने रचनाकार्य में जाने अनजाने प्रभावित हो जाता है । स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में दलित जीवन की स्थिति का जायज़ा लेने के लिए हमें समकालीन उपन्यासों का निरीक्षण करना उचित होगा ।

तृतीय अध्याय

3·1 भूमिका

3·2 अस्सी पूर्व उपन्यास - युगीन चेतना एवं दलित

3·2·1 महात्मागांधी और दलित उत्थान

3·2·2 ज्योतिबा फुले

3·2·3 डा0 भीमराव रामजी अम्बेडकर

3·3· अस्सीपूर्व उपन्यास - प्रेमचन्द्र एवं दलित समाज

3·3·1 बेगारी प्रथा का जीवंत चित्र - "प्रेमाश्रम"

3·3·2 गांधीजी के विचारों का संवाहक - "रंगभूमि"

3·3·3 अछूतोद्धार की सार्थक अभिव्यक्ति - "कर्मभूमि"

3·3·4 अंतर्जातीय विवाह की आरंभिक बिन्दु - "गोदान"

3·3·5 दलित के सफल नेतृत्व का प्रवर्तन -"बुधुआ की बेटी"

3·3·6 दलित समस्या का आंशिक स्पर्श -"अलका", "निरूपमा"

3·3·7 समतामूलक व्यवस्था की परिकल्पना - "राहुल की रचना

3·3·8 दलित संघर्ष के संवाहक - वर्मा जी के उपन्यास

3·3·9 मनुष्यत्व की पहचान का सफल आग्रह - यशपाल की रचना

3·3·10 ब्राह्मणत्व के मिथ्या दंभ पर चोट -"शेखर एक जीवनी"

3·3·11 दलितों के स्वाभिमानोन्मुख संघर्ष का जीवन्त दस्तावेज - चतुरसेन की रचना

3·3·12 नारी शोषण के विरुद्ध सार्थक आवाज - रांगेय राघव की रचना

3·3·18 संथालों के संघर्षमय जीवन की सफल अभिव्यक्ति - रेणु की रचना

3·3·14 प्रेम और आस्था के प्रतीक दलित नारी - "सती मैया का चौरा

3·3·15 ह्रासोन्मुख मानवीय मूल्यों का दर्पण -"जल टूटता हुआ"

3·3·16 सामंती व्यवस्था से सीधी टकराहट - "नाच्यौ बहुत गोपाल"

3·3·17 जाति एवं धार्मिक व्यवस्था का भंडाफोड़ - "अलग अलग वैतरिणी"

3·3·18 जुझारू चेतना का संक्रमण दौर - "धरती धन न अपना"

तृतीय अध्याय

अस्सी से पूर्व रचित हिंदी उपन्यासों में दलित जीवन

1. भूमिका :

उपन्यास आज की सबसे सशक्त एवं लोकप्रिय विधा है । जनजीवन की पीड़ा को वाणी देने में,यह सबसे कारगर माध्यम साबित हुआ है । आज दलित जीवन की पीड़ा को प्रकाश में लाने का कार्य यह सफलता-पूर्वक कर रहा है । दलित आन्दोलन की परम्परा इस देश में प्राचीन है । अत: दलित जीवन को केन्द्र करके उपन्यास लिखने की परिपाटी भी पुरानी है । चण्डी प्रसाद जोशी लिखते हैं -- "सन् 1906 में भारतीय दलित जाति संघ की स्थापना हुई । जागरण काल में हिन्दू जाति व्यवस्था का विरोध होने लगा था लेकिन समाज के सबसे पीड़ित अछूत वर्ग पर सुधारकों की दृष्टि केन्द्रित न हो सकी थी, लेकिन अब के जागरूक व्यक्ति अछूत प्रथा को हिन्दू समाज का कलंक समझने लगे थे । तत्कालीन उपन्यासों में इसका स्वर गूंजने लगा था ।"[1]

- -

1. हिंदी उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन -डा० चण्डीप्रसाद जोशी- पृ. 38

हिंदी उपन्यास विधा को तिलस्मी एवं ऐयारी के सनसनीखेज तथा अविश्वसनीय वातावरण से बाहर निकालकर, मानव जीवन की यथार्थ समस्याओं से सम्बद्ध करने एवं उसे सशक्त विधा बनाने का काम प्रेमचन्द ने किया । उन्हीं से हिंदी उपन्यास में दलित वर्ग के चित्रण का आरंभ होता है ।

80 के पूर्व रचित उपन्यासों में बदलते हुए सामाजिक, आर्थिक, एवं सांस्कृतिक परिवेश का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है । हिंदी उपन्यास विकास के विभिन्न दौर को पार करते हुए आज एक सशक्त एवं विश्वसनीय विधा के रूप में स्थापित हो चुका है ।

"हिंदी के आरंभिक उपन्यासकार सुधारवादी आन्दोलनों से बहुत प्रभावित रहे हैं । स्वयं प्रेमचन्द पर आर्य समाज के आन्दोलन का बहुत प्रभाव रहा है । प्रेमचन्द के समकालीन राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल आर्य समाज की नारी सम्बन्धी तथा छुआछूत विरोधी नीतियों के समर्थक रहे हैं । अप्रत्यक्ष रूप से इन लेखकों ने अपने साहित्य के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक संकीर्णता आदि के विरुद्ध चल रहे आन्दोलन को सहयोग दिया है ।"[1]

प्रेमचन्द ने हिंदी उपन्यासों को औपन्यासिक स्वरूप प्रदान किया, यथार्थवादी दृष्टि दी तथा शिल्प को व्यापक आधार प्रदान किया । प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में मानवतावादी विचारधारा से अनुप्राणित होकर दलितों के प्रति पूर्ण सहानुभूति व्यक्त की । वे अछूतोद्धार व दलितो-

- -

1. हिंदी उपन्यास - सामाजिक चेतना - डा0 कुंवरपाल सिंह-पृ. 32

द्धार के प्रभावशाली चित्र अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किए हैं । प्रेमचन्द ने हिंदी उपन्यासों को जो दृष्टि दी वह आज भी विकसित और पल्लवित पुष्पित हो रही है । इसी विकास की परिणति दलित वर्ग से संबंधित उपन्यासों की रचना के रूप में हुई ।

हिंदी उपन्यासों में आठवें दशक तक हुए दलित वर्ग के चित्रण को मुख्य रूप से हम चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं :-

1. दलितोद्धार को मुख्य विषय बनाने वाले उपन्यास
2. मनुष्य के प्रति मनुष्य के अन्याय के रूप में

2. अस्सी पूर्व उपन्यास : युगीन चेतना एवं दलित :

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जाति की महत्वपूर्ण भूमिका है । भारतीय समाज में व्यक्ति की प्रतिष्ठा और हैसियत उसकी जाति पर निर्भर करती है ।

"हिन्दू समाज मूल रूप से उच्च वर्णों द्वारा नियंत्रित समाज है । कई धार्मिक नेताओं एवं समाज सुधारकों ने जाति की कठोरता और जटिलताओं को बदलने और सुधारने की चेष्टा की, मगर उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली । आज भी वैसा ही सामाजिक भेदभाव और आर्थिक विषमता है जो शताब्दियों पूर्व थी । आज सबसे अधिक कष्ट तो शूद्रों को हो रहा है । ये लोग पशुओं-सा जीवन व्यतीत करने पर विवश है । संसार के इतिहास में कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा जहां मानवों को इतना अधिक गिरा दिया गया हो और उनसे क्रूरतापूर्ण और अमानवीय

व्यवहार किया जाता हो । हिन्दू समाज में एक ही धर्म के मानने वालों में अपने साथियों के प्रति भेदभाव और अन्याय से काम लिया जाता है । भारतीय समाज में इससे अधिक लज्जाजनक और कोई बात नहीं ।"[1]

अनुसूचित जातियों और जन जातियों के कुछ शिक्षित व्यक्तियों द्वारा अंग्रेजों के साथ काम करते समय तनिक ज्ञान प्राप्त करके कुछ क्षेत्रों मेंअपने बच्चों की शिक्षा और जन जातियों में ईसाई मिशनरियों द्वारा शिक्षा के प्रसार के प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप इन जातियों की मुक्ति का आन्दोलन प्रारंभ हुआ । इन जातियों की ओर राष्ट्रीय नेताओं का ध्यान गया ।

समाज सुधार के लिए समय समय पर महापुरूषों द्वारा प्रयत्न किए गए हैं । छुआछूत व ऊँच-नीच को मिटाने के लिए महान लोगों ने संघबद्ध होकर कार्य प्रारंभ किए हैं । इनमें मुख्य रूप से गांधी, अम्बेडकर एवं महात्मा फूले का नाम गौरव के साथ ले सकते हैं ।

2.1. महात्मा गांधी और दलित उत्थान :

दलितों के लिए हरिजन शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम महात्मा गांधी ने किया । उन्होंने जीवन भर हरिजनों की दशा सुधारने का भरसक प्रयत्न किया और उन्हें पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई । गांधी जी हरिजनोत्थान को देश सेवा का एक अनिवार्य अंग मानते थे । सन् 1930 के बाद तो

---

1. भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या - जगजीवन राम -पृ. 76

गांधी जी ने दलितोत्थान को ही अपना मुख्य लक्ष्य बनाया । इसके लिए 1933 में उन्होंने हरिजन सेवक संघ की स्थापना की । उन्होंने देश भर में हरिजन सेवक संघ की शाखाएं स्थापित की तथा देश भर भ्रमणकर दलितोत्थान के लिए धन एकत्रित किया । हरिजन नाम्क एक पत्र का प्रकाशन किया गया ।

हरिजनों के लिए एकत्रित किए गए धन से उन्होंने हरिजनों की शिक्षा तथा उनकी आर्थिक उन्नति के कार्य किये । उन्होंने मन्दिरों के पट, जो केवल सवर्णों के लिए खुले थे, हरिजनों के लिए खुलवाए । हरिजनों के प्रति समाज में जो घृणा और तिरस्कार की भावना थी उसे समाप्त करने के लिए गांधी जी ने अपने तरीके से प्रयास किये । उनका यह तरीका समाज शास्त्रीय न होकर आध्यात्मवादी तरीका था । वे लोगों में चेतना को जगाना चाहते थे ।

गांधी जी एक आध्यात्मवादी पुरूष थे । वे मानव-मानव और आत्मा - आत्मा में कोई भेद नहीं मानते थे । इस आधार पर समाज के सबसे पिछड़े और अविवेकपूर्ण घृणा के पात्र हरिजन को उन्होंने अपने बराबर माना । उन्होंने स्पष्ट शब्दों में उद्घोषणा की 'यदि मुझे अगला जन्म मिले तो हरिजन के घर में मिले ।' आध्यात्मिक आधार पर ही उन्होंने दलितों को हरिजन की संज्ञा दी थी ।

महात्मा गांधी अपने आश्रम में रहने वाले व्यक्तियों से हरिजन का कार्य कराते थे । गांधी जी की विचार-धारा ठोस सैद्धान्तिक आधार पर अवलम्बित होने के कारण लोगों को उनके अनुयायी बनने को प्रेरित करती थी और उनके अनुयायिओं को उनके साथ - साथ हरिजनों

की बस्तियों में जाना होता था । इस प्रकार गांधी जी एक आध्यात्मिक आधार पर दलितों व सवर्णों के बीच सेतु बने हुए थे ।

गांधी जी स्वयं आश्रम में झाड़ू लगाने का कार्य भी उसी तन्मयता से करते थे , जिस तन्मयता से वे प्रार्थना करते थे । इस प्रकार वे "कर्म ही पूजा" है के आदर्श वाक्य को जीवन में उतार कर दिखाते थे ।

सन् 1937 में जब राज्यों में कांग्रेस की अन्तरिम सरकारें बनी तो गांधी जी की प्रेरणा से उन्होंने दलितों के उत्थान के कार्य किये ।

महात्मा गांधी आत्मिक भक्ति के उपासक थे । उनकी आत्मिक शक्ति हृदय परिवर्तन में विश्वास करती थी । इसी कारण डा० अंबेडकर जैसे व्यावहारिक सिद्धांतों पर विश्वास करने वाले दलित नेता से दलितोद्धार को लेकर उनके मतभेद हुए । यह अच्छा ही हुआ कि इस मतभेद के कारण पूना पैक्ट हो गया । अन्यथा जैसे गांधीजी की सवा सौ साल जीने और उनकी लाश पर पाकिस्तान बनने जैसी भविष्वाणियां गलत सिद्ध हुई, वैसे ही छुआछूत और ऊंच-नीच मिटाने की बात भीकोई ठोस आधार पाने से रह जाती है ।

महात्मा गांधी का अस्पृश्यता निवारण संबंधी एक कथन है - "अस्पृश्यता कानून के बल से भी दूर नहीं होगी । वह तभी दूर होगी जब हिन्दुओं का बहुमत इस बात को अनुभव कर ले कि अस्पृश्यता ईश्वर और मनुष्य के विरूद्ध अपराध है और इसके लिए वह लज्जित हो । दूसरे शब्दों में वह हिन्दुओं के हृदय परिवर्तन अर्थात हृदय शुद्धि की एक क्रिया है ।"[1] और हृदय परिवर्तन कोई सहज बात नहीं ।

---

1. हरिजन सेवक - 23-9-1939 - पृ॰ 255

2.2. ज्योतिबा फुले :

महाराष्ट्र में उन्नीसवीं शताब्दी में जन समाज सुधारकों ने महिलाओं, पिछड़े वर्ग एवं अछूत लोगों में अधिकारों की चेतना जगाने और उन्हें ऊपर उठाने का प्रयत्न किया उनमें ज्योतिबा फुले का महत्वपूर्ण स्थान है । महात्मा फुले पहले व्यक्ति है जिन्होंने महिलाओं के लिए महाराष्ट्र में पहला विद्यालय स्थापित किया ।

जन्मके आधार पर जाति और जाति के आधार पर मनुष्य,मनुष्य के बीच ऊँच-नीच बरतने वाली पारम्परिक समाज व्यवस्था को ज्योति बा सरासर अन्याय परक मानते थे । इस अन्यायपरक व्यवस्था का समर्थन करनेवाली मनुस्मृति की उन्होंने कटु आलोचना की । "ब्राह्मण सदैव ब्राह्मण रहेगा' और 'शूद्र सदैव शूद्र" इस परम्परा की पुष्टि करने वाले ग्रन्थों व मतों के विरोध में उन्होंने लेखन एवं आन्दोलन किया ।

शिम्पी, कुम्हार, चमार, कोली, महार, माली, मांग आदि निम्न वर्गीय जातियों के उत्थान के लिए ज्योति बा ने जीवन भर कार्य किया । उन्होंने इनके लिए विद्यालय स्थापित किए, शूद्रों को अपने विरुद्ध हो रहे अन्याय के विरुद्ध लड़ने के लिए तैयार किया ।

डा० अम्बेडकर ने जिन महापुरूषों से प्रेरणा प्राप्त की, उनमें महात्मा फुले भी एक है । डा० अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक "हू वर दे शूद्राज", महात्मा फुले को इन शब्दों के साथ समर्पित किया है -"आधुनिक भारत के

महान शूद्र महात्मा ज्योति बा फूले {1829-1890} की स्मृति में जिन्होंने निम्न वर्गीय हिन्दुओं की अन्तरात्मा को उच्च वर्ण के दलन के विरूद्ध जगाया और इस मत का प्रतिपादन किया कि भारत के लिए विदेशी शासन से मुक्ति का प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि सामाजिक प्रजातंत्र का प्रश्न ।"[1]

2.3. डा० भीमराव राम जी अम्बेडकर :

डा० अम्बेडकर अपने उच्च व्यक्तित्व और कृतित्व के कारण दलितों के मसीहा के रूप में याद किये जाते हैं। वे स्वयं दलित वर्ग से संबंधित थे । अपने व्यक्तित्व को उन्होंने इतनी उच्चता प्रदान की जिससे वे दलित वर्ग के आदर्श पुरूष के रूप में समादृत हुए । दलित वर्ग के लिए भारतीय संविधान में विशेष प्रावधान किए जाने में भी उनका बहुत बड़ा योगदान रहा है।

डा० अम्बेडकर ने दलितों की नैतिक, आर्थिक उन्नति के लिए "बहिष्कृत हितकारी सभा" की स्थापना की । 1927 में अछूतों व अन्य हिन्दुओं के बीच सामाजिक समानता लाने के लिए "समाज समता संघ" की स्थापना की । 1942 में "अनुसूचित जाति फेडरेशन" नामक राजनीतिक दल का गठन किया । 1945 में उन्होंने "पीपुल्स एज्यूकेशन सोसाइटी" की स्थापना की । इस सोसाइटी ने बम्बई राज्य में अनुसूचित जाति छात्रों के लिए नई कालेजों का संचालन किया ।

सन् 1925 से 1930 के बीच उन्होंने अछूत छात्रों के लिए चार छात्रावास चलाने आरंभ किए । 1927 में उन्होंने "बहिष्कृत भारत" नामक पाक्षिक पत्र प्रकाशित किया । इसी वर्ष उन्होंने मंगड में "चवदार

---

1. हू वर द शूद्राज - डा० बी० आर० अम्बेडकर - समर्पित शब्द ।

तलेन" नामक सार्वजनिक तालाब से अछूतों को पानी भरने के नागरिक अधिकार प्राप्त के लिए सत्याग्रह किया । इस घटना से संबंधित मुकदमे में बम्बई हाईकोर्ट में सन् 1937 में उनको विजय मिली । 1930 में नासिक में मन्दिर प्रवेश के लिए सत्याग्रह किया ।

सन् 1931 में गांधी जी की इच्छा के विपरीत उन्होंने गोलमेज सम्मेलन में अछूतों के लिए पृथक मतदान अधिकार की मांग की । 1946 में अनुसूचित जाति के लिए सरकारी सेवाओं में आरक्षण व विशेष आर्थिक सहायता प्राप्त करने में वे सफल हुए ।

हिन्दू धर्म की अन्यायपरक ऊंच-नीच व छुआछूत की सामाजिक परम्परा से विक्षुब्ध होकर 1935 में उन्होंने नासिक जिले के येवला में सार्वजनिक रूप से हिन्दू धर्म त्याग देने की घोषणा की । तत्पश्चात वे बौद्ध हो गए । डा० अम्बेडकर जैसे विद्वान, न्यायविद और समाज सुधारक द्वारा इस प्रकार हिन्दू धर्म का त्याग करना हिन्दू धर्म की घोर विसंगतियों और सामाजिक पाखण्ड की एक तीव्र प्रतिक्रिया थी । जिस व्यक्ति में भारत का संविधान रचने की सामर्थ्य थी उसे मात्र इसी कारण एक निरक्षर भट्टाचार्य एवं संस्कारहीन ब्राह्मण से नीचा माना जाता रहा कि वह एक महार के घर पैदा हुआ है । इससे बड़ा सामाजिक अन्याय और क्या होगा और इस अन्याय का प्रतिकार डा० अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म का त्याग करके किया था ।

डा० अम्बेडकर दलितों के लिए एक इतिहास पुरूष और मसीहा के रूप में अवतरित हुए थे, यह कहना अतिशयोक्ति न होगी ।

इस तरह हम गांधी एवं डा० अम्बेडकर के व्यक्तित्व एवं सिद्धांत के अंतर को देख सकते है । गांधी जी उदार एवं आध्यात्मवादी थे । अम्बेडकर जुझारू एवं क्रांतिकारी थे ।

3. अस्सी पूर्व उपन्यास-प्रेमचन्द्र एवं दलित समाज :

स्वातंत्र्यतापूर्व हिंदी उपन्यासों में दलित जीवन को आधार बनाया जाता था । मगर उनमें गांधी जी के सुधारवादी विचारों का प्रतिबिम्ब ज्यादा देखने को मिलता है । हर उपन्यास का जुझारू नायक अंत में समझौता कर लेता था । इस दृष्टि से प्रेमचन्द पहले उपन्यासकार हैं, जिन्होंने दलित जीवन की पीड़ा को आधार बनाकर उपन्यास लिखे । प्रेमचन्द वास्तव में सामाजिक उपन्यासकार है । सामाजिक उपन्यासकार इस नाते है कि अपनी रचनाओं में उन्होंने जीवन के सामाजिक संदर्भ को अंकित किया है । "अपनी रचनाओं की लोकयात्रा के लिए आलोक स्तंभ के रूप में पेश किया है ।"[1] "प्रेमचन्द अपने युग की जड़ता को तोड़ उसमें एक प्रकार की गति लाने की चेष्टा कर रहे हैं ।"[2] "प्रेमचन्द की मौलिकता सदा समय के स्वर और आवश्यकता को पहचानने में रही है और प्रमुख लेखकों में स्वातंत्र्य संग्राम को कलम से लड़ने वाले प्रथम लेखक तो वे थे ही ।"[3] "प्रेमचन्द हिंदी उपन्यासों के गांधी है ।"[4]

"प्रेमचन्द प्रथम भारतीय लेखक हैं, जो अवर्णों और सवर्णों के बीच रोटी - बेटी सम्बन्ध स्थापित करते है । रोटी का संबंध कर्मभूमि में स्थापित होता है और बेटी का सम्बन्ध गोदान में बुनियादी सवाल है कि प्रेमचन्द के सम्पूर्ण गल्प साहित्य में कोई किसी ब्राह्मणी को क्यों नहीं ब्याहता है ? क्यों गोदान में पं0 मातादिन अंत में सिलिया चमारिन को ब्याहता के रूप में रख लेता है ? यह आज भी एक क्रांतिकारी उद्भावना

- -

1. हिंदी साहित्य का इतिहास -आचार्य नंददुलारी वाजपेयी-पृ. 197-198
2. प्रेमचंद चिंतन और कला-सं. डा0 इन्द्रनाथ मदान-पृ. 242
3. प्रेमचन्द के साहित्य सिद्धांत - नरेन्द्र कोहली - पृ. 62
4. हिंदी उपन्यास - सुरेश सिन्हा - पृ. 138

है । वे सामाजिक क्रांति को अपने गल्प का मुख्य मुद्दा बनाते है । ...... ब्राह्मण के साथ रोटी - बेटी का सम्बन्ध स्थापित होने में हजारों हजार वर्षों से दलित शोषित वर्ग का दिवास्वप्न चित्रित हुआ है ।...... अस्पृश्यता जीवन से संबंधित प्रेमचन्द के गल्पों में यही शक्ति समाविष्ट है ।"1

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में स्वतंत्रता आन्दोलन के चित्रण के साथ - साथ समाज के उपेक्षित, जिनमें शूद्र (दलित) और सर्वहारा (किसान मजदूर आते है) का भी चित्रण किया है । वेश्यावृत्ति, विधवा विवाह, बेमेल विवाह, छुआछूत, ऊंच-नीच, गरीबी, अशिक्षा, अन्ध - विश्वास, आड़म्बर, पाखण्ड आदि विषयों पर प्रेमचन्द की लेखनी चली । समस्याओं का समाधान, शुरू में, उन्होंने आदर्शवादी और गांधीवादी तरीके से किया, लेकिन उनका उपन्यास लेखन ज्यों ज्यों प्रौढ़ता प्राप्त करता गया, त्यों त्यों यथार्थ की ओर उनका झुकाव बढ़ता चला गया और आदर्श के प्रति आग्रह घटता चला गया । गोदान इसका स्पष्ट उदाहरण है ।

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासों में दलित वर्ग को कोई सहानुभूति प्राप्त नहीं हुई वरन् किशोरीलाल गोस्वामी और लज्जाराम मेहता ने तो अपने उपन्यासों में यह मत प्रतिपादन किया कि अछूतों के अछूत बने रहने में ही समाज का हित है । प्रेमचन्द पहले उपन्यासकार थे, जिन्होंने दलित वर्ग को लेखकीय न्याय प्रदान किया है । छुआछूत, ऊंच-नीच, जाति भेद जैसे सामाजिक दुराग्रहों के साथ साथ दलित वर्ग की सामाजिक

---

1. आलोचना (त्रैमासिक) उपन्यास अंक (64-65) जनवरी - जून, 83 पृ. 96 - डा० विजेन्द्र नारायण सिंह

आर्थिक समस्याओं का समाधान भी किया है । प्रेमचन्द की "सद्गति", "ठाकुर का कुंआ", एवं "कफ़न" आदि कहानियों का कथ्य एवं चित्रण परिपुष्ट होकर उनके उपन्यासों में समाहित हुआ है ।

अछूतोद्धार एवं अन्यायपरक अन्ध परम्पराओं से भारतीय समाज को मुक्ति दिलाने के आग्रह का क्रमिक विकास प्रेमचन्द के उपन्यासों में सहज रूपमें दिखाई देता है ।

3.1. बेगारी प्रथा का जीवन्त चित्र : "प्रेमाश्रम" :

"प्रेमाश्रम" में कुछ स्थलों पर दलित वर्ग का चित्रण मिलता है । सामन्ती शासन में बेगार के रूप में हाकिमों के दौरे पर उनके घोडे के लिए घास छिलना चमारों का काम था । एक चपरासी इस काम के लिए भगत को पकड़ लेता है और कहता है --"घास चमार छीलते है ? यह हमारा काम नहीं ।"[1]

सरकारी बेगार में पारिश्रमिक मांगना एक प्रकार से अपराध था । तहसीलदार के दौरे पर चमारों द्वारा जब घास छीलने की मजदूरी मांगी जाती है तो तहसीलदार नाजिर को आदेश देता है -"आप मेरा मुंह क्या देखरहे हैं ? चपरासीयों से कहिए, इन चमारों की अच्छी खबर लें । यही इनकी मजदूरी है ।"[2] नाजिर के कहने पर चपरासियों ने बेगारों को घेरना शुरू किया । कान्स्टेबलों ने भी बन्दूकों के कुन्दे चलाने शुरू किए ।"[3]

---

1. प्रेमाश्रम - पृ. 274
2. -वही- पृ. 280
3. -वही- पृ. 280

दलित वर्ग का चित्रण इस उपन्यास में बेगारियों के रूप में हुआ है । बेगार प्रथा शासन की क्रूरतम अमानवीय एवं अन्यायपरक व्यवस्था थी । जिसमें दलित वर्ग से मनचाहा काम लिया जाता था और बदले में कुछ नहीं दिया जाता था । मजदूरी मांगने पर पिटाई की जाती थी ।

3.2. गांधी जी के विचारों का संवाहक - रंगभूमि :

'रंगभूमि' प्रेमचन्द का दो खण्डों में विभक्त बृहदाकार उपन्यास है । इसमें स्वतंत्रता के पूर्व की परिस्थितियों और स्वतंत्रता आन्दोलन का चित्रण विस्तृत फलक पर किया गया है । सम्पूर्ण उपन्यास गांधीवादी विचारधारा से अनुप्राणित है ।

रंगभूमि का नायक सूरदास जाति से चमार है । इस उपन्यास में दलित वर्ग के एक व्यक्ति को पहली बार नायकत्व प्राप्त हुआ है, लेकिन यहां सूरदास के माध्यम से दलित वर्ग की कथा नहीं कही जाती, उसे सम्पूर्ण पराधीन भारतीय जनता का प्रतिनिधि बनाया गया है ।

पूंजीपति जॉन सेवक सूरदास की खाली भूमि को खरीदकर उस पर सिगरेट का कारखाना स्थापित करना चाहता है । सूरदास सार्वजनिक उपयोग में आने वाली इस भूमि को किसी भी मूल्य पर बेचना नहीं चाहता । उसकी रक्षा के लिए वह संघर्ष करता है और शहीद होता है ।

सूरदास का नायकत्व एक विशेष महत्व रखता है । वह खेती मजदूरी नहीं करता इसलिए निडर है । वह जन्मान्ध भी है, इसलिए वह सब बेड़ियों से मुक्त है । वह अपनी जीविका के लिए होरी की तरह खेती पर आश्रित नहीं है । वह भीख मांगता है, इसलिए मुक्त भी है ।

"रंगभूमि का सूरदास डेढ पसली का आदमी है, लेकिन जब तनके खड़ा होता है तब ताकतवर पूंजीपति और सामन्त का कलेजा भी दहल जाता है ।"[1]

"रंगभूमि और कर्मभूमि" में प्रेमचन्द के पात्र लड़ते है और वे सब अछूत है । जो अछूत नहीं है, केवल किसान है, वे लड़ते नहीं वरन केवल भोगते है । होरी केवल भोगता है, लड़ता नहीं है । झुनिया को घर में रखने के लिए बिरादरी उसे दण्ड देती है और इस दण्ड को वह स्वीकार करता है । इसलिए अपने ही अस्तित्व को बचाए रखने के लिए वह व्यवस्था से अपने को बांध कर रखता है । होरी उस व्यवस्था का समर्थक है और रक्षक है जो व्यवस्था उसे जिन्दा चबा जाती है ।"[2]

"पाण्डेपुर में सूरदास की प्रतिमा स्थापित किये जाने के अवसर पर हुए प्रीतिभोज में सवर्ण, अछूत एक ही पंगत में बैठकर भोजन करते हैं । सूरदास की यह बड़ी नैतिक विजय थी । उसकी मृत्यु के बाद उसका बनाया जाने वाला स्मारक मरणोपरान्त आदान-प्रदान की जाने वाली भारतीय मनोवृत्ति का उपहासात्मक प्रतीक है ।"[3]

3.3. अछूतोद्धार की सार्थक अभिव्यक्ति - कर्मभूमि :

"कर्मभूमि" की गणना प्रेमचन्द के महत्वपूर्ण उपन्यासों में की जाती है । इसकी मूलकथा स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु चलाए जा रहे सत्याग्रह आंदोलन पर आधारित है । इसकी मुख्य समस्या स्वाधीनता की समस्या है ।

- -

1. आलोचना {त्रैमासिक} उपन्यास अंक - जनवरी-जून {64-65}
   आलोचक - विजेन्द्र नारायण सिंह - पृ. 96

2. -वही-

3. प्रेमचन्द -डा० प्रतापनारायण टण्डन -पृ. 37

अछूतों और किसानों की समस्याएं उसी का अंग बन कर आती है ।"[1] इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने हमारे समाज की आर्थिक विषमता का सच्चा चित्र खींचा है । उन्होंने एक ओर नगर के पूंजीपति और गांव के जमींदार वर्ग के ऐश्वर्य का स्वर्ग अंकित किया है और दूसरी ओर नगर के अछूत और गांव के किसान के जीवन के खण्डहरों को दिखाया है ।"[2] इस उपन्यास का मूल उद्देश्य स्वतंत्रता आन्दोलन के व्यापक पक्ष का चित्रण करना था । इसके साथ ही तत्कालीन सभी राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं को भी जोड़ दिया गया है ।" निर्धनों के आवास की समस्या,' अछूतोद्धार की समस्या एवं अछूतों का मन्दिर प्रवेश,' विदेशियों से भारतीय नारीत्व की मर्यादा एवं सतीत्व की रक्षा का प्रश्न,' पुनर्जागरण एवं नवीन चेतना,' ब्रिटिश साम्राज्यवाद का दमन चक्र तथा धार्मिक पाखण्ड एवं राष्ट्र सेवकों की पारिवारिक समस्याएँ इस उपन्यास में यथार्थवादी ढंग से चित्रित हुई है । इन समस्याओं का चित्रण इतना सहानुभूति से प्रेरित है कि पढ़ते समय तत्कालीन राष्ट्रीय सत्याग्रह आन्दोलन आंखों के सामने सजीव हो उठता है । इसमें अछूत समस्या राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन से सम्बद्ध है ।"[3]

प्रेमचन्द की स्वतंत्रता संबंधी दृष्टि गांधी जी को आदर्श मान कर चली है । अतः सहज स्वाभाविक था कि वह स्वतंत्रता और समाज सुधार को एक ही सिक्के के दो पहलू स्वीकारते हैं । उनकी यह स्वीकारोक्ति "कर्मभूमि" उपन्यास में स्पष्ट दिखती है । अतः इसमें अछूतोद्धार

- -

1.' उपन्यासकार प्रेमचन्द - एक सर्वेक्षण -डा० सुरेश चंद्र गुप्त-पृ॰ 101

2.' प्रेमचन्द उपन्यास और शिल्प - हरस्वरूप माथुर - पृ॰ 142

3.' प्रेमचन्द और गबन - डा० सत्येन्द्र पारीक

समस्या को भी प्रमुखता प्राप्त हुई । इस उपन्यास में उन्होंने अछूत समस्या के सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक पक्षों की विस्तृत व्याख्या की है ।

"अछूतोद्धार से संबंधित जो विचार प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में प्रस्तुत किए हैं, वे गांधीवादी दृष्टिकोण से प्रभावित हैं । अछूतों के मंदिर प्रवेश से संबंधित जो संघर्ष इस उपन्यास में दिखाया गया है वह धार्मिक मनोवृत्ति की संकुचितता का सूचक है । सुधारवाद का झूठा नारा लगाने वाले सामान्य लोग भी इतने सहिष्णु नहीं होते कि निम्न वर्गों को अपने बराबर स्थान दे सके । इसीलिए अछूत वर्ग की समस्या एक रोग की भांति फैलती जाती थी । इसके अतिरिक्त अछूत समस्या का एक महत्वपूर्ण पक्ष आर्थिक भी है ।"[1] "उनका यह विश्वास था कि उनके जीवन में यातनाओं का होना ईश्वरीय विधान है और उनकी आत्मा में असंतोष ने भी संतोष का रूप ग्रहण कर लिया था । . . . धन के स्वामियों ने इन अछूतों को शोषण का केन्द्र बनाकर अपने हाथ पैरों को हिलाने की कसम खा ली थी । बेचारे घोर परिश्रम करके भी अपना पेट भरने में लाचार थे । . . . . धर्म के आधार पर जो वर्गीकरण था उनमें अछूत वर्ग ही ऐसे थे, जिनकी अवस्था अधिक दयनीय थी ।"[2]

अछूतों की निरक्षरता और कुसंस्कारों को हटाने के लिए कर्मभूमि में प्रेमचन्द ने गांधी जी के अछूतोद्धार से प्रेरणा ली है . . . प्रेमचन्द ने इस सामयिक समस्या को अपने उपन्यास में इस ढंग से उठाया है कि वह थोपी हुई प्रतीत नहीं होती है ।"[3]

- -

1. प्रेमचन्द - डा० प्रताप नारायण टण्डन - पृ. 66
2. प्रेमचन्द - और कर्मभूमि - श्रीराम वशिष्ट - पृ. 78
3. प्रेमचन्द और कर्मभूमि - श्रीराम वशिष्ट - पृ. 117

इस उपन्यास का एक प्रमुख पात्र अमरकान्त घर छोड़कर अछूतों की बस्ती में जा बसता है, जहां वह एक छोटी सी पाठशाला में उन्हें पढ़ाने लगता है । इस बीच उसकी पत्नी सुखदा अछूतों के मंदिर प्रवेश के लिए सत्याग्रह में भाग लेती है । जिस गांव में अमरकान्त जन सेवा का काम करता है, उस इलाके के जमींदार एक महंत जी हैं, जो ठीक "सेवा सदन" के महन्त श्री बांके बिहारी लाल का दूसरा संस्करण है । इस शोषण से किसानों की आर्थिक दशा बिगड़ जाती है और अमरकान्त लगानबन्दी का आन्दोलन चलाता है । आन्दोलन आगे बढ़ता और सफल होता है ।

गंगा के किनारे स्थित रैदास परिवारों का एक छोटा सा गांव है । घर छोड़ने के बाद अमरकान्त यहीं आकर रहता है । एक संभ्रात और कुलीन युवक को अपने गांव में टिकते देखकर सलोनी काकी को आश्चर्य होता है, पर अमर उसे विश्वास दिलाता है कि वह जात पांत को नहीं मानता है -" मैं जात पांत नहीं मानता माता जी । जो सच्चा हो, वह चमार भी हो, आदर के योग्य है । जो दगाबाज़, झूठा, लम्पट हो, वह ब्राह्मण भी हो तो आदर के योग्य नहीं है ।"[1]

अछूत और दलित वर्ग की जितनी भयावह स्थिति गांव में है वैसी ही नगरों में है । उनके रहने के स्थान साक्षात नरक है । इस उपन्यास में दलित वर्ग की इस समस्या को भी उठाया गया है । म्युनिसिपल बोर्ड और उसके कर्णधार केवल धनिकों की सेवा करने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझलेते है । गरीबों की झोपड़ियों की ओर कोई ध्यान नहीं देता है । इसमें प्रथम बार सभी दलित जातियां संगठित होकर आन्दोलन

- -

1. कर्मभूमि - पृ. 148

करती है । सब अपनी पंचायत करके संघर्ष की तैयारी करते है । सभी मिलकर हड़ताल का फैसला करते है । हड़ताल से पूर्व अफसरों से प्रार्थना करते हैं लेकिन सारे प्रयत्न विफल हो जाते हैं । अछूतों को अपने स्वत्व का ज्ञान हो गया है । ये अन्याय और उपेक्षा सहने को तैयार नहीं है । मुरली विद्रोह स्वर में कहता है -"किसी को तो महल और बंगला चाहिए, हमें कच्चा घर भी न मिले . मेरे घर में पांच जने है, उनमें से दो चार आदमी महीने भर से बीमार है । उस काल कोठरी में बीमार न हो तो क्या है । सामने से गंदा नाला बहता है । सांस लेने में नाक फटती है ।"।

इस उपन्यास में अछूतों की संगठित शक्ति के सामने अधिकारियों को झुकना पड़ता है । उनकी मांगे मान ली जाती है । आर्थिक स्वावलम्बन के लिए इसमें जितना तीव्र संघर्ष हुआ है, वह प्रेमचन्द युग के किसी उपन्यास में नहीं मिलता है । इसमें शोषित वर्ग सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक क्षेत्र में समानता प्राप्त के लिए संगठित संघर्ष करते है ।

इस उपन्यास में प्रेमचन्द गांव के अछूत समस्या को आर्थिक शोषण से सम्बद्ध करके देखते है । उनके चित्रण से स्पष्ट हो जाता है कि शराबबन्दी, मुर्दामांस खाने की प्रथा के सुधार और शिक्षा प्रचार से ही अछूतों की समस्या का हल नहीं होगा । भारत की शेष शोषित जनता के समान ही अछूतों की मूल समस्या भी मूलतः आर्थिक है । इसी कारण कर्मभूमि के चमार दूसरे किसानों से कंधे से कंधा मिलाकर जमींदारों और नौकरशाही के अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष करते हैं ।

---

1. कर्मभूमि - पृ. 267

वर्ग, रंग और जाति के आधार पर सामाजिक भेदभाव विश्व के और भी अनेक देशों में पाया जाता है, परन्तु भारत में धर्म के नाम पर करोड़ों लोगों को मध्ययुगीन दासों की भांति जीवन व्यतीत करने को बाध्य किया जाता रहा है । इस प्रकार कोई दूसरा उदाहरण दुनिया के किसी देश में नहीं मिल सकता है । इस कलंक को धोने की दिशा में सक्रिय रूप से सामाजिक और राजनैतिक प्रयत्न 1830 के लगभग ही प्रारंभ हुए है । "कर्मभूमि" (1932) में इन प्रयत्नों की झांकी मिलती है ।"[1]

"इस उपन्यास में विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक समस्याओं का एक साथ उद्घाटन किया गया है । अछूतों का मंदिर प्रवेश, राजनीतिक प्रजा जागरण, सरकारी दमन, धार्मिक पाखण्ड, आर्थिक शोषण, शैक्षणिक समस्या, किसानों की समस्या, दाम्पत्य संबंधी अनेक प्रश्नों को उठाया गया है और इन प्रश्नों के समाधान की ओर लेखक ने संकेत द्वारा अपने दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है ।"[2]

इस उपन्यास में अछूतोद्धार के दो केन्द्र है - शहर और गांव । नगर में इस आन्दोलन का सूत्रपात मन्दिर प्रवेश के प्रश्न को लेकर होता है, लेकिन धीरे धीरे यह आर्थिक और राजनैतिक रूप धारण कर लेता है । धार्मिक समानता के पक्ष को लेकर आरंभ होने वाला यह लघु आंदोलन अनुकूल परिस्थितियां पाकर विशाल जन आन्दोलन का रूप धारण कर लेता है । मन्दिर प्रवेश का प्रश्न गौण हो जाता है तथा अच्छे मकान और आवास की समस्या मुख्य हो जाती है ।

- -

1. हिंदी उपन्यास सामाजिक चेतना - डा0 कुंवरपाल सिंह - पृ. 94

2. हिंदी उपन्यास - सुषमा धवन - पृ. 39

अछूत वर्ग में चेतना की आग भड़कती जा रही है । अब संघर्ष सामाजिक, धार्मिक समस्याओं तक सीमित नहीं है बल्कि आर्थिक प्रश्नों तक पहुंच गया है। अमीर और गरीब अब तक ईश्वर के विधान के अंतर्गत आते थे, पूर्व जन्मों के कर्मों के कारण लोग दरिद्र और धनवान होते थे, लेकिन वर्ग चेतना के कारण यह विश्वास ध्वंस कर दिया गया है । ईश्वर और धर्म के नाम पर किये जा रहे प्रत्येक अन्याय, शोषण और अनीति का शोषित लोग सक्रिय होकर विरोध कर रहे है । इनके वर्ग चेतना और वर्ग संघर्ष बहुत तीव्र हो गया है । चमारों का चौधरी गूदड पूर्व जन्म के फलों के संस्कारवादी सिद्धांतों का विरोध करता है ।

"ये सब मन को समझाने की बाते हैं बेटा, जिससे गरीबों को अपनी दशा पर सन्तोष रहे और अमीरों के राग रंग में किसी तरह की बाधा न पड़े । लोग समझते हैं कि भगवान ने हमको गरीब बना दिया । आदमी का क्या दोष ? पर यह कोई न्याय नहीं है कि हमारे बाल बच्चे तक काम में लगे रहे और भोजन न मिले और एक एक अफसर को दस दस हजार की तलब मिले ।"[1]

गांधीवाद से प्रेरणा लेकर भी प्रेमचन्द उसकी सीमाओं से आगे जाते है । यदि अछूतोद्धारा की बात की जाए तो गांधी जी के सुधावादी अछूतोद्धारा से प्रेमचन्द का अछूतोद्धार बुनियादी तौर पर भिन्न है । गांधी जी अछूतों के लिए नागरिक अधिकार मांगते थे,लेकिन उनकी दीन दशा में निहित आर्थिक शोषण को नहीं देखते थे ।प्रेमचन्द यथार्थवादी होने के नाते इस आर्थिक शोषण को भी देखते है और अछूतोद्धार को

- -

1. कर्मभूमि - पृ॰ 157

महज शहरों तक सीमित रखने केबजाय देहात में भी ले जाते हैं । चमार असामियों और खेत मजदूरों के शोषण को भी दर्शाते हैं ।

इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने ग्राम और शहर दोनों ही मोर्चों पर दलित वर्ग को अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करते हुए चित्रित किया है । उसके पीछे वह यह स्पष्टकरना चाहते थे कि सामाजिक और आर्थिक दोनों ही लड़ाइयां लड़ना आवश्यकहै, साथ ही गांधीवादी रास्तों,ही इस संघर्ष के लिए उपयुक्त समझते थे ।

प्रेमचन्द इस उपन्यास में यथार्थवादी ढंग से सोचते हैं । आर्थिक समानता पाए बिना, धार्मिक समानता बेमानी है । अत: उन्होंने दलितों के मन्दिर में प्रवेश कराने के साथ साथ जमींदार से अपने अधिकारों के लिए लड़ते हुए भी दिखाया है । इस दृष्टि से "कर्मभूमि" हिंदी उपन्यासों में विशिष्ट स्थान रखता है ।

3·4· अंतर्जातीय विवाह की आरंभिक बिन्दु - गोदान :

"गोदान" प्रेमचन्द जी की प्रौढ़तम कृति है । इस उपन्यास में उनका आदर्श के प्रति मोहभंग स्पष्ट परिलक्षित होता है । उपन्यास की कथा भारत में आर्थिक दृष्टि से जर्जर उस किसान की कथा है जिसके मानस पर कई प्रकार के बोझ लदे हैं । कथानायक होरी के माध्यम से भारतीय कृषक की इस करूण कथा को लेखक ने बखूबी कहा है ।

इस उपन्यास में दलित वर्ग का चित्रण मातादीन - सिलिया की कथा के माध्यम से हुआ है । सिलिया चमारन की कथा मूल कथा के विकास

में सहायक होती हुई भी उसके समानान्तर चलती है । लेखक की लेखनी सिलिया की कथा का चित्रण करते समय मूल कथा के विकास की अपेक्षा सवर्ण असवर्ण की समस्या को उठाने तथा उसे मार्मिक रूप में चित्रित करने में अधिक रमी है ।

लेखक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि असवर्ण नारी की स्थिति अत्यन्त ही दयनीय है । जो सवर्ण दिन के उजाले में उनकी छायामात्र से बचकर चलते हैं वे ही रात के अंधेरे में उन्हें अपनी अंकशायिनी बनाने में जरा भी नहीं हिचकिचाते हैं। असवर्ण नारी सवर्ण हिंदू की दृष्टि में केवल भोगलिप्सा का साधन मात्र है । मातादीन झिंगुरी सिंह द्वारा व्यंग किए जाने पर कहता है .....और फिर मेरा तो सिलिया से जितना उबार होता है, ब्राह्मण कन्या से क्या होगा ? वह तो बहुरिया बनी बैठी रहेगी । बहुत होगा रोटियां पका देगी । यहाँ सिलिया अकेले तीन आदमियों का काम करती है और मैं उसे सिवाय रोटियों के और देता क्या हूँ ..."[1] और दातादीन का बेटा मातादीन लेखक के शब्दों में..."सिलिया का तन और मन लेकर भी बदले में कुछ नहीं देना चाहता था । सिलिया अब उसकी निगाह में काम करने की मशीन थी और कुछ नहीं । उसकी ममता को वह बड़े कौशल से नचाता था ।"[2]

मातादीन का सिलिया से अवैध संबंध है । उससे उसे एक अवैध पुत्र भी है लेकिन इस स्थिति में भी वह उससे शादीकरने को तैयार

- -

1. गोदान - पृ. 205-5।

2. -वही- पृ. 25।

नहीं है । निरन्तर शारीरिक सम्बन्ध रखने पर उसके ब्राह्मणत्व पर कोई आंच नहीं आती किन्तु उसी औरत से शादी करने पर ब्राह्मणत्व नष्ट होने का खतरा है । उच्च वर्ण की इस दुहरी नैतिकता पर प्रेमचन्द व्यंग्य करते है ।"[1]

"तुम बड़े नेमी धरमी हो, उसके साथ सोओगे लेकिन उसके हाथ का पानी नहीं पिओगे । यही चुड़ैल है कि यह सब सहती है, मैं तो ऐसे आदमी को माहूर दे देती ।"[2]

जिस मातादीन ने दो साल पहले जनेऊ हाथ में लेकर कहा था - "सिलिया, जब तक दम में दम है तुझे ब्याहता की तरह रखूंगा ।"[3] वही मातादीन सिलिया के आहत गर्व से पूछे गये इस प्रश्न पर "तुम्हारी चीज में मेरा कोई अख्तियार नहीं । काम करती है खाती है । जो तू चाहे खाया भी, लूटा भी, तो यह यहां नहीं होगा । अगर तुझे यहां परता न पड़ता हो, कहीं और जाकर काम कर, मजूरों की कमी नहीं है ।"[4]

इस प्रकार मुट्ठी भर अनाज के लिए वह न केवल सिलिया का पानी उतार लेता है वरन् नारी, जो प्रेम कर सकती है, बदले में सबकुछ त्याग कर सकती है, के विश्वास को भी खण्ड खण्ड कर देता है, जिसके आधार पर वह अपना जीवन तक दांव पर लगा देती है ।

उसके पिता हरखू तथा उसकी बिरादरी वाले चमार सिलिया के इस अपमान का बदला यह कह कर लेते है --"तुम हमें ब्राह्मण नही बना

- -

1. हिंदी उपन्यास सामाजिक चेतना -डा0 कुंवरपाल सिंह-पृ॰ 99

2. गोदान -पृ॰ 261

3. गोदान -पृ॰ 262

4. - वही - पृ॰ 262

सकते तो मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते है । हमें ब्राह्मण बना दो सारी बिरादरी बनने को तैयार है । जब समरथ नहीं है तो फिर तुम भी चमार बन जाओ ।"[1] चमारों ने जो कुछ कहा वह सब करके भी दिखाया । मातादीन के मुंह में पकड़ कर हड्डी ठूंस दी और अपने ढंग से उसे चमार बना दिया । इतना सब होने और पिता की मार खाने पर भी सिलिया मातादीन की देहरी छोड़कर नहीं जाना चाहती । वह निर्लज्ज व धृष्ट बनकर भी मातादीन के साथ ही रहना चाहती है किन्तु मातादीन किसी तरह उसे अपनाना नहीं चाहता ।

सिलिया को होरी के घर में शरण मिलती है । मातादीन का पुत्र जनने के बाद सिलिया का घर मातादीन के लिए एक मंदिर बन जाता है ।

अछूत को ब्रहाम्ण बनने का अधिकार नहीं है, लेकिन किसी सवर्ण हिन्दू के कुकर्म करने पर तथा धर्मभ्रष्ट करने पर पुनः जाति विशेष में प्रवेश पाने की व्यवस्था है ।

"मातादीन को कोई सो रूपया खर्च करने के बाद अन्त में काशी के पंडितों ने फिर से उसे ब्राह्मण बना दिया । उस दिन बड़ा भारी हवन हुआ, बहुत से मंत्र और श्लोक पढ़े गये । मातादीन को शुद्ध गोबर और गोमूत्र खाना पीना पड़ा । गोबर से उसका मन पवित्र हो गया । मूत्र से उसकी आत्मा में अशुचिता के किटाणु मर गये ।"[2]

- -

1. गोदान - पृ. 253

2. गोदान - पृ. 357

मातादीन का मन इस शुद्धि से सन्तुष्ट नहीं होता है । उसके भीतर रूढ़िवादी समाज धर्म और मानव धर्म में संघर्ष होता है और मानव धर्म की विजय होती है । मातादीन रूढ़िवादी धर्म त्याग कर सिलिया को स्वीकार करता है और पाठकों के सम्मुख अनुभूत सत्य रखता है ।

"मैं ब्राह्मण नहीं चमार ही रहना चाहता हूँ, जो अपना धर्मपाले वही ब्राह्मण है, जो धर्म से मुह मोड़े वही चमार है ।"[1] अछूतों को समाज में प्रतिष्ठित करने के लिए आवश्यक था कि उनसे शादी संबंध भी हो । प्रेमचन्द ने गोदान में यह कर दिखाया ।

"मातादीन अपना यज्ञोपवीत उतार कर गंगा में विसर्जित कर देता है और पक्का खेतीहार बन जाता है ।"[2] उसमें हर दृष्टि से परिवर्तन होते हैं । वह सिलिया से अपने स्वार्थमय और अन्यायपूर्ण व्यवहार के लिए क्षमायाचना करता है ।"[3]

"मातादीन का यह हृदय परिवर्तन प्रेमचन्द द्वारा गांधीवाद की स्वीकृति है । अछूतों को समाज में प्रतिष्ठित कराने के लिए यह आवश्यक है कि उनके विवाह सम्बन्ध उच्च वर्ग वालों के साथ हो । लेकिन प्रेमचन्द का यह समाधान व्यक्तिगत है । सिलिया से शादी करने पर मातादीन ब्राह्मण नहीं रह पाता । ब्राह्मणत्व उसे और वह ब्राह्मणत्व को तिलांजली दे देता है । वह स्वयं चमार हो जाता है, लेकिन सिलिया को ब्राह्मण वर्ग में स्थान दिलाने में असमर्थ रहता है ।"[4]

- -

1. गोदान - पृ० 357
2. गोदान - पृ० 345
3. गोदान - पृ० 349
4. हिंदी उपन्यास - सामाजिक चेतना - डा० कुंवरपाल सिंह-पृ० 100

प्रेमचन्द ने सिलिया की अवतारणा और सिलिया मातादीन संबंध के माध्यम से दलित वर्ग के आर्थिक, सामाजिक, दैहिक एवं भावनात्मक शोषण परक सवर्णों की दोहरी नैतिकता को अभिव्यक्ति दी है । मातादीन सिलिया को केवल पेट भरने जितना अनाज देता है बदले में उसके तन और मन दोनों का श्रम लेकर शोषण करता है ।

मातादीन को सिलिया से सम्बन्ध रखने के कारण प्रायश्चित करके अपनी शुद्धि करानी पड़ती है । शुद्धि के पश्चात उसे आत्मज्ञान होता है कि शुद्धि मात्र ढकोसला है । अंत में वह मानवीय संबंधों को महत्व देता हुआ सिलिया को अंगीकार कर लेता है । इस अंत के द्वारा लेखक ने जाति पांति से जुड़े धार्मिक अंध विश्वास एवं पौरोहित्य की व्यर्थता सिद्ध की है । इस घटना के जरिए प्रेमचन्द ने गांधीवाद के हृदय परिवर्तन सिद्धांत की भी पुष्टि की है ।

प्रेमचन्द ने सिलिया और मातादीन संबंध के माध्यम से सवर्ण और दलितों में विवाह संबंध स्थापित कराया है । इस दृष्टि से "गोदान" एक विशिष्ट और स्मरणीय उपन्यास है ।

3.5. दलित के सफल नेतृत्व का प्रवर्तन -"बुधुआ की बेटी":

पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र" ने दलित के सफल नेतृत्व का प्रवर्तन "बुधुआ की बेटी" में किया है । "उग्र" जी का यह उपन्यास पहले 1928 में "बुधुआ की बेटी" नाम से कलकत्ता से तथा बाद में मनुष्यानन्द के नाम से मिर्जापुर से प्रकाशित हुआ । यह हिन्दी साहित्य का पहला उपन्यास है जिसमें समाज की सबसे दलित और अछूत भंगी जाति की पात्री

को नायिका का स्थान प्राप्त हुआ है । असवर्ण जातियों में सबसे नीची समझे जाने वाली जाति, भंगी जाति के चित्रण के साथ साथ समानता और अपने सेवा संबंधी अधिकारों के संघर्ष का चित्रण भी हिंदी साहित्य में प्रथम बार इसी उपन्यास में हुआ है ।

"उग्र" जी ने समाज के उस घोर यथार्थ का चित्रण किया है, जिसमें तत्कालीन समाज पतनोन्मुख हो रहा था । "उग्र" ने ही समाज के घृणित परिवेश का द्वार खोला था जिसमें मानवता अपने खण्डित रूप में करूण आर्तनाद कर रही थी ।"[1]

"बुधुआ की बेटी" की रधिया इस उपन्यास की नायिका है । उसी के आधार पर प्रथम प्रकाशन के समय उपन्यास का नामकरण "बुधुआ की बेटी" किया गया । बुधुआ जाति से भंगी है । रधिया की माँ एक हादसे का शिकार होकर उसे मातृहीन कर जाती है । पाखण्डी फकीरों के डेरे पर बुधुआ उसे पुत्र भाल के लालच में आयी अन्य अन्धविश्वासी स्त्रियों के साथ संदिग्ध अवस्था में देख लेता है और उसके दो मुस्टण्डे फकीरों के साथ हत्या कर देता है । फलस्वरूप बुधुआ को कारावास का दण्ड भोगना पड़ता है ।

अनाथ रधिया को हिन्दू समाज का सहारा नहीं मिलता । अघोरी मनुष्यानंद और मि॰ यंग उसकी आर्थिक सहायता करते है । रधिया सुन्दर है । उसके अनिंद्य सौन्दर्य को देखकर सवर्ण युवकों की लोलुप

- -

1. हिंदी उपन्यास - डा० सुरेश सिन्हा - पृ॰ 193

दृष्टि उस पर पड़ती है । विलासी युवक घनश्याम उसके सम्मुख प्रेम प्रदर्शन करता है, जिस पर वह विश्वास कर लेती है और अपनी झोंपड़ी छोड़कर घनश्याम के बाग में इस आशा और विश्वास के साथ पहुंचती है कि वह उसे पत्नी बनाकर सामाजिक सम्मान देगा, किन्तु घनश्याम तो केवल उसके रूप यौवन का भूखा था । यह कटु सत्य रधिया पर शीघ्र ही उजागर हो जाता है तो उसका भावुक हृदय टूक टूक हो जाता है और वह घनश्याम को छोड़कर चली जाती है । घनश्याम के इस आचरण के कारण उसे पुरूष वर्ग से घृणा हो जाती है और इसके प्रतिकार में वह अपने रूप यौवन पर पुरूष वर्ग को पतंगे की तरह जलाना आरंभ कर देती है ।

इस कथानक को आधार बनाकर "उग्र" जी ने अपनी प्रखर आलोचक दृष्टि से पाखण्डी हिन्दू समाज की अच्छी खबर ली है । वस्तुत: नारी और दलित जिसे शास्त्रों की भाषा में स्त्री और शूद्र कहा जाता है, दोनों को ही सदियों से सामाजिक दुरभिसन्धि का शिकार होना पड़ा है । इन्हें सेवा के अतिरिक्त कोई अधिकार अन्यायपरक समाज व्यवस्था देने को तैयार नहीं है । इस समाज व्यवस्था के विरूद्ध लेखक ने इस उपन्यास के माध्यम से हिंदी साहित्य में पहली बार समर्थ और पुरजोर आवाज बुलन्द की है । जो समाज अनाथ रधिया को सहारा नहीं दे सकता, वही उसके रूप यौवन पर भूखे भेड़िये की तरह टूट पड़ता है । यह कितना बड़ा पाखण्ड है जो सदियों से हिन्दू समाज में पलता आया है । एक ओर अन्त्यज को छूना भी पाप समझा जाता है, दूसरी ओर उसी वर्ग की रूपवती युवती को अपनी हवस का शिकार बनाने में कोई पाप या छुआछूत सवर्णों को नहीं लगता ।

इस अन्यायपरक व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष और संघर्ष में सफलता का चित्रण लेखक ने उपन्यास में किया है । अघोरी मनुष्यानन्द का संबल पाकर अन्त्यज लोग उसके नेतृत्व में विश्वनाथ मन्दिर में दर्शन लाभ करते है । मनुष्यानंद की प्रेरणा से बुधुआ के नेतृत्व में भंगी लोग नगरपालिका प्रशासन से अपने वेतन और उचित मांगों के लिए संघर्ष करते है और उसमें सफल होते है ।

रधिया के माध्यम से लेखक ने एक दलित युवती के जीवन से जुड़ी विडम्बनाओं का ही चित्रण नहीं किया है, वरन पुरुष वर्ग द्वारा स्त्री पर किए जाने वाले अत्याचारों का वर्णन भी किया है ।

हिन्दू समाज में सबसे अधिक अस्पृश्य भंगी समझा जाता है । मेहतर की परछाई मात्र से ब्राह्मण अपवित्र हो जाता है । प्रेमचन्द ने चमारों की दुर्दशा का चित्रण किया है, लेकिन उग्र जी ने भंगी समाज को लेकर उच्च वर्ग के हिन्दुओं की खोखली नैतिकता पर व्यंग्य किए है । ब्राह्मण अपनी मान्यताओं और व्यवहार में अत्यंत संकीर्ण और स्वार्थी है । वर्णाश्रम धर्म के अनुसार एक दूसरे वर्ग के साथ विवाह संबंध होना कठिन कार्य है । लेकिन किसी सवर्ण को किसी अछूत के साथ विवाह होना एक प्रकार से असंभव सा है । दया, धर्म का उपदेश देने वाले हिन्दू समाज में बुधुआ की अनाथ बेटी को कोई शरण देने को तैयार नहीं होता समाज की इन अमानुषिक और रूढिग्रस्त संकीर्णता पर उग्र जी व्यंग्य करते है ।"1

- -

1. हिंदी उपन्यास - सामाजिक चेतना - डा० कुंवरपाल सिंह-पृ. 97

"यद्यपि यहां पर अनेक ऐसे हिन्दू हैं, जिनके यहां कुत्ते भी पले है और एक नहीं अनेक । भंगी समाज का मैला फेंकने के कारण पतित और उसी मैले को खाने वाला कुत्ता शुद्ध है । "वसुधैव कुटुम्बकम" सिद्धांत आदि के आविष्कारक इन हिन्दुओं का ऐसा पतन हो गया पादरी साहब ।"[1]

हिन्दू समाज में दुहरी नैतिकता और सामाजिक मूल्य प्रचलित है । इस समाज के सिद्धांत और व्यवहार में बहुत अन्तर है । एक ओर लोग अछूत की परछाई से डरते है, दूसरी ओर अछूत कन्याओं से अवैध सम्बन्ध रखते है । एक ईसाई पादरी द्वारा पोषित राधिका से कोई सवर्ण हिन्दू शादी करने की बात नहीं सोचता । राधा एक आदर्श युवती है जो रूप, गुण आदि में किसी सवर्ण कन्या से कम नहीं है । सवर्ण लोग उसे अपनी शारीरिक भूख मिटाने के लिए इच्छुक रहते है । युवक घनश्याम राधा के साथ शारीरिक संबंध स्थापित करने में सफल हो जाता है । वह उसका शोषण करके उसे असहाय छोड़ देता है । अछूत लड़की सवर्ण हिन्दू की दृष्टि में केवल भोग लिप्सा का साधन मात्र हो सकती है ।"[2]

उपन्यास की मूलभूत समस्या दलितोद्धार की है । दलितों के उद्धार के लिए मनुष्यानन्द जो कुछ करता है - वह एक क्रांतिकारी घटना है । विश्वनाथ मन्दिर में प्रवेश के लिए अपनीविचित्र वेशभूषा से सज्जित होकर अछूतों का जुलूस निकाल कर यहां के तीर्थ रक्षकों को दहलाता और सनातन धर्मी - डण्डेबाजों की खिल्ली उड़ाता हुआ मंदिर में

---

1. मनुष्यानंद - पृ॰ 68

2. हिंदी उपन्यास - डा० कुंवरपाल सिंह - पृ॰ 97-98

हरिजनों के साथ प्रवेश करता है । मनुष्यानन्द के भी आधुनिक सामाजिक और राष्ट्रीय जागरण के युग की उपज है । वे अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करते है ।

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला :

प्रेमचन्द के बाद दलित जीवन की पीड़ा को सशक्त वाणी प्रदान करने वाले रचनाकार सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला । स्वतंत्रता पूर्व इनके प्रकाशित दो उपन्यास "अल्का" एवं "निरूपमा" में आंशिक रूप से एकाध दलित पात्रों का चित्रण हुआ है ।

3·6· दलित समस्या का आंशिक स्पर्श -'अलका' -'निरूपमा' :

इस उपन्यास में निराला जी ने अल्का नामक ऐसी लड़की की व्यथा कही है जिसके माता पिता अकाल मृत्यु के ग्रास हो जाते है । माता पिता की छाया उठते ही अल्का पर संकटों का पहाड़ टूट पड़ता है । अलका उन सब संकटों को धैर्य व चतुराई से सामना करते हुए सतीत्व की रक्षा करती है ।

उपन्यास में जमींदारों के अत्याचारों व अफसरशाही की मिली-भगत का यथार्थ वर्णन हुआ है । कथावस्तु को आगे बढ़ाने की दृष्टि से इस उपन्यास में लेखक ने भोला चमार और मथापाली की अवतरणा की है । ये पात्र बड़ी सहजता से उपन्यास के पात्र बन गए हैं ।

निरूपमा :

निराला जी निरूपमा में अछूत समस्या को दूसरे ढंग से प्रस्तुत

करते हैं । यहाँ समस्या रोमान्टिक अधिक है । इस उपन्यास का नायक डा० कुमार उच्च वर्ण का है । उसने लन्दन विश्वविद्यालय से पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की है लेकिन भारत में आकर उसे कोई नौकरी नहीं मिलती है । वह समाज पर व्यंग्य करने के लिए चमार का पेशा अपना लेता है । वर्ण व्यवस्था का आधार पेशा है । अतः निम्न समझे जाने वालों का कार्य कोई उच्च वर्ण वाला हिन्दू नहीं करता । कुमार के साथ उसकी माँ और भाई का भी गाँव वाले बहिष्कार कर देते है । आधुनिक शिक्षा प्राप्त लखनऊ के लोग भी उसे हिकारत की नजरों से देखते हैं । लखनऊ का वैष्णव भोजनालय भी वर्ण व्यवस्था का पालन करने में किसी से पीछे नहीं हटता । होटल का शिक्षित बाबू सम्प्रदाय कुमार का होटल में रहना धर्म संकट समझता है । अपनी संकीर्णता और पिछड़ेपन को छिपाने के लिए ये लोग तर्क का सहारा ढूँढते है ।

"यह इंगलिस्तान नहीं है जैसा देखा वैसा भेष । यहाँ तो इस तरह चमारों में ही रहा जा सकता है ।"1

वस्तुतः इस उपन्यास में दलित जीवन के दुख दर्द से ज्यादा शिक्षित बेरोजगारी समस्या को ज्यादा महत्व प्राप्त है ।

3.7. समतामूलक व्यवस्था की परिकल्पना - राहूल की रचना :

हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन का महत्वपूर्ण स्थान है । उन्होंने वर्तमान को पुष्ट करने के लिए अतीत की सहायता ली है । वे ऐसे लेखक है, जो बौद्ध धर्म से अनुप्राणित है और साम्यवादी विचारधारा के अनुसार अतीत की व्याख्या

---

1. निरूपमा - पृ. 31

करते है - "सिंह सेनापति", 'जय यौधेय' में साम्यवादी विचारदर्शन तथा बौद्ध धर्म में सामंजस्य द्वारा भारतीय जन जीवन की भावी प्रगति को बल देने का प्रयास किया है ।"1

इस उपन्यास में एक प्रसंग है जो नायक सिंह सेनापति के फलोद्यान के माली कृष्ण के जीवन वृत्तान्त से संबंधित है । कृष्ण सिंह की पत्नी रोहिणी को बताता है कि वह किस प्रकार कौशम्बी में पैदा हुआ और अपनी मां के साथ काशी में बिका था । सयाना होने पर मगध के एक बनिये ने उसे खरीद लिया था । वह बनिया बड़ा क्रूर था । साधारण से साधारण अपराध पर भी कठोर दण्ड देता था । उस सेठ ने एक बार क्रोध में गर्म लोहे से कृष्ण की पीठ को दाग दिया । उस समय सिंह के दादा उस बनिये के पास कोई वस्तु खरीदने पहुंच गए । कृष्ण की दीन दशा पर दया करके उन्होंने उसे बनिये से खरीद लिया । तब से कृष्ण सिंह की सेवा में है । उसके बहुत से बेटे और पोते पोतियां है, पत्नी मर चुकी है । उसके वंशज और वह तन-मन से सिंह, सिंह के बागों और खेतों में कार्य कर रहे है । सिंह और रोहिणी, कृष्ण उसके परिवार को उदास घोषित करते हैं, उनके कपड़े बांटते है, और उनके साथ भोजन करते है ।

उपन्यास में यत्रतत्र सामान्य कर्मकारों व जाति वर्ण व्यवस्था का वर्णन किया गया है ।

राहुल जी ने प्राचीन गणराज्यों को जाति प्रथा से मुक्त दिखाते हुए एक आदर्श समता-मूलक व्यवस्था की परिकल्पना की है । उत्तर कुरु

- -

1. हिंदी उपन्यास - डा० सुषमा धवन - 364-365

की देवजाति में ऊँच नीच, दस्यु अदस्यु जातिपाँति आदि की कोई व्यवस्था नहीं थी । उत्तरापथ के गणों में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि भेद नहीं देखे जाते हैं। उसके यहाँ देवताओं की पूजा प्रार्थना के लिए अलग अलग समुदाय निश्चित नहीं है, किन्तु वहीं इन राजाओं के यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेद बनाए गए है । यहाँ भी राजा के स्वेच्छाचारी शासन के सुभीते के लिए बनाए गए है ।"[1]

"ब्राह्मण ऋषियों की बनाई वर्ण व्यवस्था गणों ने स्वीकार नहीं की थी । वहाँ के लोग अपने को क्षत्रिय केवल शस्त्र धारण करने के कारण कहते थे न कि ब्राह्मण के निचले वर्ण के अर्थ में । वह वही पुराने आर्य जन बने रहे ।"[2]

"रोहिणी को प्राची जनपद के नगरों की समृद्ध पुण्य बीथियों, भव्य प्रासादों, सुन्दर क्रीडा उपवनों को देखकर प्रसन्नता होती किन्तु वह चाण्डालों, दासों, तथा कर्मकारों की जीर्ण-शीर्ण झोंपड़ियों तथा उनके दीन हीन वासियों को देखती तो क्षुब्ध हो जाती ।"[3] इस उपन्यास में लेखक प्राचीन भारत में दासों की स्थिति का मर्मभेदी वर्णन कियाहै ।

"जय यौधेय"

"जय यौधेय" उपन्यास की मुख्य कथा नायक जय की यात्राओं, उसके पराक्रमों तथा अपने गण के लिए की गयी सेवाओं से सम्बद्ध है ।

---

1. सिंह सेनापति - पृ. 100

2. -वही- पृ. 282

3. -वही- पृ. 193

जय की बौद्ध तीर्थ स्थानों की यात्रा में विशेष रूचि है । बौद्ध धर्म के निकट सम्पर्क में आने के लिए वह सिंहल जाता है । सिंहल के मार्ग में उसे कई प्रकार कीकठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । समुद्र में तूफान आ जाता है । किसी तरह वह बच जाता है और समुद्र तट पर स्थित शबरों की बस्ती में पहुंचता है । वहां एक शबर कन्या श्याम से विवाह करता है पर विवश हो अपनी प्रेमिका को वहीं छोड़ सिंहल पहुंचता है ।

शबरी सभी कृष्ण वर्ण थे । जय और उसका मित्र सिंह वर्मा ही उनमें गौर वर्ण थे । किन्ही गौर वर्ण के लोगों द्वारा शबरों से युद्ध करने के कारण शबर लोग इन्हें अपने क्षेत्र से बाहर कर देते है । श्याम एवं जय का पुनर्मिलन नहीं होता ।

जय, यौधेय और दासों तथा कर्मकारों में कोई भेद नहीं रखना चाहता था । वहअपने सैनिक अधिकारियों के साथ खेतों में काम करता है । वस्तुत: यौधेय,गण बन्धुत्व के आधार पर स्थापित तथा जीवित था । सभी यौधेय एक दूसरे को एक ही परिवार का मानते थे । यौधेय गण में राजा, सेनापति व सैनिक अधिकारी केवल कर्त्तव्य भर के लिए चयनित होते थे । वे लोग राजा और सेनापति के ऐश्वर्य से नहीं सामान्य जन की तरह रहते थे और कृषि तथा पशुपालन से अपना निर्वाह करते थे । जय के प्रयत्नों से यौधेय गण में दासों एवं कर्मकारों को नीचा मानने की प्रवृत्ति समाप्त होती है तथा उन्हें समान अधिकार प्राप्त होते हैं ।

इस उपन्यास में भी राहुल जी ने प्राचीन कथाओं के आधार पर दलित वर्ग के अधिकार एवं भ्रातृत्व भाव पर प्रकाश डालते है ।

3.8. दलित संघर्ष के संवाहक - वर्मा जी के उपन्यास :

वृन्दावनलाल वर्मा हिंदी के समृद्ध कथाकार है । दलित जीवन की कथा को आधार बनाकर उन्होंने कई उपन्यास लिखे । स्वतंत्रता से पूर्व प्रकाशित "झांसी की रानी उनकी बहुचर्चित उपन्यास है । ऐतिहासिक कथा के आधार पर वे दलित चेतना को रूपायित करते है ।

"झांसी की रानी" की गणना वर्मा जी के श्रेष्ठ उपन्यासों में की जाती है । डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में "श्री वृन्दावनलाल वर्मा का यह उपन्यास हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यासों में एक मार्ग चिन्ह है । इसमें कुछ ऐसी विशेषताएं है, जिनसे यह उपन्यास अगले ऐतिहासिक उपन्यासकारों का मार्गदर्शन करता रहेगा ।"[1]

वर्मा जी के उपन्यासों में नारी के उदात्त एवं शौर्य स्वरूप के दिग्दर्शन होते है । "मृगनयनी" की निन्नी लाखी तथा "झांसी की रानी" की लक्ष्मीबाई व झलकारी कोरिन नारी का यह स्वरूप अपनी सम्पूर्ण तेजस्विता के साथ उभरा है । झलकारी के रूप में लेखक ने नारी का उदात्त रूप चित्रित किया है ।

इस उपन्यास में दो दलित पात्र आए है - झलकारी कोरिन और नारायण शास्त्री की अछूत प्रेमपात्री छोटी ।

झलकारी रानी लक्ष्मीबाई की प्राण रक्षा के लिए स्वयं रानी का वेश धारण करके अंग्रेजी सेना के जनरल रोज को भुलावे डालती है और उन्हें छुट पुट मुठभेड़ में उलझाए रखती है ताकि रानी लक्ष्मीबाई सुरक्षित स्थान पर पहुंच सके ।

---

1. झांसी की रानीकी परम्परा - शीर्षक लेख "पारिजात" द्विमासिक पत्र - जनवरी - 1948

झलकारी का चित्रण उपन्यास में एक वीरांगना के रूप में हुआ। "जाति से वह कोरिन थी पर रानी का उससे बड़ा स्नेह था । उनके बीच उच्च नीच का कोई भाव नहीं था । जिस युग में उप सवर्णों का जनेऊ पहनना इतना बड़ा अपराध माना जाता है कि उन्हें ताम्बे के जनेउओं से दागने का दण्ड निर्धारित करना पड़े, उस युग की जात-पात गत संकीर्णता और रूढ़िवादिता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है ।"[1]

झांसी के हलदी कुंकुम उत्सव की आत्मा एक नवल ग्राम वधू,पहले रानी के महल कक्ष में दिखाई देती है, रंग बिरंगे कपड़े और चांदी के जेवर पहने, सोलह आना बुन्देलखण्डी ठाठ, पैरों में पैजेबों से सिर की दामिनी तक सब आभूषण स्थानिक रंग, जरा सांवला, चेहरा रानी की आकृति - आंख - नाक रानी से मिलती जुलती यह थी झलकारी कोरिन,' निर्भीक और पराक्रमी ।

झांसी के घिर जाने एवं रानी के किले से बाहर निकल जाने के बाद बड़े सवेरे झलकारी घोड़े पर बैठ कर जनरल रोज के सामने पहुंची और कहा -

"मैं ही हूं रानी, मुझे पकड़ लो" ।

रानी तब तक दूर निकल जाए उसने रानीबनकर अंग्रेजों को उबा..ए रखा । रोज ने उसके विषय में कहा -"यदि भारतीय स्त्रियों का एक प्रतिशत भी पागल हो जाए तो हमें हिन्दुस्तान छोड़कर भागना पड़े ।"[2]

- -

1. वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों का सांस्कृतिक अध्ययन -
डा० कृष्ण अवस्थी - पृ॰212

2. झांसी की रानी - पृ॰41

रानी को झलकारी बहुत प्यारी थी । आज सौ वर्ष पीछे भी यह बात आश्चर्य से सुनी जाएगी कि रानी लक्ष्मी बाई ने एक कोरिन को हल्दी कुंकुम उत्सव में गोद में भर लिया था । झलकारी, रस, ओज, अल्हड़पन की चित्र - विचित्र चलती फिरती, हंसती खेलती तस्वीर सी दिखाई देती है ।बुन्देलखण्ड की इस ग्राम सुन्दरी में तत्कालीन ग्रामीण समाज का एक रंगीन चित्र आंखों के सामने नाचने लगता है । रानी की स्त्री सेना की वह सिपाही थी, स्वतंत्र और मस्तानी वृत्ति की, हेकड़ और हंसोड़ । रोज ने पहली बार उसे देखकर, श्यामल और भयंकर बताया था । उसकी निर्भयता एक ही वाक्यमें रोज के सामने प्रकट हुई - "मार दे, मैं का मार दे, खो डरात हो, जैसे इव्वे सिपाही मरे तैसे एक मैं सई ।"।

अन्त में अंग्रेजों को उलझाए रखने के प्रयास में अपनी छोटी सी सैनिक टुकड़ी के साथ झलकारी स्वयं को अपनी रानी और देश के लिए लड़ते - लड़ते बलिदान कर देती है ।

इस उपन्यास में नारायण शास्त्री नामक राजा गंगाधर राव के दरबारी कवि के साथ अछूत युवती से प्रेम करने का प्रसंग भी वर्णित है । उनके सम्बन्धों को लेकर झांसी के वर्ण दम्भी ब्राह्मण नाराज थे । एक दिन दोनों को नारायण शास्त्री के मकान में एक साथ पकड़ने की योजना बनाई जाती है । युवती के भाग जाने से यह योजना सफल नहीं होती ।

दोनों को राजा गंगाधर राव के सम्मुख पेश किया जाता है । राजा दोनों को देश निकाले की सजा देने के पश्चात तात्या टोपे से कहते हैं -

- -

।• झांसी की रानी - पृ• 4।

"बहुत सस्ता छूटा यह । वह लड़की छोटी जाति की होने पर भी इस ब्राह्मण से बड़ी है । देश निकाला दे दिया, काफी है ।"[1] निश्चय ही नारायण शास्त्री मेहतरानी प्रेमिका के लिए अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को त्यागऔर निर्वासन का दण्ड स्वीकार करके असाधारण साहस का परिचय दिया है ।"[2]

ऐसा ही एक प्रसंग छोटी जाति के लोगों द्वारा जनेऊ धारण करने पर उन्हें राजा गंगाधर राव के सम्मुख प्रस्तुत करने का है, जिस पर राजा एक दोषी युवक को लोहे के गर्मतारों का यज्ञोपवीत पहनाने का दण्ड देने को उद्यत होते हैं, तब तांत्या टोपे प्रतिकार करते है -"नहीं सरकार .... धर्म अपने अपने विश्वास की बात है । इसमें राज्य को तटस्थ रहना चाहिए ।"[3] इस पर युवक छोड़ दिया जाता है ।

उपर्युक्त दोनों प्रसंगों में लेखक ने क्रमशः छोटी जाति में बड़े पात्रत्व के व्यक्तियों के होने का सत्य उद्घाटित किया है तथा राज्य को धर्म के प्रति निरपेक्ष रहने की आवश्यकता पर बल दिया है । इन चित्रणों से स्पष्ट होता है कि उस समय दलित समता के अधिकारों से वंचित थे साथ ही वे उनअधिकारों को पाने के लिए प्रयत्नशील भी थे ।

3.9. मनुष्यत्व की पहचान का सफल आग्रह - यशपाल की रचना :

प्रेमचन्द के बाद हिंदी उपन्यास को नई दिशाएं देने का श्रेय यशपाल को है । "सामान्य जन के प्रति चिन्ता और सामाजिक न्याय की प्रतिश्रुति

- -

1. झांसी की रानी - पृ. 58
2. वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों का सांस्कृतिक अध्ययन -कृष्णा अवस्थी पृ. 215
3. झांसी की रानी - पृ. 49

के कारण तथा सहज बोध-गम्य शैली की वजह से यशपाल को हिंदी उपन्यास में प्रेमचन्द का उत्तराधिकारी घोषित किया गया है ।"1

यशपाल ने राजनैतिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक कल्पना प्रसूत उपन्यासों की रचना करके हिंदी उपन्यास साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाया है । यशपाल की विचारधारा मार्क्सवादी सिद्धांतों से प्रभावित है । उनके ऐतिहासिक कल्पना प्रसूत उपन्यास "दिव्या" में भी उनकी इसी विचार धारा के दर्शन होते हैं ।

स्वातंत्र्ता पूर्व रचनाओं में यशपाल का "दिव्या" काफी लोकप्रिय हुआ था । इसमें कई प्रसंग ऐसे है, जिनके माध्यम से लेखक ने हमारी उस सामाजिक व्यवस्था की आलोचना की है, जो मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण और उच नीच पर आधारित है । "दिव्या" में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में नारीकी दासता वाले सामाजिक विधान की आलोचना और नर नारी के स्वतंत्र एवं सहभागी संबंधों की वकालत है ।"2

उपन्यासों में दलित वर्ग का चित्रण दास, कर्मकार आदि के रूप में हुआ है । उपन्यास की नायिका दिव्या के जीवन वृत्त के माध्यम से लेखक ने धर्म, वर्ण, आश्रम और सामन्तवाद के अंतर्गत धर्म के शोषणपरक स्वरूप को उजागर करते हुए इनकी निरर्थकता सिद्ध की है तथा पारस्परिक आदान-प्रदान के व्यवहारिक स्तर पर नारी व पुरूष के साथ को मान्यता दी है ।

- -

1. आधुनिक हिंदी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता - डा० नवल किशोर - पृ० 3

2. -वही- पृ० 132

स्त्री पुरूषों के सम्बन्धों का ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर तार्किक विवेचन करने वाली इस कृति में लेखक ने जातिप्रथा को भी स्पर्श किया है । प्राचीन भारतीय समाज में जो दास व्यवस्था थी, उसका चित्रण किया गया है ।

पृथुसेन का पिता दास था किन्तु दासत्व से मुक्ति पाने के पश्चात उसने वैश्य वृत्ति अपना कर अपना धन संग्रह किया था तथा अपने पुत्र को आभिजात्य कुलों की परम्परा पर हर विद्या में पारंगत बनाया था फिर भी उसे दास के घर पैदा होने के कारण सार्वजनिक आयोजन में अपमानित होना पड़ा था । तत्पश्चात उसे अपमानित करने के कारण रूद्रधीर को निर्वासिन का दंड भोगना पड़ा था ।

पृथुसेन के पिता की वणिकवृत्ति उसके तथा दिव्या के जीवन पथ में कांटे बिखेरती है, जिसके कारण दिव्या को असह्य कष्ट सहने पड़ते है । पृथुसेन सागल गणपति का जामाता बनकर अन्त में रूद्रधीर के षड्यंत्र के कारण पतन को प्राप्त कर श्रमण बन जाता है ।

पृथुसेन को अपने पिता की सम्पन्नता के कारण वे सब सुख सुविधाएं तो उपलब्ध हुई जो राजकुमारों व ब्राह्मण कुमारों को प्राप्त होती है, किन्तु उसे उस सामाजिक सम्मान का अधिकारी नहीं माना गया जो उन्हें प्राप्त था । दिव्या की शिविका को कंधा देने के लिए उद्यत पृथुसेन को जब दास कुलोत्पन्नहोने के कारण अनाधिकारी ठहराया जाता है तो वह खड्ग उठाकर प्रतिकार के लिए प्रस्तुत होता है । इस पर ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया होती है ---"ब्राह्मण के सम्मुख दास खड्ग खींचे ? इस प्रकार के अनाचार से भद्र राज्य में कुल गण के शासन का क्या अधिकार

और सम्मान रह गया है ?"[1] "दास पुत्र को अभिजात वंश के युवकों के साथ शिविका में कन्धे देने का अधिकार नहीं है ।"[2]

"पृथुसेन के चारित्रिक विकास के मूल में भी यह वृत्ति कार्य कर रही है । उसमें महत्वकांक्षा की प्रधानता है । जहां उसके अहं को चुनौती मिलती है, वह लोहा लेने को प्रस्तुत हो जाता है ।"[3] "........धृष्टजन सागल के पथों और विथिकाओं पर द्विजर्थ से स्पर्धा और आज्ञा करें ? तन्तुवाय और कर्मकार हमारे समान आसन पर बैठे ? भद्रगण के ऐसे शासन में हमारा क्या है ।"[4] केदार शर्मा की मानसिकता आज भी हमारे देश में विद्यमान है । दलित वर्ग जो मूलत: अपने श्रम और कारीगरी पर अवलम्बित है, आज भी हेय दृष्टि से देखा जाता है ।

इन अवतारणों से ये तथ्य सामने आते है कि दासों और कर्मकारों को ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि से नीचा माना जाता था । उन्हें सम्पन्न होने पर भी समता का अधिकार सहज रूप से नहीं दिया जाता था । पृथुसेन के अपमान का प्रसंग इसका परिचायक है । दास की अपनी कोई इच्छा व अधिकार नहीं होता था । स्वामी की इच्छा ही उसके लिए सब कुछ था । दास और कर्मकार तथा शूद्र समानता के अधिकार से सहज में च्युत नहीं होना नहीं चाहते थे ।

समाज, धर्म, वर्ण और आश्रम व्यवस्था आदि विषयों पर उपन्यास में लेखक ने स्थान - स्थान पर पात्रों के मुख से तार्किक विवेचन कराया है । वर्णाश्रम धर्म पर जो विचार प्रकट हुआ है । वह वर्गों व जातियों

- -

1. दिव्या - पृ. 25

2. दिव्या प्राकथन - पृ. 5

3. यशपाल के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण -मधु जैन-पृ.272

4. दिव्या - पृ. 48

के विकास की दृष्टि से ऐतिहासिक महत्व का है । ..... राजा और प्रजा का धर्म एक नहीं है, जो शूद्र द्विज से समानता की स्पर्धा करता है वह पातक और द्विज के लिए भी पाप का कारण है । मर्यादा पुरूषोत्तम राम ने शूद्र शम्बूक को दण्ड देकर यह मर्यादा जम्बूद्वीप में स्थापित की थी । दण्ड नीति ही धर्म का आधार है ।"[1]

उपन्यास में दलित वर्ग के संबंध में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य जो आए हैं, वे हैं (1) मध्यकाल में वर्ण व्यवस्था पूर्णतः रूढ़ नहीं हुई थी । (2) दास प्रथा भी इस प्रकार रूढ़ नहीं हुई थी (3) दासों और कर्मकारों को समानता भी प्राप्त होती थी मगर (4) उच्चवर्ग के लोग इसमें अपनी हेठी समझते थे ।

"दिव्या" की लेखक स्वयं ऐतिहासिक कल्पना स्वीकार किया है -"इतिहास विश्वास की वस्तु नहीं है, विश्लेषण की वस्तु है । "दिव्या" इतिहास नहीं, ऐतिहासिक कल्पना मात्र है । ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्त और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र है ।

3.10. ब्राह्मण के मिथ्यादंभ पर चोट -"शेखर एक जीवनी":

अज्ञेय का हिंदी उपन्यासकारों में विशिष्ट स्थान है । वे हिंदी के श्रेष्ठ व्यक्तिवादी उपन्यासकार है । स्वतंत्रता पूर्व भारतीय परिवेश में प्रकाशित उनकी इस कृति मे अज्ञेय दक्षिण भारत में व्याप्त छुआछूत तथा वर्ण भेद को मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त करते हैं । साथ ही ब्राह्मणत्व के मिथ्या दम्भ पर करारी चोट करते हैं ।

प्रथम भाग में बालक शेखर के साथ खेलने वाली एक अछूत बालिका फूला का वर्णन आता है, जिसके साथ खेलने तथा उसके घर आने जाने

के कारण शेखर पर उसके माता पिता कई प्रकार की वर्जनाएं लादते है । फूलां के घर खाना खाने के लिए शेखर के अभिभावक मना करते है और उसे इसका कारण यह बताया जाता है कि वह नीची जाति से है । बालक शेखर के लिए यह सर्वथा नई बात थी, जिस पर वह पर्याप्त चिंतन और विश्लेषण करता है ।"1

शेखर के युवा काल का साथी "गनेसी" शेखर के पिता की देख रेख में कुली का काम करता है । गनेसी जाति से डोम है । शेखर की दोस्ती उससे उतनी बढ़ जाती है कि कभी कभी वह पिता से कहकर गनेसी को छुट्टी दिला देता है और साथ घूमने ले जाता है ।

शेखर ने सुन रखा था कि गोइ की दुम में रस्सी बांधकर उसके सहारे किले की दीवार फांदी जा सकती है । जिज्ञासावश शेखर गनेसी को गोह पकड़ लाने के लिए कहता है । गनेसी आज्ञापालन करते हुए एक गोह मारकर कन्धे पर लटका कर लाता है । शेखर उसकी खाल उतारने की आज्ञा देता है । गनेसी ने पहले तो खाल उतारने हेतु आनाकानी की किन्तु अन्त में उतारनी ही पड़ी । बालक शेखर के मन में ऐसा कोई पुर्वग्रह नहीं है कि खाल उतारने का काम नीचा है । इस घटना के माध्यम से लेखक इस मान्यता को प्रकृति सिद्ध निरूपित करता है कि जो चमड़े का कार्य करे उसे नीचा माना जाए ।

शेखर के मन में उसी समय अछूतों के प्रति एक प्रकार की जिज्ञासा वसहानुभूति उत्पन्न हो जाती है, जिसकी परिणति शेखर द्वारा अछूत मोहल्ले में एक रात्रि पाठशाला खोलने में होती है ।

---

1. हिंदी उपन्यास का शास्त्रीय विवेचन - डा0 महावीरमल लोढा-पृ. 199

मद्रास के जिस बेर्डिंग में शेखर रह रहा था, वह ब्राह्मणों के लिए था । पिता के आज्ञानुसार शेखर वही आकर ठहरा था । बेर्डिंग का रसोईघर सब ओर से घिरा हुआ था, ताकि किसी आते जाते व्यक्ति या छोटी जाति के व्यक्ति द्वारा देखा जाकर भ्रष्ट न हो जाए ।

एक दिन शेखर ने सुना कि स्वयं शेखर को लेकर होस्टल में हंगामा मचा हुआ है कि शेखर ब्राह्मण नहीं है, उसकी चुटिया नहीं है, जनेऊ नहीं है, पूजा पाठ नहीं करता है । वह भ्रष्ट है, उसने सभी को भ्रष्ट कर डाला है । उन्होंने निश्चय किया कि वे शेखर के साथ भोजन नहीं करेंगे, होस्टल छोड़ देंगे और जब तक कुछ निर्णय न हो जाय, शेखर का आसन औरों से कुछ हटाकर लगाया जाय ।

शेखर इस ब्राह्मण बेर्डिंग का इसलिए परित्याग कर एक अछूत बोर्डिंग को अपना आवास बनाता है, क्योंकि वहां ब्राह्मणत्व का पाखण्ड पराकाष्ठा की सीमा तक व्याप्त था ।

यहां की वर्ण व्यवस्था को शेखर आलोचनात्मक दृष्टि से देखता है । वह देखता सुनता है कि.... वहां के अछूत पंचम किसी कुलीन ब्राह्मण के पास दायरे के भीतर नहीं आ सकते - कुछ गज दूर रहना होता है, ब्राह्मणों के लिए अलग सड़के है, पंचम उन पर नहीं चल सकते, पंचमों को नदियां, नाव में बैठकर या किसी प्रकार पार करनी होती है, क्योंकि पुल ऊंची जातियों के लिए सुरक्षित होते है । ब्राह्मणों के पड़ोस में अछूत भूमि नहीं ले सकते, कभी ब्राह्मण और पंचम का सामना हो जाए तो पंचम को अपना "पंचमत्व" घोषित करना पड़ता है कि

अनजाने में उसकी छाया ब्राह्मण पर न पड़ जाय ।"[1] 'अछूतों के बारे में शेखर का यह देखना सुनना उसके हृदय को इतनी गहराई से प्रभावित करता है कि वह अछूतों की सेवा करने को तत्पर हो जाता है । वह एक अछूत घायल स्त्री को चिकित्सार्थ अस्पताल ले जाता है - अपनी पीठ पर लादकर ।"[2]

'उसे जब ज्ञात होता है कि उस स्त्री की यह दुर्दशा तथाकथित ब्राह्मण वर्ग ने की है, तो उसे स्वयं के ब्राह्मण होने पर लज्जा आती है ।"[3]

अछूतों के बोर्डिंग में पहले तो उसे सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है पर बाद में उसके अछूतों के प्रति समत्वभाव को देखकर बोर्डिंग के छात्र उसकी दलितोद्धार की योजनाओं में सहयोग करने लगते हैं ।

शेखर के विचार बड़े क्रांतिकारी है, यथा "......गंगा, यमुना, गोदावरी, कृष्णा, नर्मदा इन सबका पानी तो धर्म और भक्ति में घुल-घुल कर प्रवाहीन हो गया है ... जीवन चिरंतन कहीं है तो ऐसे ही गन्दले नालों में, जो समाज की नीव इन अछूतों के बीच में सेहोते हुए फिर उपेक्षित बहे जा रहे हैं ।... उन पतितपावनी कहलाने वाली नदियों का पानीतो वैसा ही भरा हुआ है, जैसा पंडितों का पाण्डित्य तभी तो वह पानी चिताओं को सींचने में अस्थियों को बहाने में काम आता है ।"[4]

- -

1. शेखर एक जीवन - पृ. 208

2. शेखर एक जीवनी - पृ. 209-210

3. शेखर एक जीवनी - पृ. 210

4. शेखर एक जीवनी - पृ. 215

"और शेखर निश्चय कर लेता है कि वह अछूतों के लिए रात्रि पाठशाला खोलेगा, बिना इसकी चिन्ता किए कि साधन कहां से सुलभ होंगे ।"[1]

आगे चलकर शेखर अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए "एन्टीगोमन क्लब" नामक एक संस्था चलाता है, जो शनै शनै लोकप्रिय होती जाती है । वह एक हस्तलिखित पत्रिका भी प्रकाशित करता है ।

अज्ञेय ने शेखर का चरित्रांकन उस धरातल पर जाकर दिया है कि जाति को लेकर कोई दुराग्राह - पूर्वाग्रह उसके मन में नहीं है । वह अपने अभिनन्दन के लिए अपने अछूत साथियों को कहता है "मैं ब्राह्मण होकर आप लोगों को साथ ले रहा हूं, ऐसा भाव मुझे में नहीं है । "मैं स्वयं आपके साथ आया हूं । भीतर कहीं मैं भी अछूत हूं, आपका भाई हूं । मैंने अपना आप सबको दान नहीं किया मैंने आपको पाया है ।"[2]

अज्ञेय ने इस उपन्यास में शेखर के माध्यम से अछूत समस्या को जिस गहराई व आत्मीयता से उठाया है वह उनकी लेखकीय निष्ठा का परिचायक है ।

उपर्युक्त स्वतंत्रतापूर्व उपन्यासों में प्रत्येक लेखक ने एक महानायक की परिकल्पना की है । युगीन चेतना से उद्बुद्ध होकर कोई दलित नायक, दलितों के उद्धार के लिए कटिबद्ध होता है, ऐसे चित्र कम देखने को मिलते है । ज्यादातर नायक किसी उच्चवर्ण से च्युत होकर या आत्मीय करूणा से प्रेरित होकर दलितों के उद्धार के लिए आकर दलित

- -

1. शेखर एक जीवनी - पृ. 215
2. शेखर एक जीवनी - पृ. 215

बन जाता है । यथार्थ की कसौटी पर ये नायक उतने खरे नहीं उतरते है । इनमें रूमानी एवं काल्पनिक तत्व ज्यादा है । एक गुलाम देश के लिए इससे ज्यादा अपेक्षा है । अत: कह सकते है कि हिन्दी लेखक के मन मे इस वर्ग के प्रति करूणा का यह आरंभिक दौर है । आगे चलकर सामाजिक, राजनैतिक सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिवेश के अनुरूप साहित्य के स्वरूप में भी बदलाव आने लगा ।

स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में दलित जीवन :

स्वतंत्रता भारत के लिए बेशक एक उपलब्धि थी । उपलब्धि इस अर्थ में कि लगभग एक शती से चला आ रहा साम्राज्यवादी शोषण, उत्पीड़न और उसके लिए संघर्ष अपनी परिणति में पहुंच गया है। भारत स्वतंत्र हुआ । कुछ लोगों ने इसे महज राजनैतिक स्वतंत्रता की संज्ञा दी । कुछ भी हो, इसके साथ ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता के खिलाफ संघर्ष का अंत हुआ । भारत स्वाधीन हुआ अर्थात् इसका अपना संविधान बना और लागू हुआ, इन अर्थों में स्वतंत्रता हमारे देश की उपलब्धि थी, लेकिन इसके बाद वे सारे राजनैतिक, आर्थिक कार्यक्रमों, हमारे नेताओं के दोहरे चरित्र, योजनाओं के जनविरोधी रूप और उनका अनैतिक कार्यान्वियन, परिणामत: उनकी असफलता आदि, इस सबका प्रभाव भारतीय जनजीवन पर पड़ता रहा और ऐसी सामाजिक संरचना उभर कर सामने आई, जिसमें प्रगतिशीलता और अगतिशीता के दोहरे तत्व मौजूद थे ।

यूं तो स्वतंत्रता देश को 1947 में मिली परन्तु उसके परिणाम 1950 के आस पास परिलक्षित होने लगे । राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक

सांस्कृतिक आदि दृष्टियों से देश में एक बिखराव दृष्टिगोचर होने लगा क्योंकि एक ओर तो नागरिकों द्वारा स्वतंत्रतापूर्व संचित आकांक्षाओं पर तुषारपात हुआ तो दूसरी ओर सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक समस्याओं ने विकराल रूप धारण कर लिया । समाज के मूलभूत ढांचे में कोई परिवर्तन नहीं हुआ ।अत: सामाजिक प्रथा के आड़ में दलितों पर दमन एवं उत्पीड़न जारी था । डा० अम्बेडकर के नेतृत्व में दलित वर्ग अपने पूर्व सुप्त अवस्था को तोड़कर चेतनता की रोशनी में अंगडाई लेना शुरू कर दिया था । उनके जुझारू तेवर उभर कर सामने आने लगे थे । हर परिवर्तन को लेखकों ने महसूस किया और उसे अपने उपन्यासों में चित्रित करते हुए दलित चेतना को गति प्रदान की है । इस दृष्टि से कई सफल उपन्यास सामने आए । इसमें दलित जीवन कहीं केन्द्र में तो कहीं प्रसंग में देखने को मिलता है ।

3.1.1. दलितों के स्वाभिमानोन्मुख संघर्ष का जीवन्त दस्तावेज -उदयास्त

आचार्य चतुरसेन शास्त्री का हिंदी साहित्य में विशिष्ट स्थान है । स्वातंत्र्योत्तर परिवेश के आधार पर उन्होंने कई उपन्यास लिखे । मगर दलित जीवन की दुर्दशा को लेकर लिखा गया उनका उपन्यास "उदयास्त" काफी लोकप्रिय हुआ है ।

"उदयास्त":

"उदयास्त" आचार्य चतुरसेन शास्त्री का प्रथम उपन्यास है, जिसमें प्रगतिशील तत्वों को सूक्ष्मता एवं स्वाभाविकता के साथ समाविष्ट किया

किया गया है ।"[1] लेखक का यह आदर्शवादी उपन्यास है । [illegible] । इसमें स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात छोटे - बड़े के बीच असमानता को लेकर संघर्ष की कहानी है ।

इस उपन्यास में मंगतू चमार और राजगढ़ रियासत के राजा रूद्र प्रताप नारायण सिंह के बीच समानता के लिए हुआ संघर्ष चित्रित किया गया है । यह दलितों में अधिकार पाने के लिए हुई चेतना को दर्शानेवाला उपन्यास है ।

राजा रूद्रप्रताप सिंह रियासतों की समाप्ति के बाद भी आजाद भारत में चमार से बेगार लेना चाहता है, जिसके लिए मंगतू चमार स्पष्ट रूप से इन्कार कर देता है । यही नहीं राजा द्वारा यह पूछे जाने पर कि तेरे बाप दादा तो बेगार करते थे,' तू क्यों नहीं करता, वह निर्भीक स्वर में उत्तर देता है -"महाराजा अब देश आजाद हो चुका है। महाराज आपके बाप दादे डाकेजनी का पेशा करते थे,' आप क्यों नहीं करते ।"[2]

राजा साहब क्रोध में कांपते हुए जूते और गोली मारने का आदेश दे देते है किन्तु मंगतू के साहस और दृढ़ता को देखकर किसी की हिम्मत नहीं होती है । दीवान उसे राजा साहब से माफी मांगने की सलाह देते है । किन्तु मंगतू के गले यह बात नहीं उतरती । राजा साहब स्वयं बन्दूक उठा लेते हैं तब उनका पुत्र सुरेश बीच बचाव करता है ।

- -

1. हिंदी उपन्यास -डा0 सुरेश सिन्हा - पृ. 229

2. उदयास्त - पृ. 31

"सुरेश बनारस से बी•ए•करके आया है वह मंगतू को शाम को फिर मिलने की सलाह देकर घर भेज देता है ।"[1]

सुरेश द्वारा भी मंगतू को माफी मांगने की सलाह पर मंगतू दृढ़तापूर्वक कहता है --"मै किस बात की माफी मांगू ?"[2] इस पर सुरेश कहता है -"सिर्फ इसीलिए कि तुम जात के चमार हो और महाराज तुम्हारे मालिक है ।"[3]

मंगतू ऊँच नीच व जाति पांत के भेदभाव को स्वीकार नहीं करता, वह कहता है - जात पांत का यहा कोई सवाल नहीं है, सवाल है नागरिक अधिकारों का, परस्पर व्यवहार का । • • • महाराज और दीवान साहब मुझे माफी मांगे भी भविष्य में ऐसी गलती न होगी यह वचन दे तो मैं केवल आपके लिहाज से माफ कर दूंगा ।"[4]

राजा साहब द्वारा माफी न मांगने पर मंगतू उनका क्या बिगाड़ लेगा । इसके प्रत्युत्तर में मंगतू कहता है --"मैं कानून की शरण जाऊंगा महाराज और दीवान साहब ने डराया, धमकाया, गालियां दी है । इसका अदालत में दावा दायर करूंगा ।"[5]

गांव के सतार मियां द्वारा मंगतू को हाथ पैर बचाकर काम करने की सलाह पर मंगतू कहता है --"हमारे करोड़ों भाईयों पर ये लोग सदियों से जुल्म करते आए हैं । हम लोग जो कल तक अछूत थे आज हरिजन बन गए हैं, सदियों से पददलित है । अब तो हमें उबरना होगा, अपने ही बलबूते पर ।"[6]

1• उदयास्त - पृ• 31

2• -वही- पृ• 36

3• -वही- पृ• 36

4• -वही- पृ• 36

5• -वही- पृ• 36

प्रमिला सुरेश की पत्नी को जब इसका पता चलता है तो उसका आभिजात्य खून बोलता है -एक चमार की यह हिम्मत ।" सुरेश कहता है -"हिम्मत उसकी नहीं, समय ने उसे दी है । शक्ति तो समाज के गठन में है । हम लोगों की कमी यह शक्ति थी कि हम उन्हें पशु और कीड़े मकोड़ों की तरह रखते थे और वे हर तरह हमारे नीचे रहते थे । अब उस शक्ति का स्थानांतरण हो गया है ।"[1]

मंगतू राजा पर मानहानि और डराने धमकाने का फौजदारी दावा दायर कर देता है । लखनऊ कोर्ट में ही नहीं, पूरे शहर में, राजगढ़ रियासत में उसकी धूम मच जाती है । पेशी के दिन मंगतू का जुलूस निकाला जाता, जिसमें कांग्रेस और हरिजन महासभा का संयुक्त प्रदर्शन होता है । सैकड़ों स्त्री, पुरूष, तिरंगा लिए "हरिजन हमारे भाई" है, उनके अधिकारों की रक्षा करो का नारा लगाते हुए कचहरी तक जाते है ।

राजा साहब इस मुकदमे से भी परेशान नहीं होते । मंगतू राज्य सभा के चुनाव में राजा साहब के विरोध में खड़ा होता है । मंगतू का चुनाव प्रचार बहुत होता है । जन समुदाय 'राजा मुर्दाबाद, मंगतू जिन्दाबाद' के नारे लगाते है ।

सुरेश अपनी ही रियासत के अन्य व्यक्ति शुक्ल को मंगतू का प्रचार करते देख टोकते है --"आप दाता के विरूद्ध प्रचार कर रहे हैं । आपके साथ तो दाता ने सदा अच्छा सलूक किया था ।" इस पर शुक्ल जी कहते है...."देश की सेवा मेरा प्रथम कर्तव्य है, इसलिए लाचार हूँ । यह मेरी जाति लड़ाई नहीं, कर्त्तव्य की लड़ाई है ।"[2]

---

1. "उदयास्त" - पृ॰ 46
2. उदयास्त - पृ॰ 58

इस पर सुरेश कहता है --"आप तो समझते हैं कि चमार को राजभवन की कुर्सी पर बैठाकर आपकी देशभक्ति कर्त्तव्य पूरा हो जाएगा ।'

"- - - - मंगतू महाराजा से ज्यादा लिकायत या हैसियत रखता है ।"[1]

उक्त वार्तालाप अछूतों के प्रति सामन्तवादी दृष्टिकोण को उजागर करता है ।

पैसों से कांग्रेस के नेताओं को खरीद लिया जाता है । परिणामस्वरूप मंगतू को चुनाव से अपना नाम वापस लेना पड़ता है । यह चकित कर देने वाली घटना राजनीतिज्ञों की स्वार्थ लोलुपता व छल-छद्म का घृणास्पद उदाहरण है ।

कांग्रेस के लाख कहने पर भी मंगतू अपना मुकदमा नहीं हटाता । चुनाव से कांग्रेस की रीति नीति से हरिजनों में असंतोष बढ़ जाता है । सभी ने एक सिरे से निश्चय किया - चाहे कुछ भी हो हम जीते जी मुकदमा लड़ेंगे । कांग्रेस ने पैरवीबन्द कर दी । मंगतू अपने ही बलबूते मुकदमा लड़ रहा था। गवाह हुए और राजा साहब पर जुर्म लग गयी । इसी बीच मंगतू ने जान का खतरा बताकर राजा साहब से हजार - हजार के दो मुचलके निकलवा लिए । यह घटना न्यायपालिका की शक्ति एवं संगठन की शक्ति के महत्त्व को प्रतिपादित करती है ।

राजा साहब ने मंगतू को कत्ल करने तक के सभी प्रयास किए, पर सफलता नहीं मिली । राजा साहब को पचास हजार रुपया जुर्माना अदा न करने पर एक माह की कैद सुनाई गयी । फैसला सुनते

- -

1. उदयास्त - पृ. 58

ही राजा बेहोश हो गए । राजा अपनी इस पराजय को सह न सके और दो चार दिन में उनका देहान्त हो गया । मंगतू मातम पर भी राजा के यहां नहीं जाता है ।

राजा का पुत्र सुरेश आनन्द स्वामी के समझाने पर अपने पिता द्वारा की गयी गलती की माफी मांगने मंगतू के घर जाता है और कहता है - मगतू मैं अपने स्वर्गीय पिता जी की ओर से तुमसे माफी मांगने आया हूं । उन्होंने तुम्हारे साथ जो अपमान जनक व्यवहार किया था उससे मैं बहुत दुःखी हूं । अब तो वे नहीं रहे । वह बड़े थे तुम माफ कर सको तो माफ कर देना, मेरी तरफ से कोई गांठ मन में नहीं रखना । मैं तुम्हें अपना छोटा भाई समझकर ही यहां आया हूं ।'

इस पर मंगतू जड़वत हो जाता है । सुरेश व स्वामी उठकर चले जाते हैं ।

मंगतू को इस तरह खड़ा देख उसकी पत्नी ने टोका कि कुंवर साहब घर आए और तुमने उनकी खातिर भी नहीं की और पत्थर की मूरत बन गए ।

मंगतू मन ही मन सोच रहा था कि यदि उसने माफी मांग ली होती तो क्या वह छोटा हो जाता । बड़े थे एक गाली दे ही दी तो मैंने क्या कसर छोड़ी थी । बढ़ावा देने वाला सब साथ छोड़ गए । शर्म की चोट से मालिक के जान दे देने से मैं कितना बड़ा हो गया । उसका दिल हाहाकार करने लगता है, आंखों से आंसू बहने लगते है ।

दूसरे दिन मंगतू अपने बीबी बच्चे के साथ कुंवर सुरेश के पैरों में गिरकर माफी मांगता है और माफ न करने पर जान पर खेल जाने को

कहता है । कुंवर साहब उसे क्षमा कर अपनी जाजम पर बिठा लेते है । उसके बच्चे को गोद में उठाकर मंगतू की औरत को खवास के साथ जनाने में जाने को कह देते हैं ।

आचार्य जी का यह उपन्यास आदर्श पर आधारित है । ऐसा यथार्थ के जीवन में घटित होना बहुत मुश्किल है । सदियों से सोए हुए दलित वर्ग को जगाने पर उनमें अपने अधिकारों के प्रति लड़ने की शक्ति पैदा करने के लिए ऐसे ही आदर्शवादी उपन्यासों की जरूरत उस समय थी ।

3·12· नारी शोषण के विरूद्ध सार्थक आवाज - रांगेय राघव की रचना :

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के बाद इस परंपरा को आगे बढ़ाने वाले साहित्यकार रांगेय राघव हुए हैं। रांगेय राघव आचार्य जी के मुक़ाबले यथार्थ के ज्यादा करीब थे । स्वातंत्र्योत्तर भारत के प्रारंभिक परिवेश में दलित वर्ग के उत्पीड़न को आधार बनाकर इन्होंने रचनाएं की । "कब तक पुकारूँ" डा0 रांगेय राघव की श्रेष्ठ कृतियों में ही नहीं गिना जाता वरन हिंदी उपन्यासों में भी इसका एक विशिष्ट स्थान है । आलोचकों ने इसे आंचलिक उपन्यासों की परम्परा में रखा । 634 पृष्ठों में समाहित यह उपन्यास प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास को एक नया आयाम देता है ।

डा0 ज्ञान चन्द्र गुप्त के अनुसार इस उपन्यास में उत्पीड़ित एवं शोषित जन जातियों विशेषकर नटों की व्यथा कथा, आर्थिक शोषण,'

तत्जनित सामाजिक नैतिक मान्यताओं एवं उनके बीच उभर रहे वर्ग संघर्ष को रूपायित करने का यथार्थवादी दृष्टि से प्रयास किया गया है ।"1

लेखक ने अपने उपन्यास के करनटों के जीवन का यथार्थ एवं विशद चित्रण किया है । उपन्यास का नायक सुखराम करनट है । करनट जरायम-पेशा कौम होती है । इनका जीवन बड़ा उन्मुक्त तथा यौन संबंधों की दृष्टि से स्वतंत्र होता है किन्तु आर्थिक बेड़ियाँ उतनी ही कठोर है । लेखक ने इनकी आर्थिक विवशता, चारित्रिक दृढ़ता, भावनात्मक संबंधों तथा परस्पर रागात्मकता का बड़ी सहानुभूति से चित्रण किया है ।

करनट एक जाति है । सर्वथा उपेक्षित और शोषित जनजाति । इस जाति को अपराध जीवी जाति माना जाता है । कंजर सांसी, मोग्या, बाबरी आदि जातियां भी जरायमपेशा जातियां है । सभ्य और सवर्ण समाज में इन जातियों के नाम गालियों में सम्मिलित होते हैं ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक उपन्यास चारु चन्द्रलेख में भी करनटों का वर्णन मिलता है ।

उपन्यास का संक्षिप्त कथासार इस प्रकार है । उपन्यास का नायक सुखराम की मां नटिनी थी । पिता भीकरनट था । पर अपने आप को अधूरे किले के स्वामी का वंशज मानता था । उसके पिता वंश च्युत होकर करनट बन गए थे । इसी बात को लेकर उसके माता-पिता के मध्य विवाद होता है, जिसकी परिणति दोनों की आकस्मिक और अकाल

---

1. आंचलिक उपन्यास - डा० ज्ञानचन्द्र गुप्त - पृ. 58

मृत्यु में होती है । सुखराम इसीला करनट और उसकी पत्नी के संरक्षण में पलता है । इसीला की बेटी प्यारी उसे अपना मरद देने लेती है । सुखराम करनट .. यायावर जीवन व्यतीत करता है । इसके साथ ही कई सत्य उसके सामने उजागर होते हैं । अपनी मूर्खतावश सुखराम व प्यारी रूस्तम खाँ के चंगुल में बुरीतरह फंस जाते है । प्यारी जब रूस्तम खाँ के पास रहती है, उन्हीं दिनों कजरी नामक तेज तर्रार करनटी से सुखराम की भेंट होती है और कजरी सुखराम को अपना बना लेती है ।

सुखरान का व्यक्तित्व बहुरंगी है । वह वीर और संघर्षशील है, पर परिस्थितियों के सामने अकेले पराास्त होता हुआ पुलिस के हाथों पिटता और अपमानित होता है । प्यारी और कजरी एक दिन सिपाही रूस्तम खाँ से संघर्ष करती हुई उसकी हत्या कर देती है तभी धूपों चमारिन के साथ बाके तथा दो ठाकुरों द्वारा किए गए बलात्कार से बिक्षुब्ध चमारों की भीड़ बाके से बदला लेने रूस्तम खा के घर की ओर जाती है, वहा निरोती ब्राह्मण रूस्तम खाँ के घर में आग लगा देता है । बाके और रूस्तम की लाशें भी उसमें जल जाती है ।

सुखराम, कजरी और प्यारी के साथ वहा से भागने में सफल हो जाता है । भागरकर वे करनटों के समुदाय में जा शामिल होते है । यहा बीमारी से प्यारी की मृत्यु हो जाती है ।

इस घटना के बाद चमारों पर पुलिस के अत्याचारों का कहर टूट पड़ता है । कई बेकसूर चमार पकड़ कर हिरासत में लिये जाते हैं, महिलाओं की इज्जत लूटी जाती है । सुखराम को उस गांव में जाने पर इस बात का पता चलता है तो उसका बदला लेने के लिए डाकू दल का सहारा लेता है तथा डाकूदल और पुलिस की मुठभेड़ में कुछ सिपाही

मारे जाते हैं। फिर वह डाकू दल से अपना संबंध विच्छेद कर लेता है।

उसी डाकू दल का सरदार एकबार उस क्षेत्र के पोलिटिकल एजेन्ट सायर की बेटी सूसन को जंगल में अकेली घूमते हुए पकड़ लेता है तथा उस पर ज़ोर ज़बरदस्ती करता है। तभी उसकी चीख पुकार सुनकर सुखराम भी वहाँ पहुंच जाता है और पिस्तौल धारी डाकू सरदार से वह निहत्था मुक़ाबले करके उसे परास्त कर सूसन को मुक्त कर लाता है। इस वीरता के पुरस्कार स्वरूप सुखराम को पुलिस के दारूण अत्याचार के विरूद्ध अभयदान भी मिलता है, साथ ही पोलिटकल एजेन्ट सायर के यहाँ उसे नौकरी भी मिलती है।

सूसन ने योरोपियन समाज देखा था। भारत आकर उसे ऐसे ऐसे आश्चर्य देखने को मिले कि उसे भारत में हर बात में रहस्य ही रहस्य दिखाई देने लगा। सुखराम से उसने अधूरे किले की मालकिन ठकुरानी का किस्सा सुनते ही वह स्वयं को ठकुरानी अनुभव करने लगी।

सूसन के साथ आगे चलकर एक हादसा हो जाता है। लोरेंस नाम का एक उसका सजातीय युवक वहाँ आता है और एकांत का लाभ उठाकर उसके साथ बलात्कार कर बैठता है। लोरेंस मक्कार था। उसने सूसन के साथ बलात्कार यह सोच कर किया था कि सूसन लज्जा के मारे किसी से कुछ कहेगी नहीं, किसी को पता नहीं लगेगा और बाद में भी वह उसकी इस कमजोरी का लाभ उठाता रहेगा। किन्तु हुआ इसके विपरीत।

लोरेंस ने उसे पशुत्व की चरम सीमा पर पहुंच कर भोगा था। कजरी द्वारा सूसन के बचाव करने के प्रयत्न में उसने कजरी पर भी लात चलायी थी। उसके इस आचरण पर सूसन इतनी क्रुद्ध हुई थी कि उसने सुखरामके आ जाने पर लोरेंस को उससे पिटवा दिया था। लोरेंस सुखराम के

शौर्य को पहले भी देख चुका था, जब उसने अकेले ही अखाड़े में कुश्ती लड़कर उसे कटार से समाप्त कर दिया था । सुखराम ने लोरेंस को पीट - पीट कर बेदम करने के बाद रस्सी से बाँध दिया तो सूसन ने अपने पिता का हंटर लेकर लोरेंस पर तब तक हंटर बरसाए जब तक वह बेहोश नहीं हो गया ।

पोलिटिकल एजेन्ट के आगमन पर जब उसे इस बात का पता चलता है तो वह क्रोध से जल उठता है और पिस्तौल उठाकर लोरेंस को समाप्त कर देना चाहता है, तब सुखराम उसका हाथ पकड़ लेता है और विवेक की बात समझाता है कि इसका परिणाम क्या होगा ? यहाँ आकर लेखक ने सुखराम के चरित्र को इतना ऊँचा बना दिया है कि इसके सामने पोलिकिटकल एजेन्ट सायर स्वयं को बहुत बौना पाने लगता है । वही दर्प और प्रचण्डता से भरा जो यहाँ राज करने के लिए आया था, कजरी और सुखराम के आगे स्वयं को भीतर ही भीतर नतमस्तक पा रहा था । भारत आकर उसने बहुत कुछ सीखा था, उसमें यह मानवता की बारहखड़ी भी सम्मिलित थी ।

लोरेंस के बर्बर बलात्कार के परिणामस्वरूप सूसन माँ बनती है । गुपचुप बम्बई जाकर प्रसव कराया जाता है । सूसन के बच्चे को सुखराम और कजरी पालेंगे इस बात का वचन वे सायर को देते है लेकिन जब मिस्टर सायर उसे पालने के लिए पैसे देने का प्रस्ताव करते हैं तो वे इन्कार कर देते हैं । सायर एक बार फिर इस अनपढ़ और जाहिल दम्पत्ति से हार जाता है ।

बम्बई में कजरी की मृत्यु हो जाती है । सूसन एक सुन्दर बच्ची को जन्म देती है । सुखराम बच्ची को लेकर गाँव लौट जाता है और सूसन हृदय पर पत्थर रखकर इंग्लैण्ड चली जाती है ।

सूसन की कोख से उत्पन्न और सुखराम द्वारा पालित चन्दा किशोर वय से यौवन की देहरी पर कदम रखने के साथ ही गांव के ठाकुर के बेटे नरेश से प्रेम करने लगती है । नरेश भी प्राणों से अधिक चाहता है । दोनों ऊंच-नीच व जाति-पाति के भेद की कठोर दीवार से बेखबर हो प्यार करते हैं, पर उनका मिलन संभव नहीं हो पाता है ।

सुखराम चन्दा की शादी नीलू से कर देता है, किन्तु न तो चंदा इस विवाह को स्वीकार करती है और न नरेश । चंदा जाति भेद के बारे में गहराई से सोचती है तो वह स्वयं को ठकुरानी और अधूरे किले की मालकिन मानने लगती है । चन्दा सुखराम को लेकर अधूरे किले में जाती है । यहां आकर चन्दा का जो आचरण व व्यवहार सुखराम देखता है उसे देखकर सुखराम को लगता है कि चन्दा नहीं ठकुरानी है ।

उजाड़ अधूरे किले की रहस्यमयता से चन्दा को कोई भय नहीं लगा । किन्तु सुखराम भय के मारे कांप कांप जाता था । चन्दा एक स्थान पर दीवार से टकरा कर बेहोश हो जाती है । सुखराम उसे उठाकर अधूरे किले के खण्डहरों में भटक भटक कर बड़ी मुश्किल से बाहर आ पाता है ।

दूसरे दिन मिस्टर सायर का 15 वर्ष के बाद सुखराम के नाम पत्र आता है । चन्दा सुखराम की अनुपस्थिति में लेखक से वह पत्र पढ़वा लेती है, जिससे उसे ज्ञात होता है कि वह नटनी नहीं अंग्रेज मां की बेटी है । वहठाकुर नरेश के योग्य है अयोग्य नहीं ।

चन्दा फिर अधूरे किले में अकेली पहुंच जाती है और वहां अधूरे किले की मालकिन ठकुरानी की तरह व्यवहार करती है । सुखराम उसे

खोजता हुआ अधूरे किले में पहुंच जाता है । चंदा के ठकुरानी जैसे आचरण और व्यवहार से उसे विश्वास हो जाता है कि चन्दा ठकुरानी की आत्मा है , जो बार बार जन्म ले रही है । अतः वह ठकुरानी की आत्मा को मुक्त करने के लिए चन्दा की हत्या करके पुलिस थाने में जाकर अपना जुर्म स्वीकार कर लेता है।

करनट जाति के जन जीवन के चित्रण के साथ ही उपन्यास में धूपो चमारिन का प्रसंग भी आता है । धूपो एक विधवा चमारिन है । सिपाही रूस्तम खां का दलाल बांके उसका सतीत्व लूटना चाहता है तो एक बार तो सुखराम उसे बचा लेता है, लेकिन दूसरी बार खेत में अकेली देखकर बांके दो ठाकुरों के साथ उस पर बलात्कार करता है । धूपों के चमारिन होने का पता जब चमारों को लगता है तो वे इस अपमान का बांके से बदला लेने वे रिपोर्ट लिखाने के लिए रूस्तम खां के घर पर जाते है । इस घटना का दोषी चमारों को माना जाता है और उन पर पुलिस मनमाना अत्याचार करती है । निरपराध चमार जेल में ठूंस दिए जाते हैं ।

इस प्रसंग के माध्यम से लेखक ने एक ओर जहां सुखराम के चरित्र की महानता को चित्रित किया है, वहीं दलित जातियों पर सवर्ण और पुलिस द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों का भी वर्णन मार्मिक ढंग से किया है ।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि इस उपन्यास में डा० रांगेय राघव ने करनटों के जीवन का समग्र चित्रण सहज स्वभाविक रूप में पूरी तन्मयता के साथ किया है ।

3.13. संथालों के संघर्षमय जीवन की सफल अभिव्यक्ति - रेणु की रचना :

फणीश्वरनाथ रेणु उन रचनाकारों में से हैं, जिन्हें भारतीय जनजीवन की कथा को भारतीय शैली में पेश करने का श्रेय प्राप्त है । उनके उपन्यासों से भारतीयता की खुशबू आती है । भारतीय समाज की नब्ज़ को टटोलकर उन्होंने इससे रूबरू हुआ है । "मैला आंचल" के प्रकाशन के साथ ही हिंदी उपन्यासों में आंचलिक उपन्यास को एक स्वरूप, एक मान्यता मिली ।

मैला आंचल :

"मैला आंचल" उपन्यास आंचलिक उपन्यासों की सृजन यात्रा का प्रारंभ है । यह एक ऐसा विशिष्ट आरंभ है, जिसने एक ओर तो एक नयी विधा को मान्यता दिलाई और दूसरा उसी विधा में ऐसी कृति साहित्य को दी जिसने अछूती दुनिया का कोना ही उजागर नहीं किया अपितु नये प्रश्नों, नयी संभावनाओं एवं नयी दिशाओं का संधान किया है ।"1

इस उपन्यास में दलित वर्ग का पर्याप्त चित्रण मिलता है । इसमें अपने परिश्रम से आबाद की गयी धरती के अधिकार के लिए संथालियों द्वारा किए गए संघर्ष और बलिदान का चित्रण है ।

उपन्यास में मिथिला के मेरीगंज गांव की कहानी के माध्यम से भारतवर्ष के समूचे गांवों की कथा कही गयी है । यह उपन्यास भारत के

- -

1. आंचलिक उपन्यास - सम्वेदना और शिल्प - ज्ञानचन्द गुप्त - पृ. 32

गांवों की स्वतंत्रता के पूर्व और पश्चात् की स्थितियों का बड़ी गहराई और सूक्ष्मता के साथ चित्र प्रस्तुत करता है । उपन्यास पढ़ते समय ऐसा लगता है जैसे एक लम्बी और निर्दोष संगीत रचना हम सुने जा रहे हैं और उसमें ऐसे रम जाते हैं कि अपनी सुध ही नहीं रहती ।

इस उपन्यास में कोई नायक नहीं है, किन्तु डाक्टर प्रशान्त कुमार के चरित्र को पर्याप्त विकास मिला है । विभिन्न राजनीतिक दलों के लिए किये गये तटस्थ विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि लेखक विभिन्न राजनीतिक मतभेदों से ऊपर उठकर शुद्ध मानवतावादी दृष्टि ग्रहण किया है ।

जातिवाद और जातियों के पारस्परिक मतभेदों और संघर्षों का लेखक ने अपने उपन्यास में सजीव चित्रण किया है, जो द्रष्टव्य है ।

गांव में विभिन्न प्रकार की जातियां है - जिनको विभिन्न टोलों का नाम दिया गया है - "मालिक टोला, कायस्थ टोला, यादव टोला"[1] "राजपूत टोला, सिपैहिया टोला, धानुकधारी टोला"[2], "दुसाध टोला और कोयरी टोला आदि"[3] । गांव के सभी बड़े बड़े किसानों का अपना मजदूर टोला है । "सिंध जी का ततमा और पासवान टोला, तहसीलदार साहब पोलिया टोला, धानुक टोला, कुर्मी टोला और कियोर टोला, खेलावन यादव का गुआर टोला और कोयरा टोला । संथाल टोला पर किसी का खास अधिकार नहीं है ।"[4] इन जातियों में आपस में झगड़े भी होते रहते हैं ।

---

1. मैला आंचल - पृ. 10
2. -वही- पृ. 17
3. -वही- पृ. 20
4. -वही- पृ. 160

कायस्थ, राजपूत और यादव परस्पर झगड़ते रहते हैं और इन्हें लड़ाने का कार्य ब्राह्मणों का है, क्योंकि उनकी संख्या सबसे कम है। पिछड़ी हुई जातियां उठ रही है, जिनमें एक विचित्र प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव है, जिससे वे अपनी शक्ति का दुरूपयोग कर बैठते है। यादव टोली के लोगों का बात बात पर लाठी निकाल लेना इसका उदाहरण है। सन्थालों की लड़ाई का चित्र भी उनके बाजों के स्वर की पार्श्वभूमि में लेखक ने अपूर्व कौशल से चित्रित किया है। इस गांव का समूह जातीयता के आधार पर है। यद्यपि आर्थिक आधारों पर निर्मित कुछेक वर्गों का वर्णन भी मिलता है। उच्च जाति वाले लोगों के हथकण्डे अब भी कभी कभी कामयाब हो जाते हैं। इसका भी संकेत लेखक ने संथालों के प्रसंग में कर दिया है। पुराने तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद, नये तहसीलदार, हरगौरी के पिता सिंघजी के राम खेलावन तथा जोतखी काका गांव के जातीय नेता है। जो अपने स्वार्थों में पड़कर गांव की नींद हराम करते हैं।

जातियों में ही ये झगड़े नहीं, चर्खा सेन्टर के मास्टरों और मास्टरानी में लड़ाई - झगड़े हो गए है।"[1] 'पार्टी का वासुदेव कहता है -"दिन भर हमें लेक्चर झाड़ते रहे और भीतरे - भीतरे ...।"[2] "मठ पर झगड़ा हो रहा है। आज लगता है मारपीट ज्यादा हुई है।"[3] अतः स्थान स्थान पर गांव में जाति-पाति की भावना दिखाई पड़ती है। यहां तक की भोज आदि में विभिन्न जातियों के साथ न बैठने का आग्रह भी इसी बात का समर्थन करता है। इसी जातिवाद से जुड़ा

- -

1. मैला आंचल - पृ. 290

2. -वही- पृ. 305

3. -वही- पृ. 391

है दलित वर्ग का शोषण । दलित वर्ग में, विशेष रूप से संथालों के शोषण और दलन का चित्रण "रेणु" ने इस उपन्यास में किया है ।

"मैला आंचल" के कथाक्रम में चार पीढ़ी पूर्व संथाल लोग मेरीगंज की धरती पर आकर बसे थे । जमींदार ने उन्हें इसलिए बसाया था कि उनके घोर परिश्रम के बल पर बबूल, झरबेर और साहुड़ से अटे वनखंड को लहलहाते खेतों में परिवर्तित किया जा सके । इन लोगों ने सैकड़ों बीघे भूमि आबाद की जो सरकारी कागजों में जंगल के रूप में अंकित होती रही ।

संथालों और उनके द्वारा आबाद खेती के संबंध में, उपन्यास में, सटीक और मार्मिक वर्णन उपलब्ध है ।

"·······आज जहां सैकड़ों बीघों जमीन में मोती के दानों से भरी हुई गेहूं की बलिया पुरवैया हवा में झूम रही है, धरती का वह टुकड़ा सर्वे के कागजात और नक्शे में जंगल के नाम से दर्ज है, जिस जंगल में बाघ का शिकार खेलने के लिए जिले भर के राजा और जमींदार जमा होते थे ।···"

नीलहे साहबों के नील के होज ज्यादातर इन्हीं मूक इन्सानों के काले शरीर के पसीने से भरे रहते थे ।

साहबों के कोड़ों की मार खाकर, जमींदार की कचहरियों में दिन भर "मोगलिया बांधी की सज़ा भुगतने के बाद शाम को मोहन की जादू भरी वंशी बजी और सब कष्ट दूर हो गए ।

"रिंग - रिंग ता घिन ता
डा - डिग्गा, डा डिग्गा ।···

सोने के अनाज से भरे हुए धरती के गुप्त भंडार का उद्घाटन करने वालों पर धरती माता का कोप होना स्वाभाविक है । यही कारण है कि आज जमीन के मालिकों ने, जमीन के व्यवस्थापकों ने और धरती के न्याय ने धरती पर इनका किसी किस्म का हक नहीं जमने दिया । जिस जमीन पर उनके झोंपडे है, वह भी उनकी नहीं है । हल में जूता हुआ बैल दिन भर खेत में चास करता है, इसलिए बैलों को धरती का हकदार कबूल किया जाय ? यह कैसी बात है ?

1947 के कांग्रेसी मंत्रीमंडल के समय में इस जिले में एक अंग्रेज कलेक्टर आया था । उसने इस व्यवस्था को अन्याय समझ सुधारने की कोशिश की थी । जिले भर के भूमिहार, जमींदार और राजा घबरा गये थे । जिले के अधिकांश नेता भूमिहार और जमींदार थे । अंग्रेज कलेक्टर पर इल्जाम लगाया गया - संथालों को उभारकर, जिले में अशान्ति फैलाकर कांग्रेस मंत्रीमंडल को असफल करने का षडयंत्र करता है । "कांग्रेस सन्देश" के संपादकीय में संथालों के प्रति थोड़ी सम्वेदना प्रकट की थी । बेचारे विद्यालंकार सम्पादक को उसी दिन मालूम हुआ कि विद्या का अलंकार कितना बेमानी है । जिला मंत्री ने आंखे लाल करके कहा था - "विद्यापीठ का शास्त्र यहां काम नहीं देगा । विद्यापीठ में गधे के सर पर सींग तो नहीं जम सकती । .....

जमींदारों ने अपने भाडे के लठैतों को जगह-जगह संथालों की लहलहाती फसलों पर हुल्का कर संथाल टोलीपर चढाई कर दी, रूपये लाठी के हिसाब से लठैतों को संथालों के तीरों से जख्मी करवा कर, सबल प्रमाण पेश कर दिया था कि संथालों के जोर जुल्म का मुख्य कारण है, यह अंग्रेज कलेक्टर । इसी के बल पर वे कूद रहे हैं ।

"अंग्रेज कलक्टर की तुरन्त बदली हो गयी । बहुत से संथाल सरकारी गोली से घायल हुए और सैकड़ों ने बिहार के 'सफेया कमान' में काम करते करते उम्र बिता दी । इसके बाद कौन चूं करता है, लेकिन मानर और डिग्गा की आवज कभी मंद नहीं हुई । बांसुरी कभी मंद नहीं हुई और न उनके तीरों में जंग लगे ।"[1]

संथालों के साथ पीढ़ियों से होते चले आ रहे अन्याय जमींदारों भूमिहारों द्वारा किए जा रहे शोषण की दुरभिसन्धि को लेखक ने उपर्युक्त पंक्तियों में मार्मिक ढंग से व्यक्त किया है । इसके साथ ही राजनीतिज्ञों की कथनी और करनी के अंतर को बताते हुए उन्हें बेनकाब किया है । किस प्रकार राजनीति भी समर्थ का शास्त्र बनकर गरीब दलित वर्ग के गले की छुरी सिद्ध हो रही है, यह अंग्रेज कलक्टर और निर्दोष संथालों के आजन्म कारावास होने की घटना से प्रमाणित होता है, जबकि न्याय, संथाल और कलक्टर के पक्ष में होता है ।

जंगली जानवरों से तनिक भी भयभीत न होने वाले संथाल इंसान के जंगलीपन के आगे परास्त होते हैं । संथालिनों के शौर्य का एक प्रसंग यों है -

"...... कुछ दिन पहले इसी जंगल में संथालिनों ने एक चीते को कुल्हाड़ी और दाव से मार दिया था । शोरगुल सुनकर गांव के लोग जमा हो गए थे । मरे हुए बाघ को देखकर भी लोगों के रोंगटे खड़े हो गए थे और बहुत तो भाग खड़े हुए थे, किन्तु संथालिने हमेशा की तरह मुस्कुरा रही थी । मकई के दानों की तरह सफेद दन्त पंक्तियां और वही सरल

- -

1. मैला आंचल - पृ. 83

मुस्कुराहट । चीते के अचानक हमले से दो तीन युवतियां सामान्य घायल हो गयी थी । उनके होठों पर भी वैसे ही मुस्कुराहट खेल रही थी ।"[1]

1947 में अंग्रेज कलकटर ने संथालों को उनकी जमीन पर न्यायोचित हक दिलाने का प्रयास किया था, जो बुरी तरह असफल हुआ फिर भी सोशलिष्ट पार्टी की विचारधारा और मेरीगंज के कार्यकर्ता कालीचरण व वासुदेव आदि के प्रोत्साहन पर संथाल फिर अपना हक मांगने के लिए खड़े होते है । मनुष्य के मोह और विवशता का चित्र उपन्यासकार ने यों उघेरा है -

"कालीचरण ने कहा संघर्ष करेंगे । संघर्ष क्या ? परसताब क्या ?

रिंग रिंग - ता - धिन ता ?
डा - डिग्गा - डा - डिग्गा ?"[2]

"...खेत में पाट के लाल पौधों को देखकर जी ललच रहा है । धान की हरी हरी सूई खेत में निकल आई है । माटी का मोह नहीं टूटता । बन्धना पर्व की रात में तूने जुड़े में जो फूल लगाया था, उसे नहीं भूला हूं ? धरती का मोह भी नहीं टूट रहा । प्यारी हमारे, दादा, परदादा पुरवैया की जेल में नर खप गए । मकई के बाल की तरह उनके बाल भी भूरे हो गये होंगे । हमारे बच्चों के दांत दूधिया मकई के दानों की तरह चमकेंगे । उनसे कहना धरती माता के प्यार की जंजीर मे हम बंध गए है । ऐ हाय रे हाय ! रिंग - रिंग -ता धिनता-ता ! डा-डिग्गा, डा डिग्गा ।"[3]

---

1. मैला आंचल - पृ. 125
2. -वही- पृ. 125
3. -वही- पृ. 133

संथाल संघर्ष की राह पर चलते है किन्तु भ्रष्ट और अन्याय परक व्यवस्था से संघर्ष करना क्या आसान है । स्वार्थ के सूत्र में बंधे पूर्व तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद और नये तहसीलदार हरगौरी सिंह तथा अन्य भूमिहार सब एक हो जाते हैं । संथाल टोली की लहलहाती फसलों वाली भूमि सौ रूपया बीघा की सलामी के आधार पर बन्दोबस्त कर दी जाती है ।

'जमींदारी प्रथा खत्म हो गयी । अब जमींदार जमीन से बेदखल नहीं कर सकता । हमने उन्हें जमीन से बेदखल कर दिया है। जो जोतेगा जमीन उसकी है । जो जितना जोत सको, जिसकी जमीन मिले बोओ, काटो । अब बांटने का झंझट नहीं । धरती माता का प्यार झूठा नहीं है, मादल, बिजली नाच रही है । तुम भी नाचो । नाचो... नहीं उतरेगा जब तक पूर्णिमा का चांद न डूब जाय, घने बादलों में नाचना बन्द नहीं होगा । चांदनी की तरह प्रियतमा की मुस्कराहट बंसुरी सी मीठी बोली तीर की तरह जिस पर घाव करती है ।.... मेरे कलेजे पर फूलों से भरा हुआ सिर रख दो प्रिये ।

डा - डिग्गा, रिरि, ता - धिन -[2]

संथल टोली की जमीन बेनामी पर सिंघजी खेलावन जैसे समृद्ध भूमिहारों के नाम बन्दोबस्त कर दी जाती है । संथाल संघर्ष की राह अपनाते हैं । उस समय न कांग्रेस नेता बलदेव उनका साथ देते हैं न समाजवादी कालीचरण । उन्हें केवल अपनी भुजाओं और अपने तीरों पर ही भरोसा है । मेरीगंज के लोगों पर नहीं । संथाल तहसीलदार विश्वनाथ

- -

1. मैला आंचल - पृ. 140-141
2. -वही- पृ. 154-155

प्रसाद सिंह के खेतों पर धावा बोल देते हैं । इस संघर्ष का चित्रण लेखक ने यों किया है -

" .... कुहराम मचा हुआ है, पाट के खेतों में कोठी के जंगलों में...... । कहां दो सौ आदमी और कहां दो दर्जन संथाल, डेढ़ दर्जन संथालिने । सब ठण्डा । सब ठण्डा ?"[1]

"संथाल टोली के चार आदमी ठण्डे हुए, सात घायल हुए और एक लड़के की हालत खराब है । संथालिने दुहरे दर्द से कराह रही है । तहसीलदार की हंसेरी में दस ठण्डे हुए, बारह बुरी तरह जख्मी हुए और तीस आदमी को मामूली घाव लगे हैं ।"[2]

संथाल टोली को लूट लिया गया । तहसीलदार हरगौरी की हालत बहुत खराब है, शायद नहीं बचेंगे ।"[3]

तहसीलदार हरगौरी की मृत्यु हो जाती है । अस्पताल में भर्ती नौ संथाल गिरफ्तार होते हैं । गांव वालों की ओर से कोई गिरफ्तार नहीं होता । पुलिस अपने ढंग से आगे की कार्यवाही करती है, जिसमें कालीचरण, वासुदेव, डाक्टर प्रशान्त कुमार भी पकड़े जाते हैं और उन्हें सजा होती है, संथालों को हिंसा के लिए भड़काने के जुर्म में ।

यह होता है : इस संघर्ष का परिणाम । संथालों को अपनी जमीन नहीं मिलती, जेल मिलती है, किन्तु यह संघर्ष विफल होकर भी व्यर्थ नहीं जाता । तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद के दामाद और

- -

1,2,3. मैला आंचल - पृ. 156

उत्तराधिकारी के रूप में डा० प्रशान्त कुमार संथालों को उनकी जमीन सौंप देता है । इस प्रकार लेखक ने आदर्श और आशावादिता का सहारा लेकर उनके संघर्ष को व्यर्थ नहीं होने दिया है ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात दलित वर्ग को समता का जो अधिकार विवशतापूर्वक ही सही, सवर्णों द्वारा दिया जाने लगा उसका चित्रण भी उपन्यास में बड़े उत्कृष्ट ढंग से हुआ है ।

अत: निष्कर्ष के तौर पर कह सकते है कि आदर्श एवं यथार्थ के मध्य गुजरती कथा दलित वर्ग के संघर्ष एवं असहायता दोनों को उजागर करती है । यह आरंभिक सिलसिला था जो आगे नये तेवर एवं नये रूप में उभर कर सामने आया ।

3•14• प्रेम और आस्था के प्रतीक दलित नारी -"सती मैया का चौरा:"

"भैरव प्रसाद गुप्त के उपन्यास मार्क्सवादी विचारधारा के आधार पर समाजवादी परम्परा में आते हैं । इनमें आधुनिक समाज व्यवस्था का चित्रण आर्थिक संघटन को पृष्ठभूमि में किया गया है, सामाजिक विसंगतियों की व्यंजनों समाजवादी चिन्तन से प्रभावित है ।"[1]

सत्ती मैया का चौरा गुप्त जी की उत्कृष्ट रचनाओं में अन्यतम है । इस उपन्यास में कैलसिया और बसमतिया नामक दलित नारियों का चित्रण उदात्त चरित्र वाली महिलाओं के रूप में हुआ है । कैलसिया और बसमतिया अनपढ़ और जाति से नीच है । फिर भी मन्ने जैसा एम•ए

1• हिंदी उपन्यास - डा० सुषमा धवन - पृ• 309

पास विवेकशील और विचारशील युवक स्वयं को उनके सामने बौना पाता है । कैलसिया और बसमतिया के चरित्र के माध्यम से लेखक ने यह प्रतिपादित किया है कि प्यार और अपनत्व की भावना कहीं शेष रही है तो इन पीड़ित और प्रताड़ित नारियों में ही शेष सब तो स्वार्थ के हाथों बिक गए हैं । जीवन के प्रति जो आस्था और प्रेम के प्रति जो उदात्तता इन नारियों में है वहअनूठी है ।

कैलसिया नन्दराम तेली के बेटे किशन के बलात्कार का शिकार होती है । उस अन्याय के प्रतिकार हेतु,जिन्हें उपन्यास में मियां जी के नाम से वर्णित किया है, इस लड़ाई में प्राणपण से हिस्सा लेते हैं । वह केलसिया को पालकी में बिठा कर थाने में ले जाते हैं । कैलसिया इस सम्मान को पाकर धन्य हो जाती है । मियांजी की चौखट उसके लिए देवता की देहरी बन जाती है ।

मिया जी के निधन के साथ कैलसिया की वह चौखट छूट जाती है । मन्ने उसकी ओर कतई ध्यान नहीं देता फिर भी कैलसिया पुत्रवत स्नेह करती है । बेटे के कष्ट में मां जो पीड़ा अनुभव करती है, वही मन्ने की कलकत्ता प्रवास के दौरान अस्वस्थता में वह अनुभव करती है । बीमारी के दौरान वह उसे अपने घर में ले जाकर अपनी सेवा सुश्रुषा के द्वारा एक तरह से नया जीवन देती है । मन्ने उसके प्यार को मान नहीं दे पाता, फिर भी कैलसिया उनसे विमुख नहीं होती ।

बसमतिया मन्ने के खेतों पर काम करने वाली मुनसेरी चमारिन की बेटी है जो मन्ने के संसर्ग से गर्भवती हो जाती है । मन्ने बसमतिया के यौवन से खेलने के लिए प्यार का नाटक करता है, उसे बसमतिया सच मान बेठती है किन्तु बसमतिया का पांव भारी होते ही मन्ने पल्ला झाड़कर खड़ा हो जाता है । उसे आवाछित गर्भ से मुक्ति की राय देता है । बसमतिया का नारीत्व उसे सहनहीं पाता है । वह मन्ने को

धिक्कार - दुत्कार देती है । वह अपनी माँ और मन्ने दोनों के दबावों को नहीं मानती और बच्चे के पिता का नाम बताए बिना ही उसे बड़ा करती है ।

इस उपन्यास में तीसरा महत्वपूर्ण पात्र है जलेसर कोईरी, जो क्रान्ति चेतना और संघर्ष में मन्ने और मुन्नी जैसे युवको का साथ देता है । जलेसर चौधरी ग्राम सभा का सभापति है जो विद्यालय और सत्ती मैया के चौरे को लेकर स्वार्थपरक व्यवस्था के हिमायती कांग्रेसी नेताओं के विरोध में खड़ा होता है और ग्रामवासियों का नेतृत्व करता है ।

जलेसर कोईरी के मन में कोई स्वार्थ नहीं है । इस कारण वह सत्ती मैया के चौरे को लेकर बनिया वर्ग और कृषक वर्ग के बीच उत्पन्न तनाव को मिटाने के लिए जिले के नेताओं से भी मिलता है किन्तु उसे निराशा ही हाथ लगती है । जिले के नेता त्रिलोकीराय टुच्ची पार्टी बन्दी से ऊपर उठ नहीं पाते ।

सभापति जलेसर कोईरी के प्रयासों को लेकर मुन्नी कहता है - "देखा तुमने यह फर्क ? एक सभापति मेरे भाई साहब थे और एक यह कोईरी है । सभापति बनते ही वे अपने गांव का हाकिम समझने लगे थे और ठीक अंग्रेजों के ज़माने के गांव के मुखियों की तरह उन्होंने व्यवहार किया था । और आज यह कोइरी है कि सभापति बनते ही गांव का सारा दुःख दर्द अपने सिर पर ओढ़ने को उद्यत है । उसकी सोयी हुई सारी नैतिकता, कर्त्तव्यपरायणता और भाईचारगी जाग उठती है और वह चाहता है कि जैसे भी हो गांव के लोगों का आपसी मन-मुटाव दूर हो, उनमें एकता स्थापित हो, सद्भावना उत्पन्न हो, ताकि सब लोग गांव की भलाई के लिए कुछ काम कर सके ।"[1]

---

1. 'सत्ती मैया का चौरा' - भैरवप्रसाद गुप्त - पृ. 702-703

उपन्यास में उच्च वर्ग और दलित वर्ग के बीच किसी प्रकार के संघर्ष का चित्र नहीं मिलता है । वैयक्तिक स्तर पर दलित व उच्च वर्ग के बीच कोई संघर्ष दिखाई देता है तो वह नैतिक मूल्यों को लेकर । दलित पात्र दीन हीन होकर भी नैतिक मूल्यों के प्रति आस्थावान है, जबकि तथाकथित उच्चवर्ण के व्यक्ति इस दृष्टि से दीन और कमजोर सिद्ध होते है । उपन्यास समाज से ज्यादा व्यक्ति के इर्द-गिर्द मंडराता रहा है । सामाजिक विसंगतियों से ज्यादा वैयक्तिक विसंगतियों को उभारने का प्रयास इसमें ज्यादा है । दलित वर्ग के पात्रों का चित्रण होने के बावजूद भी दलित जीवन की पीड़ा को उजागर करने में यह उपन्यास एक तरह से विफल रहा है । यथार्थ से ज्यादा आदर्श के प्रलेप ने उपन्यास को भटका दिया है । कथानक ग्रामीण परिवेश पर आधारित है । उपन्यास का प्रत्येक पात्र आदर्श की बीमारी से ग्रसित है । फिर भी स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय ग्रामीण परिवेश में दलित वर्ग की कथा को कहने का प्रयास प्रशंसनीय है । वस्तुत: इस उपन्यास में जहां भी दलित पात्रों का चित्रण हुआ है उस चित्रण का मूल स्वर रांगेय राघव के "कब तक पुकारूँ" जैसा है ।

3.1.5. ह्रासोन्मुख मानवीय मूल्यों का दर्पण -"जल टूटता हुआ":

"जल टूटता हुआ" उपन्यास सातवें दशक का एक उल्लेखनीय उपन्यास है । जिसमें लेखक ने अपने गांव की धरती से जुड़कर भोगे हुए यथार्थ की विभिन्न संगति - असंगतियों को, सम्बन्धों के तनाव और विघटन को, मूल्यों और विश्वासों के बनते बिगड़ते स्वरूपों को तथा जीवन के भीतरी बाहरी अभावों को विषम और क्रूर चुनौतियों को आधुनिक संदर्भों में रूपायित करने का प्रयत्न किया है ।"[1] जैसा कि नाम से स्पष्ट है -

1. आंचलिक उपन्यास -संवेदना और शिल्प -डा0 ज्ञानचन्द्र गुप्त-पृ. 70

"गवई जिन्दगी में टूटन और उसमें टूटते बनते संबंधों का अजीबोगरीब सिलसिला है । इसके विशाल कलेवर में लेखक ने विभिन्न संदर्भों में बनते-बिगड़ते नाना संबंधों का वृहत लेखा जोखा प्रस्तुत किया है ।[1] इन बनते बिगड़ते मानव सम्बन्धों की इस कथा में दलित वर्ग भी जुड़ा हुआ है ।

इस उपन्यास में दलित वर्ग का चित्रण शोषित वर्ग के रूप में हुआ है जो सम्पन्न और अपने को सवर्ण कहने वाले ब्राह्मणों व ठाकुरों की हलवाही करता है ।"इनका जीवन बन्धुआ श्रमजीवियों जैसा है । उच्च वर्ण के लोग उन्हें सदा के लिए हलवाहे बनाए रखने के लिए हर प्रकार का छल-छद्म करते है तथा अन्याय व आतंक का भी सहारा लेते है । स्वतंत्र भारत में प्रजातंत्र के नाम पर उनका राजनीतिक शोषण होता है । निम्न एवं दलित वर्ग के प्रति लेखक की सहृदयता सर्वत्र देखने को मिलती है ।"[2]

इस उपन्यास में कई पात्र है, और उन पात्रों के अपने चरित्र हैं, जिनसे परिचालित होकर पाठक के मन में अपार घृणा, अपार स्नेह, अपार श्रद्धा और अपार करूणा उपजती है । एक ओर महीप सिंह, दीन दयाल और दौलत राय जैसे व्यक्ति है जिन्होंने भाटपुर और तिवारीपुर के जन जीवन को पूरी तरह अपने स्वार्थ और आतंक से नरक बना दिया है । वहीं सतीश जैसा निस्पृह और आदर्शवादी व्यक्ति है । कुंजु जैसा भावुक और दिलेर व्यक्ति है जो एक दलित वर्गीय कहारिन से सम्पूर्ण हृदय से प्रेम करता है । भरे समाज के सम्मुख छाती ठोंक कर उसे सदा के लिए अपनाता है । जातिगत द्वेष एवं व्यक्तिगत स्वार्थ के

---

1. आंचलिक उपन्यास -संवेदना और शिल्प-डा0 ज्ञानचंद गुप्त- पृ. 95

2. -वही- पृ. 94

कारण इन गांवों में बन गए नरक को छोड़ जाने का साहस भी वह कर पाता है । अमलेश जी जैसे कवि भावुक और विद्वान व्यक्ति हैं, जिनके पास विद्या, आदर्श, सहृदयता का धन तो है किन्तु येन-केन प्रकारेण अपना घर भर लेने के हथकण्डे वे नहीं जानते । इस कारण समाज में उनका कोई मान सम्मान नहीं होता है । एक ऐसा कटु सत्य है जो भारत भर में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है । बनवारी बाबा जैसे पात्र भी हैं, जिनका मन सांसारिक माया मोह में रमता नहीं है, केवल अपने मन की बात मानता है । इस कारण उनकी पत्नी व बच्चे तक उन्हें निरादृत करते है । शारदा और उमाकान्त जैसे युगल हैं, जो समाज एवं परिवार के घोर विरोध के बावजूद परस्पर प्रेम करते है और अन्त में एक दूसरे को पाने में सफल होते हैं ।

समाज में जातिवाद की जड़े कितनी गहरी है और श्रम को कितनी घृणा की दृष्टि से देखा जाता है इसका उदहारण मानवतावादी सतीश के शब्दों में दृष्टव्य है --"यही प्रायमरी स्कूल में हरिजन मास्टर आया है, वह डण्डों से बामनों, ठाकुरों के बच्चे को मारता नहीं है.... लेकिन लोग चाहते है कि चमार, चमार ही रहे, नाई, नाई ही रहे, ये भले ही बामन ठाकुर न रह गए हों । ये लोग हरिजनों की पढाई का मजाक उड़ाते हैं, मानों इनकी हलवाही करने के लिए वे हमेशा चमार बने रहे.... मैंने तो कई बार आवाज उठाई कि हल उठाओ और अपना काम खुद करो लेकिन अभी इनका ब्राह्मणत्व इनके चन्दन की तरह इनसे लिपटा है । सारे दुष्कर्म करते हैं ये लोग लेकिन हल जोतने में इनका सारा धर्म नरक में पड़ता है । जब गांव में एक भी हरिजन नहीं रहेगा तब झख मारकर ये लोग अपना - अपना हल खुद

उठाएँगे, लेकिन पता नहीं वह दिन कब आएगा ? अभी तो कोई आवाज नहीं सुनाई पड़ रही है ।"[1]

यह उपन्यास व्यक्ति के पतन और समाज के पतन की जीती जागती कहानी है। इस कहानी से हरिजनों की व्यथा कथा भी जुड़ी हुई है, जो मार्मिक रूप से उद्भासित होती है - यथा - बदमी बाढ में बह जाती है तो उसके नीच जाति की होने के कारण कोई उसे बचाने की ओर ध्यान नहीं देता । जैसे कहाइन जानवरों से भी गया बीता कोई जीव हो । उसके विपरीत कुंजु तिवारी के हृदय में, जो समाज का घिनौना रूप देखकर समाज से अलग थलग पड़ चुका था, मानव-मानव के प्रति भेदभाव नहीं था । अत: वह अपने प्राण संकट में डालकर उसे बचा लाता है । तब उसका वास्तविक रूप ग्रामवासियों के सामने आता है कि वह निकम्मा नहीं, सहृदय और साहसी व्यक्ति है । ऐसे में बदमी उसे प्यार करने लग जाए तो उसका क्या दोष ?

"बदमी की जिन्दगी का चित्रण लेखक ने विस्तार से किया है । बाल विवाह के अनन्तर कच्ची उम्र में शराबी एवं विलासी पति द्वारा समय-असमय किये जाने वाले अत्याचार, पति की जेल होना, तत्पश्चात कई पुरूषों द्वारा उसके सतीत्व का शोषण करना, यहाँ तक कि स्वयं उसके पति द्वारा वेश्यावृत्ति के लिए विवश करना जैसी बातें जहाँ एक ओर पाठक के मन में गहरी करूणा उपजाती है वहीं असवर्णों के प्रति और स्त्री समाज के प्रति उसके मन में दया भी ।"[2]

---

1. जल टूटता हुआ - पृ. 225
2. जल टूटता हुआ - पृ. 79

सम्पूर्ण उपन्यास में सतीश और कुंजु केवल दो पात्र ऐसे हैं जो असवर्णों को अपनी तरह मनुष्य मानते है और उनके उत्थान के लिए प्रयत्न करते है । शेष सब उन्हें पददलित करने में ही रूचि रखते हैं । कभी उन्हें सम्मान देते है तो स्वार्थ के खातिर । रामकुमार द्वारा 15 अगस्त को जग्गूराम हरिजन को सभा का अध्यक्ष बनाना एक ऐसा ही कृत्य है । ये घटनाएं आज की सामाजिक स्थिति को प्रकट करती है ।

समाज हरिजनों के उत्थान के लिए प्रयत्न नहीं करता । फिर भी हरिजन समाज के उत्थान के लिए हर समय तैयार रहते है । जग्गू हरिजन बहुत देर से स्कूल के विवाद में चुप थे, जैसे कुछ समझ नहीं पा रहे थे, बोले -"स्कूल सबका है, हम हरिजन लोग अगर पैसा रूपया नहीं दे सकते तो मिहनत तो दे सकतें हैं न । इस जवार में तरह तरह के हुनर वाले कारीगर है, मजूर हैं । उन सबका फरज है कि वे लोग स्कूल का मकान बनाने में मदद दे । मैं इस मामले में पिकेटिंग करूंगा । मुझे विश्वास है कि यह काम हो जाएगा, एक बार फिर झण्डा उठाउंगा ।"1

हरिजन सामाजिक कार्यों में मदद करने में जितने मर्द है अपने अधिकार मांगने और अपनी बहू बेटियों की इज्जत बचाने में उतने ही नामर्द है । इस सत्य को उजागर करने वाले कथन इस प्रकार है ।

"जग्गू हरिजन, जो बड़े बड़े नेताओं के झूठे भाषण मुंह में दबाकर हरिजन मंडल में फिरते थे, तिरंगा झण्डा उठाए, झोली लटकाए और उन भाषणों को अपने ढंग से उगलते थे और वे नेताओं के लिए वोट बटोर लाते हैं । आज भी बटोरते है । वे ही जग्गू हरिजन आज भी गोंड़यत

- -

1. जल टूटता हुआ- पृ. 117 - 118

सम्पूर्ण उपन्यास में सतीश और कुंजु केवल दो पात्र ऐसे हैं जो असवर्णों को अपनी तरह मनुष्य मानते है और उनके उत्थान के लिए प्रयत्न करते है । शेष सब उन्हें पददलित करने में ही रूचि रखते हैं । कभी उन्हें सम्मान देते है तो स्वार्थ के खातिर । रामकुमार द्वारा 15 अगस्त को जग्गूराम हरिजन को सभा का अध्यक्ष बनाना एक ऐसा ही कृत्य है । ये घटनाएं आज की सामाजिक स्थिति को प्रकट करती है ।

समाज हरिजनों के उत्थान के लिए प्रयत्न नहीं करता । फिर भी हरिजन समाज के उत्थान के लिए हर समय तैयार रहते है । जग्गू हरिजन बहुत देर से स्कूल के विवाद में चुप थे, जैसे कुछ समझ नहीं पा रहे थे, बोले -"स्कूल सबका है, हम हरिजन लोग अगर पैसा रूपया नहीं दे सकते तो मिहनत तो दे सकतें हैं न । इस जवार में तरह तरह के हुनर वाले कारीगर है, मजूर हैं । उन सबका फरज है कि वे लोग स्कूल का मकान बनाने में मदद दे । मैं इस मामले में पिकेटिंग करूंगा । मुझे विश्वास है कि यह काम हो जाएगा, एक बार फिर झण्डा उठाऊंगा ।"[1]

हरिजन सामाजिक कार्यों में मदद करने में जितने मर्द है अपने अधिकार मांगने और अपनी बहू बेटियों की इज्जत बचाने में उतने ही नामर्द है । इस सत्य को उजागर करने वाले कथन इस प्रकार है ।

"जग्गू हरिजन, जो बड़े बड़े नेताओं के झूठे भाषण मुंह में दबाकर हरिजन मंडल में फिरते थे, तिरंगा झण्डा उठाए, झोली लटकाए और उन भाषणों को अपने ढंग से उगलते थे और वे नेताओं के लिए वोट बटोर लाते हैं । आज भी बटोरते है । वे ही जग्गू हरिजन आज भी गोंडयत

---

1. जल टूटता हुआ- पृ. 117 - 118

है, पत्तल ढोते हैं, गोवरहे की रोटी खाते हैं, और जिनकी औरतें आज भी मुरदार हंसिया लिए औरतों को बच्चा पैदा कराती फिरती है और जिनकी नयी बहू आज मजूरी करने पर ही मजबूर होती है और मालिकों के गांव में जिनकी अस्मत आज भी उसी तरह खतरे में होती है, जो आज भी मजूरे हैं, गांव के खेतों में या शहरों के कारखाने में।"[1]

"सवर्ण पात्र पार्वती अपनी दैहिक भूख के लिए हरिजन पात्र हंसिया से कई बार संसर्ग करती है। किन्तु एक बार पकड़ी जाने पर हंसिया पर अपने साथ जबरदस्ती करने का इल्जाम लगा देती है। फलत: उसे बुरी तरह मार पड़ती है। दूसरी ओर सवर्ण आए दिन हरिजनों की बहू-बेटियों की इज्जत से खेलते हैं, किन्तु नामर्द हरिजन उसे पचा जाते हैं।"[2]

हंसिया की बहन लवंगी हरिजन नेता जग्गू को इस प्रकार आड़े हाथ लेती है --"हरिजनों के नेता मैं तुमसे फरियाद करती हूँ कि वोट लेने वाले नेताओं से जाकर कहो कि हमारा खून, खून नहीं है, हमारी इज्जत, इज्जत नहीं है तो हमारा वोट ही क्यों है ? ये देखो जग्गू नेता तुम्हें याद है जब मुझे दलसिंगार बाबा ने पकड़ कर बेइज्जत करना चाहा था तो मैं फरियाद लेकर कहाँ-कहाँ नहीं रोई, लेकिन सबने मजाक करके टाल दिया था और तुमने भी कहा था कि जाने दो, बाबा लोगों से कौन लगे ? दीन - दयाल बाबा से पूछिए कितनी बार काम करते समय मेरी बांह पकड़ कर घसीटा है, इन्होंने और मैं भीतर भीतर रोकर चुप हो गयी हूँ। यह जानकर कि मेरी

- -

1. जल टूटता हुआ - पृ. 222
2. -वही- पृ. 231-233

कोई नहीं सुनेगा ? और , और तो और पारबती वहिनी के बाबूजी उस बार जब होली में आए थे तो गली में मुझे पकड़ कर रंग लगाने के बहाने खूब बेइज्जत करना चाहा था, और जब फरियाद की थी तो लोगों ने मजाक में उड़ा दिया था । जैसे कल तक चिल्लाते थे कि नया जमाना आ रहा है, नयी जिन्दगी आ रही है ।"[1] लवंगी का यह कथन हरिजनों के राजनीतिक शोषण का यथातथ्य चित्रण है । वोट लेने के समय तो हरिजनों की पूछ होती है । बाद में उन्हें भुला दिया जाता है । उनके प्रति किये जाने वाले अमानवीय कृत्यों में कोई कमी नहीं आती ।

दलित वर्ग में मानवता का सहृदयता शेष है । सवर्ण कहे जाने वाले लोग तो इनको घोल कर पी गये हैं । इस सत्य को उजागर करती लेखकीय टिप्पणी द्रष्टव्य है । "· · · यह ब्राह्मण खून है, वह स्वयं एक हरिजन बालक को अपनीकाम पिपासा के लिए उत्तेजित कर सारा दोष उसी पर थोप कर नकली ढंग से सिसक रही है और दूसरी ओर हरिजन खून है, हंसिया जो भरी सभा में लात खा रहा है, कुछ भी नहीं बोल रहा है और लवंगी एक खरी लपट की तरह ब्राह्मणों के तमाम चेहरों पर उड़ती हुई उन पर लिखी अस्पष्ट लकीरों को उभारती गरज रही है ।"[2]

आज के सत्य को लेखक ने अपने उपन्यास में इन शब्दों में व्यक्त किया है । "······ गांव टूट रहा है, मूल्य टूट रहे हैं, सत्य टूट रहा है, कोई किसीका नहीं, सभी अकेले हैं, एक दूसरे के तमाशाई, वही

- -

1· जल टूटता हुआ - पृ· 235 - 236

2· -वही- पृ· 236

क्यों सबका ठेका लिए फिर .... गांव टूट रहा है .... मगर नहीं एक नया गांव बन भी रहा है । वह है किसानों - मजूरों का । जगपत्तिया का खेत नहीं कटवा सके महीप सिंह । वह अकेला नहीं था, उसके साथ अनेक हाथ उठ गए थे मरने - मारने को तैयार । मगर वह सरपंच है सबका उपकार कर चुका है, प्रतिष्ठित व्यक्ति है और महीप सिंह के गुण्डे उसको पीट गए कोई साथ नहीं आया । वह करता क्या ? झगड़ा करता ? अकेले इतने गुंडों से झगड़ा करके मार खाता ..क्या ?[1] इस टूटन के साथ दलित वर्ग भी जुड़ा हुआ है । आजादी मिल जाने एवं सरकार द्वारा कानूनी और आर्थिक संरक्षणों के प्रावधानों के बावजूद भी दलित वर्ग को उत्पीड़ित किया जा रहा है । इस सच्चाई को लेखक ने अपने उपन्यास का वर्ण्य विषय बनाया है ।

3•1•5• सामंती व्यवस्था से सीधी टकराहट 'नाच्यौ बहुत गोपाल':

नाच्यौ बहुत गोपाल - अमृत लाल नागर के उपन्यास "नाच्यौ बहुत गोपाल" का उद्देश्य है, भारतीय समाज में सामन्ती दमन के निकृष्टतम रूपों से साक्षात्कार कराना और उनके प्रति हमारे मन में नफ़रत और विरोध का तीखा बोध पैदा करना । अपने इस संवेदनात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने पाखाना धोने वाले और टोकरी में मैला ढोने वाले भंगी समुदाय के जीवन यथार्थ का मार्मिक चित्रण किया है ।"[2]

- -

1• जल टूटता हुआ - पृ• 258

2• आलोचना (त्रैमासिक) विजेन्द्र नारायण सिंह - उपन्यास अंक जनवरी - जून - 83 - पृ• 32

"नागर जी की विशेषता है कि वे समाज पर कलम चलाने बैठते हैं, तो उसके सारे अन्तर्विरोधों और पाखण्ड को छीलते हैं । इस उपन्यास में भी अनेक कथाएं और विभिन्न प्रसंग है, जो मूल कथा को गतिशीलता प्रदान करने में समर्थ है ही उनका अलग से भी अपना विशिष्ट महत्त्व है । एक भी ऐसी कथा या प्रसंग अनावश्यक नजर नहीं आता और न ही वह समूचे उपन्यास के गठन के बाहर निकल कर उसे क्षति पहुंचाता दिखाई देता है । कथा के अनेक सूत्र बिखेरना और फिर उन्हें एक सुगठित ढांचे की निश्चित संरचना में समेटने की कला में भी नागर जी का यह उपन्यास उनके पिछले सभी उपन्यासों से बहुत आगे है ।"[1]

इस उपन्यास में मेहतर जाति की दयनीय, दलित एवं दीन-हीन स्थिति का करूण व मार्मिक चित्रण भरा पड़ा है । लेखक ने औपन्यासिक कलेवर की सृष्टि के लिए मोहन व निर्गुनिया की जीवन कथा के सूत्र में इन वर्णनों को इस प्रकार पिरो दिया है कि ये वर्णन उपन्यास की कथा निर्वाह के ही अंग लगते हैं ।

उपन्यास के कथानक का उत्स उपन्यास की नायिका निर्गुन का जीवनवृत्त है, जो नियति के कराल हाथों वासना के दलदल में पड़े विलासी लोगों के चक्रव्यूह में जा पड़ती है, जिसमें उसकी स्वयं की माता भी सम्मिलित है । अल्प वय में ही वह उन लोगों द्वारा वासना और विलास की मरीचिका में फंसा दी जाती है और समय की गति के साथ वह बूढ़े और शंकालू मसूरियादीन की पत्नी बना दी जाती है, जो उसके यौवन को छक कर भोगना चाहता है पर शरीर साथ नहीं देता । मसूरियादीन की यह दैहिक इच्छा निर्गुन को तृप्ति तो देती

- -

1. आलोचना (त्रैमासिक) विजेन्द्र नारायण सिंह उपन्यास अंक जनवरी - जून, 83 - पृ. 32

नहीं उसकी काम क्षुधा को दीप शिखा बना देती है ।बूढ़े मसूरियादीन उसे ताले में बन्द रखता है ।

हवेली में दिनभर में केवल एक बार किसी की सूरत दिखाई देती है तो वह टट्टी साफ करने आने वाली मेहतरानी की । एक बार मेहतरानी के छुट्टी पर जाने के कारण उसका बेटा सफाई के लिए आने लगा । उसकी जवानी में निर्गुनिया को अपनी भूख की तृप्ति की राह दिखाई दी और उसने अपनी ओर से प्रयास करके उसे लड़के से पुरूष बना दिया । उसके प्रेम में अंधी होकर निर्गुन उसके साथ भाग खड़ी होती है और ब्राह्मणी निर्गुन से निर्गुनिया मेहतरानी बन जाती है । वह एकदम मेहतरानी नहीं बन सकी । काफी शारीरिक और मानसिक यन्त्रणाएं सहने और थक हार कर टूट जाने के बाद वह मेहतरानी बनी ।

मोहन छावनी में एक अंग्रेज जेक्सन की "यंग क्रिचियन लीग" के बेण्ड में काम करता था । अपनी यौन संबंधी अप्राकृतिक आदतों के कारण डेविड नामक लड़के को अपने यहां रखने के कारण डाकू वहीदा की उस पर नजर पड़ती है और परिस्थितियां ऐसी बन जाती है कि मोहन को डाकू वहीदा के गिरोह में सम्मिलित होना पडता है ।

मोहन के वहीदा डाकू के दल में सम्मिलित हो जाने पर निर्गुनिया फिर अकेली और निराश्रित हो गयी । एक ओर तो उसका अतीत उसके लिए स्वयं बेड़ी बना हुआ था,' ऊपर से जवानी और सौन्दर्य के लिए एक नारी और वह भी मेहतरानी,' किन्तु विषम और विकट परिस्थितियों में भी धैर्य न खोकर चतुराई और परिश्रम से उसने अपने आप को बचाया ही नहीं अपने परिवार व बच्चों को बनाया भी तथा समाज में अपनी हैसियत बनायी ।

मोहन का डाकू होना उसके लिए रक्षा कवच भी रहा, और कष्टों का कारण भी बना । वह मोहन को उसकी निष्ठुरता के बावजूद पूरे मन से प्रेम करती रही । मोहन भी उससे मिलता रहा दुस्साहस-पूर्वक । इन सबके संयोग से इस उपन्यास में निर्गुनिया के चरित्र को एक अनुपम विकास मिला है । यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि हिन्दी उपन्यासों में निर्गुनिया जैसी नारी चरित्र अपने आप में अकेली है ।

उपन्यास में दलित वर्ग के बारे में जो विशेष प्रसंग है वह इस प्रकार है ।

लेखक ने भंगी स्त्री की स्थिति को इस प्रकार चित्रित किया है । भंगी टोले से एक स्त्री की आवाज आ रही थी, "मैं हरगिज नहीं जाउंगी । इस कमीने के साथ, कोई धौंस है ? वाह !

दूसरा पुरूष गरजा "जाना तो तुझे पड़ेगा ही हरामज़ादी, चाहे हंस के जा, चाहे रो के जा । मेरे पास पन्द्रह सौ रूपए नहीं है कि जमादार और दरोगा और फिर चीफ साहब को चटाकर अपने लिए काम पा सकूं ।" "तो काम पाने के लिए अपनी औरत की इज्जत लुटाएगा, हरामजादे तुझे शर्म नहीं आती ?"

"मजलूम और गरजमन्द आदमी सबकुछ कर सकता है । और तेरी इज्जत है ही कहां" ? कुतिया, रण्डी और गरीब की जोरू की भला क्या इज्जत होती है ? मेरा जी न दुःखाओ कहे देता हूं, नहीं तो भगवान कसम ऐसा उब गया हूं, जिनगी से कि तुझे मार मार कर आप फांसी पर चढ़ जाउंगा ।"

दूसरी स्त्री का स्वर आया - "तुम तो बेकार पीछे पड़े होंगे । अरे यह हाकिम लोग बड़े मुदीर होंगे । हरामजादे इज्जत की इज्जत लूटेंगे और पैसे भी पूरे नहीं देंगे । भला बताओ, एवजी की नौकरी के लिए पन्द्रह सौ रूपए माँग रहे होंगे । ऊपर से शर्त यह है कि औरत के हाथ भेजें । यह कोई भलमनसाहत होंगे । महीने भर बाद फिर वही चरखा । अपनी औरत को कुतिया बनाओ और ऊपर से हजार पाँच सौ, फिर चटाओ तो नौकरी पक्की । अन्धेर खाता है । पुरूष ने कुछ कहा पर सुनाई नहीं दिया । पत्नी का स्वर फिर उँचा उठा -- आजकल औरत का राज होगा । अब कोई भी औरत ऐसी गई - बीती नहीं रही होगी कि अपनी आबरू जबरदस्ती लुटाएं ।"[1]

यह एक चित्र है दलित वर्ग की निम्नतम जाति मेहतरों का, जिन्हें आजीविका के लिए कीमत चुकानी पड़ती है, जो बहुत बड़ी है । काम पाने के लिए जिसमें रिश्वत के साथ साथ सतीत्व की भेंट भी सम्मिलित है । इसे भी ये लोग भाग्य और नियति मानकर स्वीकार कर लेते हैं । विद्रोह या संघर्ष की सोच भी नहीं सकते । ऐसे ज़हर को गले उतार कर ये लोग कैसे पचा जाते हैं, इसके मूल में उनकी वे संस्कारगत कमज़ोरियाँ हैं, जिन्हें सदियों के शोषण ने दिया है । जातिभेद और छूत-अछूत का दुराग्रह हिन्दू समाज में घुन की तरह इस प्रकार लगा हुआ है कि पढ़ लिख जाने पर भी इनकी कोई गति नहीं होती । इस तथ्य को भी नागर जी ने इस उपन्यास में रेखांकित किया है ।

---

1. नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 21

"मेहतरों को इस बात का घोर मानसिक कष्ट है कि हरिजनों में भी मेहतर वर्ग निकृष्ट कोटि का हरिजन है । उसकी आवाज अभी नक्कारखाने में तूती की तरह अनसुनी रह जाती है । मेहतरों में अब अधिकांश लड़के छठी - सातवीं या आठवीं तक पढे लिखे मिल जाते हैं, फिर उन्हें नाना कारणों से पढ़ने की सुविधाएं नहीं मिलती और वे हताश होकर अपने वंशगत पेशे में लौट आते हैं । उनकी बोल चाल की भाषा में अब कितने ही अंग्रेजी के शब्द घुलमिल गए हैं । सवर्णों की कितनी ही पूंजीवादी घृणित आदतें भी अपना ली गयी हैं, लेकिन सही विकास की तमाम राहें अब तक बंद है । कुछ लड़के हाई स्कूल पास हैं, कुछ बी.ए. तक पहुंच गए है । एक भंगी चिन्तामणी जी तो बनारस युनिवर्सिटी से एम.ए. करके फिर मजिस्ट्रेटी की परीक्षा में बैठे वह भी अनुसूचित जाति के रिजर्व कोटे के अंतर्गत नहीं बल्कि खुले और आम कम्पीटीशन में । परीक्षा में पास होके फर्स्ट क्लास मजिस्ट्रेट तक बन गए । एक सज्जन बी.ए.एल.एल.बी. वकील बन गए । लेकिन जब कोई मुवक्किल ही उनके पास न आया तो झख मार कर उन्हें नौकरी करनी पड़ी । जो लोग ऊंची से ऊंची दीवारों को भी फलांग कर अपनी महत्वकांक्षा की मंजिलों पर जैसे जैसे आगे बढ़ते हैं, उन्हें अन्त में जाकर प्रायः चूहा का चूहा ही बन जाना पड़ता है । यहगति क्या देव निर्मित है ? नहीं यह सामाजिक कुव्यवस्था की देन है ।"1

इस उपन्यास में दलित वर्ग में भी अछूत और सबसे नीची मानी जाने वाली मेहतर जाति का बहुविध चित्रण हुआ है । उनके नारकीय व जुगुप्सापूर्ण जीवन का कई रंगों में चित्रण लेखक ने किया है । जिसमें कहीं भी कृत्रिमता और उथलेपन के दर्शन नहीं होते । इसके मूल में

---

1. नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 321

नागर जी का श्रम, संवेदना एवं सूक्ष्म निरीक्षण है । जीवन को इन लोगों ने नियति मान कर इसे स्वीकार कर लिया है । इससे उबरने की चेष्टा इनके भीतर जैसे सदा के लिए मर गयी है । दूसरों का मल मूत्र उठाना, गालियां, ताने सुनना तथा अपनी स्त्रियों कीअस्मत लुटाना तक इन्हें अब अस्वाभाविक नहींलगता ।

अस्वाभाविक लगता है निर्गुनिया और उसके बेटे-बेटियों को । निर्गुनिया में यह चेतना व्यवहारिक और सहज है।पर निर्गुनिया के पुत्र निर्गुन, में दंभ की सीमा तक पहुंचा हुआ स्वाभिमान बन जाता है, जो उसके इस कथन से स्पष्ट झलकता है —

"मैं इस ठाकुर के बच्चे से कभी माफी नहीं मांगूगा । अगर वह अपने को महत्त समझता है,तो मैं भीमहत्तर हूं । किसी से कम नहीं । मैं सर्विस से इस्तीफा दे दूंगा, मगर इन बांभन, ठाकुर, बनियों, कायस्थ वगैरा कम्यूनल रिएक्शनरीज को लिफ्ट नहीं दूंगा ।"[1]

निर्गुनिया का चरित्र चित्रण करने में लेखक ने पूर्ण सहानुभूति व कौशल का परिचय दिया है । अंत में यह कहा जा सकता है कि नागर जी का यह उपन्यास मेहतर जाति के जन जीवन का एक साहित्यिक दस्तावेज है और इस कारण इसका हिन्दी साहित्य में विशिष्ट स्थान है ।

3.17. जाति एवं धार्मिक व्यवस्था का भंडाफोड़ -"अलग अलग वैतरिणी:"

"अलग अलग वैतरणी, शिव प्रसाद सिंह का पहला और सफल

---

1. नाच्यो बहुत गोपाल - पृ. 315

उपन्यास है । "....इसमें लेखकीय दृष्टि यथार्थ के प्रति बड़ी बेलाग रही है और उसमें गांव का एक एक घर, एक एक गली, एक एक आंगन अपने पूरे हुलिया के साथ प्रस्तुत हुआ है । क्या आन्तरिक और क्या बाह्य, सभी लुकी छिपी सच्चाइयां कथानक के छोटे बड़े रेशे हैं, जो उसकी बुनावट के उपादान है ।"[1]

इस उपन्यास में लेखक ने करैता नामक अभिशाप्त गांव की कथा कही है । इस गांव की कथा समूचे बिहार और उसके सीमावर्ती उत्तर-प्रदेश की कथा है, जिसमें मनुष्य की आर्थिक व दैहिक तृष्णा ने जाति और धर्म का प्रश्रय लेकर ताण्डव रचा है । इस ताण्डव के निरूपण में दलित वर्ग का चित्रण भी स्वाभाविक था, जो इस उपन्यास में हुआ है ।

लेखक ने स्वयं तट चर्चा शीर्षक से अपनीबात कहते हुए कहा है - "इस पुराण कथा का प्रतीकार्थ जो हो, मुझे इसे पढ़तेहमेशा ही विक्षिप्त, बहिष्कृत, संत्रस्त और भीड़ के संगठित अन्याय के विरूद्ध जूझते शिव के दर्शन हो जाते हैं । जब शिवत्व तिरस्कृत होता है, व्यक्ति के हक छीने जाते हैं, सत्यओर न्याय अवहेलित होते है, तब जन जन के आंसुओं की धारा वैतरणी में बदल जाती है ..... प्रस्तुत उपन्यास में शिवत्व का एक बहुत बड़ा अंश दलितों में दृष्टिगत होता है ।"[2]

प्रस्तुत उपन्यास में दलित वर्ग का पर्याप्त चित्रण हुआ है । तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उनमें आए जागरण का भी । साथ ही दलित सवर्ण संघर्ष में दलितों की पराजय का भी ।

- -

1. आंचलिक उपन्यास - संवेदना और शिल्प -डा0 ज्ञानचन्द्र गुप्त-पृ.84।

2. अलग अलग वैतरणी - तट चर्चा - पृ. ।

आपसी वैमनस्य और चरित्रगत दुर्बलताओं में तो सवर्ण और दलित दोनों ही वर्गों के पात्र पारस्परिक प्रतिस्पर्धा में किसी से पीछे नहीं है । स्त्री पुरूष के स्वाभाविक किन्तु वर्जित शारीरिक संबंधों का अंकन भी लेखक ने बेबाक से किया है - इस दृष्टि से भी कोई वर्ग अछूता नहीं बचा है । चाहे दलितेत्तर कन्या पुष्पा हो या दलित युवती सुगनी दोनों ही पुरूष प्रधान समाज का आवाँछित दण्ड, समान रूप से भोगने को विवश हैं ।

विवेच्य उपन्यास में दलित वर्ग का चित्रण विविध रूपों और आयामों में हुआ है । दलित वर्ग के कुछ व्यक्ति तो ऐसे हैं, जिन्होंने उँच - नीच, छुआछूत, शोषण उत्पीड़न को अपनी नियति मान लिया है, किन्तु अधिकाश में इस सामाजिक वैषम्य के विरूद्ध जिहाद करने का साहस भी है ।

कुश्ती में दलित सुब्बा भट से सवर्ण देपाल जीत जाता है । देपाल ने कुश्ती के नियमों के विपरीत सुब्बा के पेट में घूंसा मारा था । यह अन्याय था । इस अन्याय के विरोध में बाहर गाँव के नट तो खड़े होते है, पर करैता का कोई नहीं ।

"छोड़ दीजिए बाबू । साले को ।" बूढे घूरे नट ने हाथ जोड़कर देपाल से कहा "साला घमण्डी.... मैं बकरी का मूता पिया था ।[1]

इस घटना में धूरे तथा अन्य नटो में संस्कारजन्य हीनता बोध व फूट का पता चलता है ।

- -

1. अलग अलग वैतरणी - पृ. 3।

जैपाल सिंह गेमन चमार की लड़की सुगनी को बखरी में बुझारत सिंह के सामने खड़ी देख उसे किसी सवर्ण की बहू बेटी समझते है किन्तु वास्तविकता ज्ञात होने पर उन्हें आश्चर्य होता है । "...... .देखने में तो वह राजपूत बामन की लड़की जैसी लगती है ।" ﴾स्पष्ट है चमारों आदि को मन वांछित वस्त्र पहनने की छूट भी पहले नहीं थी अन्यथा जैपाल सिंह को आश्चर्य क्यों होता है ? इसी सुगनी के घर में सूरज सिंह को चमार लोग पकड़ लेते हैं तथा उसे सूरत सिंह के घर में बिठाने के लिए "बटोर" करके संघर्ष करते है, जिसका परिणाम सवर्ण लठैतों के मार से सरूप के शहीद और दुलारी के विधवा होने के रूप में सामने आता है ।

सूरजसिंह के सुगनी से अवैध सम्बन्ध थे । वह नियमित रूप से उसकी कोठरी में चौथे पांचवे दिन आकर अपनी हवस पूरीकर जाता था । इसे सभी चमार लोग अनुचित मानते थे । उसका यह क्रम जब असह्य हो गया तब एक दिन उसे रंगे हाथों पकड़ लिया ।

"..... आओ सूरजू भइया ।" वह बड़ी नफरत से सबकी ओर देखते हुए बोला --"अपना ढेंढर काई नहीं देखता । दूसरे की फुल्ली देखते जैया से सभी चले आते है ।"[1]

चमारों के चौधरी भगत किसुन ने तो सूरज सिंह और सुगनी के अवैध सम्बन्ध को अपनी जाति की नियति मानकर स्वीकर कर लिया है । अत: वह चुप्पी साध जाता है । पर राम किसुन नहीं मानता, कहता

- -

1. अलग अलग वैतरणी - पृ. 583

है --"करोगे का ? बटोर करेंगे । बाहर गाँव के चौधरियों को बुलाकर तै करेंगे कि हम लोग बेहतर मजूरी करके जिए कि बहन बेटी से पेशा कराके दिन काटे ।"[1]

ठाकुरों ने चमारों के इस अन्याय विरोधी संघर्ष को आतंक व हिंसा से दबाया -"..... ठकुराने से पच्चीसों लाठियाँ निकल पड़ी । तालाब, सिवान, रास्ते सभी तो ठाकुरो के ही थे । इनका उपयोग करने का चमारों को क्या हक भला ? चमार और चमारियों पर बेहद मार पड़ी । तालाब पर नहाती औरतों को झोंटे पकड़ कर खींचा गया । खेत से साग पात, साग - सालन लाती चमार लड़कियों को दौड़ाकर बेइज्जत किया गया । लाठ डाँड पर चलते चमारों के बदन - लहू-लुहान हो गए । देव किसुन का सिर फट गया ।"[2]

आर्थिक शोषण, सामाजिक दलन और अत्याचार की यह अमानवीय नीति बिहार के दलित वर्ग की नियति है, जिसे लेखक ने इस उपन्यास में अभिव्यक्त किया है ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात दलित वर्ग में आयी चेतना के कारण करेता गाँव का ठाकुर जैपाल सिंह करेता की भूमि पर कभी पाँव न रखने की प्रतिज्ञा कर लेता है, क्योंकि अब कोई आसामी उन्हें जुहार करने नहीं आता, ठाकुरों के लड़को को देखकर अब सत्तर वर्ष का बूढ़ा भी सलाम नहीं करता और न औरतों को देखकर चबूतरे की चारपाई से उठकर

---

1. अलग अलग वैतरणी - पृ॰ 584
2. -वही- पृ॰ 595

खानदानी लिहजा दिखाता था । जैपालसिंह की जिन्दगी के ज्यादा दिन लोगों के झुके माथे और झुकी आँखें देखकर बीते थे । उन्हें नीच-जाति वालों को तने सीधे देखने का ताव न था ।

एक दलित पात्र दुक्खन चमार की जैपालसिंह के घर में बेगार करते करते पीढ़ियाँ बीत गई है । चौबीसों घंटे घर के पाँचों प्राणी खेत - खलिहान, घर पर सेवा में लगे रहते किन्तु एक दिन ज़रा सी गलती हो जाने पर जैपाल सिंह के लड़के बुझारथ सिंह ने पाँव पर कस कर लाठी मार दी और टाँगे तोड़ दी। इस पर उसकी औरत कहती है· "अउर करो मर मर कर बेगारी । जीव जाँगर लगाकर इन लोगों का काम करो । तनिक कुछ कह दो, कहीं भूल-चूक हो जाय तो मार के जान ले ले ।"[1]

इस पर सभी चमार इकट्ठे होकर जैपाल सिंह के घर जाते हैं । किन्तु अन्याय के बदले जैपाल सिंह उन्हें दस - दस रूपए के दो नोट दे देते है और कहते है··"ठीक है तब । बब्वन से तुम्हारी नहीं पटेगी यह समझ रहे हैं । इस पर चमारों का चेहरा स्याह हो जाता है, वे कहते है "यही नियाव पाने आए हम । मार भी खाए और यदि बोले और दुहाई दे तो उल्टा देश निकाला भी मिले । वाह··"[2]

इसी उपन्यास में देवीचाक के चमार - चमारियों की टोली का वर्णन भी आता है, किन्तु इस टोली के चमार कहीं बंध कर काम नहीं करते, बड़े लोगों के तलवे नहीं चाटते । वे अपनी इज्जत के साथ रोजीना

- -

1· अलग अलग वैतरणी - पृ· 23।

2· -वही- पृ· 23।

बन्नी पर मजदूरी करते है । नहाते, धोते, सफाई से रहते है । इन्हीं चमारों में से एकका कथन है --"चमार आदमी नहीं है का भौजी ? दुनिया तो हमें दुतकारती है अछूत कह कर, बाकी हम लोग भी कम नाहीं है । एक बहाना मिल गया है कि हम चमार है, हमेको सफाई से रहने का क्या काम भला"[1]

3·1४ जुझारू चेतना का संक्रमण दौर -"धरती धन न अपना":

"धरती धन न अपना"- जगदीश चन्द्र का प्रथम उपन्यास है । दलित जीवन कीपीड़ा का मार्मिक चित्रण इस उपन्यास में किया गया है ।

उपन्यास का कथानक शिवालिक घाटी में पंजाब के होशियारपुर जिले के घोड़ीवाहा गाव का चमादड़ी मोहल्ला और उसमें बसे चमारों के जीवन के इर्द गिर्द मंडराता है । अपने लेखकीय कथन में लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसने जैसा इस मोहल्ले को बचपन से देखा वैसा वर्णन उपन्यास में किया है । "मैं यह सब देखकर बहुत ही उद्विग्न होता था कि आर्थिक अभावों की चक्की में युग-युगान्तरों से पिस रहे हरिजन अब भी मध्य कालीन यातनाओं को भोग रहे है । जिस भूमि पर वे रहते है, जिस जमीन को वे जोतते है, यहा तक जिन छप्परों में वे रहते है, कुछ भी उनका नहीं है ।"[2]

"इसमें चमादड़ी मोहल्ले की एक एक गली, एक एक झोंपड़ा, तकिया, मजार, अपनी सारी गन्दगी और गलाजत के साथ प्रस्तुत हुए

- -

1· अलग अलग वैतरणी - पृ· 253

2· धरती धन न अपना - पृ· 8

है । लेखक ने अपनी स्मृति कोष में संजोई इन निर्मम सच्चाइयों को बखूबी उजागर किया है, जिसमें अनुभव की प्रमाणिकता का संस्पर्श मिलता है ।"[1]

उपन्यास का नायक काली जिसके घोड़वाहा आगमन के साथ उपन्यास का आरंभ होता है तथा उसके घोड़वाहा से पलायन के साथ ही उपन्यास का समापन हो जाता है । वह कानपुर शहर से रूपए कमाकर लाता है । अपनी चाची की ममता के पाश में बद्ध होकर वह चमादड़ी में पक्का मकान बनवाता है । शहर से आने के कारण उसे चौधरी हरमान सिंह और अन्य सवर्णों का हरिजनों के प्रति रवैया बहुत अखरता है । बाद के समय गांव व फसलों की रक्षा के लिए काली हरदेव के साथ जान पर खेलकर बांध को काटता है । बाद में चमारों से बांध की पाल पटवाई जाती है, पर उनको मजदूरी नहीं दी जाती है । इस पर चमारों और सवर्णों के बीच बहिष्कार के रूप में संघर्ष होता है । काली इस संघर्ष का अगुवा होता है, यह संघर्ष सफल भी होता है, पर श्रेय काली को नहीं मिलता है ।

उपन्यास का मार्मिक, पर सबसे कमजोर पहलू ज्ञानों और काली की पारस्परिक अनुरक्ति और शारीरिक सम्बन्ध है । काली और ज्ञानों के एक ही गांव और गोत्र होने के कारण चमादड़ी के परम्परावादी निवासियों की दृष्टि में वे पाप के भागी थे । स्त्री और पुरूष को प्रकृति ने एक दूसरे के पूरक के रूप में बनाए है । उन्हें तन, मन, भावनाएं दी है । वैध, अवैध, पाप - पुण्य की सीमा रेखाएं समाज में बनाई है,

- -

1. आंचलिक उपन्यास सम्वेदना और शिल्प - डा० ज्ञानचन्द्र गुप्त पृ० 108

वे सहज और प्राकृत नहीं हो सकती । यह द्वन्द्व काली और ज्ञानों के मन में उठाते हुए, लेखक ने चित्रित किया है ।

"जातिगत संस्कारों, सामाजिक मान्यताओं की कठोर जकड़नों, विविध कटुताओं से घिरी इस अभिशप्त जिन्दगी की व्यथा कथा कहने में लेखकीय दृष्टि की बड़ी निस्संग एवं बेलाग रही है । न उसे दल के विशिष्ट नारों के प्रति झुकाव है और न कुछ अर्थहीन फतवों से । लेखक यातनाओं के बीच से घिसटती नरकीय जिन्दगी का ज्यों की त्यों अभिव्यक्त करता है ।"[1]

चमादड़ी मोहल्ले में पारस्परिक साहचर्य या सुख-दुख में मदद की भावना बहुत ऊपरी है । यहां गरीबी, मजबूरी, फटेहाली, विवशता नाते - रिश्तों को तोड़ती है ।कुछ रूपए ऐंठने का इच्छुक निक्कू मंगू के कहने में आकर काली के घर नींव नहीं खुदने देता है और आखिरकार माथे में चोट खाता है । ताई निहाली हो या प्रीतो, प्रसिन्नी हो या जस्सो सभी मुंह पर कुछ और पीछे कुछ । काली की चाची की मृत्यु पर स्वार्थवश सब काली पर प्यार जताती है और जब उसका माल मत्ता हाथ लग जाता है तो वही काली बदमाश गिना जाता है और ज्ञानों के प्रेम प्रसंग में गिरे से गिरा आदमी भी उसे पीट लेता है ।

ज्ञानो का चरित्र बड़ा संघर्षशील और सच्ची प्रेमिका का चरित्र है, जो मार खाकर, बेइज्जती सहकर भी साथ नहीं छोड़ती और आखिर मां के हाथों जहर की गोली तक खा जाती है । गांव में लच्छो, पीतो

---

1. आंचलिक उपन्यास संवेदना और शिल्प - डा० ज्ञानचन्द गुप्त पृ० 108

पाशो जैसी भी है, जो कुछ पाने के लिए देह बेचती है । चमारिने जाटो द्वारा भोगी जाती है । चोरी जारी निन्दा चुगली का बाहुल्य हो गया है । बाबा फत्ते भी मंगू जैसे भ्रष्ट लोगों से दुःखी है । वह कहता है --"इस मोहल्ले में शराफत नहीं रही ।•••यहां अब लुच्चा गुण्डा प्रधान और गुण्डी औरत प्रधान है ।"[1]

गरीबी और अभाव ने इन्हें घोर स्वार्थी बना दिए हैं । मानवता नाम की चीज इनमें रही ही नहीं है । चाची प्रतापी, ज्ञानों और बाबे फत्तू जैसे कुछ चरित्रों को छोड़कर शेष सब तो पशु तुल्य हो गए हैं । काली ने इनमें जिस जिस पर विश्वास किया उसी ने उसे धोखा दिया । उसका धन, उसकी वस्तुएं चुरायी और उसे भी अपने जैसीस्थिति में पहुंचा दिया ।

चमारों की इस मानसिकता के चित्रण में गहराई का अभाव है । चमारों की व्यथा को वाणी देने और उनके मनोजगत में झांकने में लेखक ने कृपणता दिखायी है । चमादड़ी की अधिकांश स्त्रियां चौधरियों की अंक शायिनी बनने को विवश है, पर क्या कोई औरत इस स्थिति को सहज ही स्वीकार कर सकती है ? उसके पीछे जो परिस्थितियां, विवशताएं होती है, मानसिक द्वन्द्व होता है, उसका अंकन नहीं किए जाने की स्थिति में सब कुछ उथला उथला लगता है । काली की दोनों मोर्चों पर असफलता दिखाते हुए भी लेखक ने उसके मानसिक द्वन्द्व का सही चित्रण नहीं किया है ।

---

1. धरती धन न अपना - पृ. ११

चतुर्थ अध्याय

हिंदी उपन्यासों में चित्रित दलित जीवन

4·0 भूमिका

4·1 सामाजिक विषमताएं

- 4·1·1 व्यवस्था में असमानता एवं शोषण
- 4·1·2 शोषण का विरोध - दलितों में नयी चेतना
- 4·1·3 युवा पीढ़ी में आत्मविश्वास एवं स्वाभिमान का भाव

4·2 दलित नारी

4·3 दलितों में व्याप्त अशिक्षा एवं गरीबी

4·4 शहर में दलितों की स्थिति

- 4·4·1 शहर की कतिपय समस्यायें - नशापान

4·5 दलितों में अस्मिता बोध एवं क्रांति चेतना

4·6 राजनैतिक परिप्रेक्ष्य : दलित अधिकार का अपहरण

- 4·6·1 दलित उत्थान का कोरा प्रचार
- 4·6·2 दलित एवं चुनाव
- 4·6·3 ऊंचे लोगों का वर्चस्व राजनीति में

4·7 आर्थिक शोषण

- 4·7·1 दलितों की स्थिति
- 4·7·2 गरीबी
- 4·7·3 सूदखोरों का शोषण

4·8· अंध विश्वास

4•9 धर्म की पारस्परिक परिभाषाएं

4•9•1 हिन्दू धर्म एवं दलित वर्ग

4•10 सांस्कृतिक संदर्भ

4•10•1 संस्कृति की अवधारणा

4•10•2 संस्कृति की परिभाषा

4•10•3 संस्कृति की वर्गगत व्याख्या

4•10•4 दलित संस्कृति और हिंदी उपन्यास

4•11 अन्य प्रमुख समस्याएं

4•11•1 अंतर्जातीय विवाह

4•11•2 बंधुआ मजदूर

4•11•3 हिंदी उपन्यासों में चित्रित बंधुआ मजदूर

4•11•4 हेतुवादी दृष्टिकोण - वैज्ञानिक भौतिकवाद

4•11•5 जड़वाद

4•11•6 जैन दर्शन

4•11•7 बौद्ध दर्शन

4•11•8 मार्क्स और ऐंगल्स का भौतिकवादी चिंतन

4•11•9 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

4•11•10 डा० अम्बेडकर के हेतुवादी विचार

4•11•11 हिंदी उपन्यासों में हेतुवादी दृष्टि

चतुर्थ - अध्याय

हिन्दी उपन्यासों में चित्रित दलित जीवन

भूमिका -

तृतीय अध्याय में अस्सी से पूर्व रचित उपन्यासों में चित्रित दलित जीवन का सैद्धांतिक विवेचन किया गया है, तथा उन चर्चित एवं महत्त्व-पूर्ण उपन्यासों के आलोक में उनके विविध पहलुओं का भी विवेचन किया गया है । प्रस्तुत अध्याय में अस्सी के पश्चात लिखित उपन्यासों में चित्रित दलित जीवन का सांगोपांग विवेचन किया जायेगा । वस्तुतः यह ध्यान देने की बात है कि कोई भी सही और समर्थ लेखक किसी सिद्धांत को सामने रखकर उसका निरूपण नहीं करता बल्कि वह तो अपने आस-पास के जटिल जीवन को समग्रता से पहचानना और रूपायित करना चाहता है । प्रस्तुत अध्याय में हमने ऐसे ही संवेदनशील लेखकों को चुना है, जिन्होंने दलित जीवन की पीड़ा को नज़दीक से देखा और भोगा है । डा० राम निहाल गुंजन लिखते है - "आठवें दशक में आया परिवर्तन भारतीय मनिषा को उद्वेलित किया । रचनाकारों को सृजनशीलता का नया आयाम मिला । उपन्यास विधा को इसका सबसेअधिक लाभ मिला है । यथार्थ

एवं सजीव वर्णनशैली ने उपन्यास को जीवन के अधिक निकट ला दिया है ।"[1]

1· सामाजिक विषमताएं :

भारतीय समाज के यथार्थ से सभी भली-भांति परिचित है । आधुनिक ज्ञान - विज्ञान के प्रकाश से बहुत कुछ परिवर्तन आने के बावजूद भी भारतीय समाज आज तक जाति-पाति की दलदल में फंसा हुआ है । आज तक यह सदियों पुरानी सड़ी गली प्रथा सुरसा के मुंह की तरह बेपनाह फैलती जा रही है । 1951 में अस्पृश्यता निरोधक विधेयक संसद में पारित हुआ । जिससे अस्पृश्यता को अपराध माना गया । किन्तु इस विधेयक का प्रभाव न के बराबर रहा । डा० राजेन्द्र कुमार लिखते है - "कानूनी दृष्टि से भारत के लोगों ने एक शुद्ध, भेदभाव रहित समाज का निर्माण किया । किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से आज भी उतने ही अशुद्ध है । आज भी दलितों का मंदिरों में प्रवेश वर्जित है । अधिकार की बात करने पर जिन्दा जलाने की प्रथा वर्तमान है ।"[2]

डा० आरिगिपुड़ि ने अपना उपन्यास 'अभिशाप' में इस स्थिति का बड़ा ही मर्मभेदी चित्रण किया है । मंदिर का निर्माण दलित करते है - मगर जब निर्माण कार्य पूरा हो जाता है, तो उनका प्रवेश ब्राह्मणों से बरदाश्त नहीं होता है । तो कहते है...."अगर हरिजन इस मंदिर में आते रहे, तो इससे अच्छा यह है कि यह खण्डहर हो जाए पर यह पवित्र स्थल उनकी अशुद्ध उपस्थिति से कलुषित न हो..... जैसे ही हरिजनों ने मंदिर

- -

1· वातायन - अप्रैल - जून - 1994 - पृ· 65

2· स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी - डा० राजेन्द्र कुमार - पृ· 54

में प्रवेश किया वैसे ही कुछ ब्राह्मण अपने शाल वगैरह लेकर पिछवाड़े के द्वार से मन्दिर के बाहर चले गए । उनका विचार था कि मन्दिर की पवित्रता भ्रष्ट हो गई थी ।

यह कैसी विड़म्बना है, जिस मंदिर का निर्माण दलित मजदूर करते है, उसी मन्दिर के बन जाने के बाद उनका छूना अपराध माना जाता है । "हजारों घोडों का सवार" का नायक गीधू सोचता है -"यह जीवन बडी विडम्बना है, जिस मंदिर के निर्माण में उसने अपनी मेहनत लगायी, एक एक ईंट को उठाकर चिना, उसके एक स्थल को उसने एक बार ही नहीं हजार बार छुआ है, उस मन्दिर में मूर्ति प्रतिष्ठापन के बाद उसका आना-जाना बन्द होगा, अब वह उस मन्दिर में नहीं जा सकता है ।"[1]

आज भी गांव के रहने वाले दलित गांव से बाहर नदी के किनारे या किसी खुले मैदान में रहते है । आज भी दलितों को अस्पृश्य माना जाता है । गिरीधर राठी ने लिखा --"ग्रामीण जीवन में अस्पृश्यता की धारा आज भी अन्त:सलीला बनके बह रही है । ग्रामीण बहिष्कार एवं गांव से बाहर अभिशाप्त जीवन जीने के लिए दलित आज भी बाध्य है ।"[2]

रंजना माथुर लिखती है -"आज भी गांवों में दलितों को ठाकुर एवं ब्राह्मणों के मुकाबले एक दीन-हीन जीवन जीना पड़ता है । गांव से बाहर नदी के किनारे रहने के लिए ये लोग आज भी अभिशाप्त है ।"[3] छप्पर उपन्यास में जयप्रकाश कर्दम एक गांव का चित्र प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं -

- -

1. हजार घोडों का सवार - पृ. 124
2. ऊहापोह - गिरधर राठी - पृ. 89
3. हिंदी उपन्यास - विविध आयाम - रंजना माथुर - पृ. 216

"गंगा के तट पर बसा पश्चिमी उत्तर प्रदेश का एक छोटा सा गांव है मातापुर । अन्य भारतीय गांवों की तरह मातापुर में भी थोड़े लोग सुखी और सम्पन्न है तथा शेष लोग दीन और दरिद्र है । सुखी सम्पन्न लोगों में सवर्ण कहलाने वाले ब्राह्मण पुरोहित, ठाकुर, जमींदार तथा लाला साहूकार हैं । दूसरे गांवों की तरह सवर्ण लोग ऊपर की ओर तथा अवर्ण कहे जाने वाले दलित लोग गंगा के बहाव की ओर निचान में बसे है ।"[1]

भारतीय समाज व्यवस्था की विषमता पर "छप्पर" का नायक टिप्पणी करता हुआ कहता है --"किसी और मुल्क या गैर जाति में पैदा हुआ होता तो भूखा मरता काणाराम, लेकिन धन्य हो भारत की व्यवस्था ब्राह्मण भूखा मर ही नहीं सकता ।"[2]

आज तक भारतीय समाज में जाति जन्म से तय होती है, कर्म से नहीं । जो बालक उच्च वर्ग में जन्म लेता है, वह सभी सामाजिक अधिकारों को स्वच्छन्दतापूर्वक भोग करने को स्वतंत्र है, मगर वही शिशु अगर दलित परिवार में पैदा होता है तो उसका जीवन अभिशाप्त बन जाता है । "छप्पर" का नायक चन्दन अपने साथियों से कहता है -- "एक तरफ तुम हो और दूसरी ओर वे लोग हैं, जो किसी जाति में जन्म लेने मात्र से श्रेष्ठ समझे जाते है । चाहे वे कुरूप, आचरण से गिरे हुए हो ।"[3]

शिक्षा के प्रसार के बावजूद भी, लोगों के मन से दलितों के प्रति घृणा की भावना गयी नहीं है । तथा कथित पढ़े लिखे उच्च वर्ग के लोगों के मन में भी दलितों के प्रति कोई अच्छी भावना नहीं है । "परिशिष्ट"

- -

1. छप्पर - पृ. 9
2. -वही- पृ. 35
3. -वही- पृ. 23

का नायक चन्दन अपने पिता के साथ सांसद चौधरी साहब से मिलने जाते हैं । चौधरी साहब के घर टिके दूसरे लोग बावनराम का सामान बाहर फेंक देते है एवं व्यंगपूर्ण फब्तियां कसते हैं । बाहर जो टिका है न जात का सरकारी ब्राह्मण है । पास के गांव का है । अब देखना, सब कुछ कराके जायेगा । हम सोचते है, इसी सरकारी महादेव पर हम भी जाकर जल चढ़ा दें ।"[1]

स्वतंत्र भारत के राजनेता भी जातिप्रथा के हिमायती है । कुसुम शर्मा लिखती है --"आज के लोकतांत्रिक समाज में जाति प्रथा को हवा देने वाले नेताओं की कमी नहीं है ।"[2] एक तरफ़ सामाजिक न्याय एवं समानता की जुगाली करते हैं, मगर समय आने पर ये लोग अपना असली रंग दिखाने लगते है । "परिशिष्ट" उपन्यास में राजेन्द्र सिंह एक ऐसा ही चरित्र है, जिसको लगता है -"दलितोद्धार के लिए सरकार द्वारा चलायी गयी योजनायें बन्द कर देनी चाहिए । यहां तो व्यक्ति जन्म से श्रेष्ठ होता है ।" राजिन्द्र सिंह का कहना है, "भगवान की रेटी तो मेटी नहीं जा सकती । तख्ती पर कच्ची स्याही से लिखी इबादत तो है नहीं कि धोओ, पोतो और फिर लिख लो । जो जहां है वह वहीं रहेगा । ज़रूरत पड़े तो मैं प्रधान मंत्री से भी कहूंगा कि मैडम, मानसिक स्तर उठाइये । अपने पैरों पर खड़े होने दीजिए । इनके हाथों में ऊंची-ऊंची बेसाखियां पकड़ाकर दूसरों को बौना न बनाइए ।"[3]

चौधरी साहब की पत्नी को किसी दलित का घर में घुसना पसंद नहीं है । इसलिए वह अपने नौकर को सुना सुनाकर बावनराम का अपमान

---

1. परिशिष्ट - पृ. 35
2. राजस्थान पत्रिका - जून - जुलाई - 1990
3. परिशिष्ट - पृ. 38

करती है । "तुम हर एक को घर में घुस आने देते हो । कौन क्या है, किसी के माथे पर थोड़े ही लिखा होता है । हम तो इस एम•पी• होने से भरपाये । धरम - करम कुछ रहा ही नहीं । जो आता है बरतनों में खाता है, कपड़ों में बैठता है ।"[1]

आज भी दलित वर्ग उच्च वर्ग के लोगों से आतंकित रहते है । उच्च वर्ग के लोगों का अत्याचार उन्हें हर कदम पर झेलना पड़ता है । "बावनराम जब चौधरी साहब से मिलकर अतिथिगृह में सोने को लौटता है, तो देखता है, उनका सामान बाहर फेंक दिया गया था । अनुकूल के मन में सदा डर समाया रहता है कि कहीं सवर्ण लोग उसका अपमान न कर दें, इसलिए वह सुबह सुबह सबसे पहले उठकर नहा धो लेता है ।" अनुकूल बिना आवाज़ किये भीतर निवृत्त हो रहा था । बीच में एक बार बाहर आया था । कमरे वाले तब भी सो रहे थे । नहाने के कपड़े लेकर तुरन्त ही गुसलखाने में चला गया । नहाते नहाते भी वह उतावला था । कहीं कोई उठ न जाय, दिन कहीं कहासुनी से ही शुरू न हो ।"[2]

फिर भी एक गुसलखाने में किसी दलित का नहाना सवर्ण लोगों को अखरता है । इसलिए वह गाली देता हुआ कहता है -"देख सारा बाथरूम गीला पड़ा है । इन साले भगतों की वजह से नाक में दम है । लगता है सरऊ रात भर नहाये है ।"[3]

बावनराम से रहा नहीं जाता, वह इसका प्रतिवाद करता है । इससे क्रोधित होकर उच्च वर्ग का एक व्यक्ति कहता है --"जो तुम हो रहोगे,

- -

1• परिशिष्ट -पृ• 38

2• -वही- पृ• 50

3• -वही- पृ• 66

जो हम हैं वो हम रहेंगे, सरकारी हुक्म से तुम वो नहीं हो सकते जो हम है ।"[1]

अनकूल का दिल छोटा हो जाता है, वह सोचता है, आज भी अगर समाज में रहने वाले लोगों के मन में इतना मैल भरा हुआ है, तो क्या उच्च पद पर आसीन होने से, ये उन्हें सम्मान देंगे । "बाबू यहां आकर ठहरे ही क्यों ? इंजीनियर बन जाने से जात-पात थोड़ी ही बदल जायेगी," कहने वाले तब भी कहेंगे ।"[2]

तथाकथित आधुनिक शिक्षा केन्द्रों में छुआछूत की भावना प्रबल है । अपनी शिक्षा एवं संस्कृति के पर्दे के पीछे यह घृणित प्रथा आज भी विद्यमान है । छात्रावास में उनको दूर रखा जाता है । उनकी पहचान एस॰सी॰ विद्यार्थी के रूप में होती है । उनको अपना जूठा बर्तन साफ करने के लिए मजबूर किया जाता है । परिशिष्ट में आई॰आई॰टी॰ छात्रावास का वर्णन करते हुए लेखक लिखते हैं --"छात्रावास में दलित विद्यार्थियों को एक कोने में विदेशी छात्रों के साथ रहने दिया जाता है ? अनकूल अपने पिता को लिखते है -"विदेशी छात्रों के कमरे एक साथ है और हम लोगों के कमरे भी एक ही विंग में है ।"[3]

उच्च शिक्षण संस्थाओं में आज भी दलितों को बहिष्कृत जीवन बिताना पड़ता है । बावन राम अपने बटे से मिलने आई॰आई टी॰ पहुंचता है तो, अपने बेटे की पहचान के लिए उसे एस॰सी॰कहना पड़ता है । उसके बाद कहीं लोग पता बता पाते है ।

- -

1. परिशिष्ट - पृ॰ 68
2. -वही- पृ॰ 68
3. -वही- पृ॰ 100

सिर्फ सवर्णों में ही भेदभाव नहीं है, दलितों में भी आपस में भेद-भाव है । अनुकूल लिखता है - "अपने लोगों की भी एक बात मुझे बहुत बुरी लगती है । हम लोगों में भी वही भावना है, जो एस॰सी॰ और एन॰एस सी॰ छात्रों में रहती है । एक बाल्मिकी लड़का है, उसे कोई अपने साथ रखने को तैयार नहीं है । मैंने उसे अपना रूम पार्टनर बना लिया है । अपनों में ही बाकी लड़के मेरा नाम गांधी जी रख दिया है ।"[1] इस प्रकार सामाजिक विषमतायें देखने को मिलती है ।

1·1· व्यवस्था में असमानता एवं शोषण :

जातिगत असामनता ही शोषण का प्रमुख कारण रही है । प्राय: ब्राह्मण क्षत्रिय किसी तरहका श्रम करने में सम्मान का अनुभव नहीं करते थे इसलिए असहाय और विपन्न श्रमिक जातियों से श्रम संबंधी कार्य लिया करते थे । वस्तुत: वैश्य शूद्र जातियों की उपजातियाँ अधिकांशत: पेशे से जुड़ गयी थी । मेहतर, चमार, धोबी, तेली, कुम्भकार, कोयरी जैसी अनेक जातियाँ निर्धारित किस्म का श्रम किया करती थी । चूंकि यह श्रम जाति व्यवस्था के भीतर होते थे इसलिए इन श्रमों का अनिवार्य पारि-श्रमिक नहीं मिलता था । वस्तुत: श्रम को एक उच्चवर्गीय पूंजी के रूप में महत्व प्राप्त था, जिसमें बिना उचित पारिश्रमिक के कार्य करते जाने की बाध्यता था । इसलिए इन सारी जाति को पौनी कहा जाता रहा । "पौनी" अर्थात् वे लोग जो उच्च वर्ग के स्थायी और पुश्तैनी मजदूर हैं, जिन्हें काम के बदले में मजदूरी नहीं बल्कि कृपादान मिला करता था । मगर जब ये लोग अपना हक मांगने आते है, तो तरह तरहकी यातनाएं

1· परिशिष्ट - पृ· 100

इन्हें भोगनी पडती है । "नयी बिसात" का नायक जो कुछ दिनों शहर में रहकर आया था, अपने बाप से कहा -"बप्पा शहर में अब नवा आंदोलन चला है.... नाऊ सिरिफ बाल काटेंगे, दाड़ी बनायेंगे, बदले में मजदूरी लेंगे, किसी के जूठ पत्तल न उठायेंगे ।"[1] "बाबा, अब नाऊ किसी के यहां ज्योनार में जूठे पत्तल नहीं उठाते । गांव में भी सब पंच ऐसा करो, पंचायत करके तै कर लो ।"[2]

यह बात सुनकर सवर्ण लोग भड़क उठते है और तुरंत इन्हें समाज से बहिष्कृत करते है और घोषणा करते है -"औ आज से सब नाइयों का ज्योरा बन्द । पूरा गांव सब ठाकुर बांभन मुसलमनिया नौवा से डाढी बनवायेंगे । सादी गमी में सहर से नौवा बोलायेंगे । और कोई नाई साला अगर खेत खलिहान, बाग, बगीचे, हमारे किसी खेत के मेड़ पर पाव धरा, तो पांव तोड़ डारेंगे ।"[3]

उच्च वर्ग के लोग अपने अहंकार के कारण दलितों पर जुल्म करते है । "नयी बिसात" में ठाकुर कहता है हम तो जूते के बल हरजन, रेयत, रेजा को ठीक रखते है, मजाल क्या कोई चूं कर जाय । यहां मुंसी भैया चमार पासियों को सिर पर चढाये है । सब बरोबर है । हूं ह चमार पासी कभी छत्री के बरोबर हो सकते है ? हम सब सुरिजनबंसी वे चन्दबंसी है ।"[4]

दलितों पर शोषण के कई रूप है । "छप्पर" उपन्यास में चन्दन सोचता है - "दिन रात कमर तोड़ मेहनत करके भी आदमी को दो जून की रोटी मयस्सर नहीं हो पाती ठीक से । बीस तीस रूपए का काम

- -

1. नयी बिसात - पृ. 12
2. -वही- पृ. 12
3. -वही- पृ. 16
4. -वही- पृ. 59

कराकर मालिक छः सात रूपये देता है दिहाड़ी के । भूखा पेट क्या करें, जो मिल जाए उसी से संतोष करना पड़ता है । ज्यादा दिहाड़ी की बात करें भी कैसे, क्या पता कल को उससे भी हाथ धोना पड़े ।"[1] गरीबी एवं भूखमरी ने दलितों को झकझोर दिया है । "मिट्टी की सौगंध" में "उसी आंखों में आंसू भरे थे, लेकिन पेट में एक आग सी जल रही थी, एक ऐसी आग जो उसे बार बार हवा के झोंके के समान झुलसा जाती थी ।"[2]

जाति व्यवस्था शोषण से जुड़ी व्यवस्था है । मालिक और अधिकारी वर्ग गरीबों को दबाते भी है और उनके श्रम को अपने लाभ में बदल भी देते है । बड़ी जाति वाले सहज ही छोटीजाति वाले लोगों की स्त्रियों से छेड़ - छाड़ करते हुए उन्हें मानसिक रूप से हीन बनाते है । मिट्टी की सौगंध में ठाकुर ने शीला नाम की दलित युवती की इज्जत लूटता है । मगर कानून उसका कुछ बिगाड़ नहीं पाता है । "जब उसकी चेतना लौटी थी, तब उसने मां को पास बैठे रोते देखा था । कोठरी से बाहर लोगों की भीड़ खड़ी नजर आई थी । .... उसी समय एक को कहते सुना था - "थाने जाकर पुलिस को बुला लाओ"... "पुलिस तो ठाकुर की तरफदारी करेगी"- दूसरे ने कहा ... "कुछ नहीं होने वाला.... हम गरीबों की इज्जत यूं ही लुटती रहेगी.... दलित होना तो कलंक ही है... उस पर दलित औरत होना और भी बुरा है...... हर आदमी हम लोगों की बहन - बेटियों को बुरी नजर से देखता है ।"[3]

---

1. छप्पर - पृ. 15
2. मिट्टी की सौगंध - पृ. 6
3. -वही- पृ. 8

"छप्पर" की नायिका कमला का बलात्कार ठाकुर करता है । जिससे वह कुंवारी मां बन जाती है । वन्दन [illegible] रता है --"मैं आपके दुःख को समझ रह [illegible] अकेली [illegible] है, जो इस तरह की दुर्घटना की शिकार हुई है । आप जैसी न जाने कितनी युवतियां इस प्रकार की त्रासदी की शिकार हुई है । आपके साथ जो कुछ भी हुआ है, वह बहुत दुःखद और दुर्भाग्यपूर्ण है ।"[1] वन्दन सोचता है -"कैसी विचित्र व्यवस्था है, इस समाज की । एक ओर आततायी भेड़िये है और दूसरी ओर कमला जैसी निरीह और असहाय युवतियां । एक ओर सृष्टि का आधार माना जाता है, औरत को देवी है, मां है, कहा जाता है । उसके पैर छुए जाते है । दूसरी ओर कमला जैसी युवतियां है, जो समाज के लिए खिलौना है, जिनको पुरूष का एक वर्ग अपनी वासना तृप्ति का साधन मात्र समझता है, उनके साथ बलात्कार किया जाता है ।"[2]

1.2. शोषण का विरोध - दलितों में नयी चेतना :

मगर अस्सी के बाद लिखे जाने वाले उपन्यासों में जहां इस शोषण का रूप प्रखर है, वही इसका विरोध भी शुरू हो जाता है । दलितों में धीरे धीरे शिक्षा का प्रसार होता है । दलित युवक पढ़ लिखकर समाज को नवीन दिशा में बढ़ाने के लिए कटिबद्ध होते है । 'छप्पर' का नायक चंदन एवं 'परिशिष्ट' का नायक अनुकूल ऐसे पात्र है । बहुत दिनों तक अज्ञानता के अंधकार में डूबे रहने के कारण उच्च वर्ग के लोगों को उनका शोषण करना आसान होता था । 'परिशिष्ट' का अनुकूल अपने बिरादरी का प्रथम शिक्षित

- -

1. छप्पर - पृ. 5
2. -वही- पृ. 53

युवक है - "अनुकूल बिरादरी और फैक्ट्री में काम करने वाले लोगों के बच्चों में पहला लड़का था, जो दसवीं पास कर चुका था, वह शुरू से अब तक लगातार पास होता चला आया था । लगातार पास होते चले जाना ही बिरादरी में एक महत्व की बात थी । उसके साथ और भी बहुत से लड़कों ने पढ़ना आरंभ किया था . . . लेकिन उनमें से अधिकतर चौथी से आगे नहीं पढ़ पाये ।"[1]

अनुकूल का पिता दलित होने के बावजूद भी महत्वाकांक्षी है, वह चाहता है उसका बेटा पढ़ लिखकर एक इज्जतदार आदमी बने । बावनराम कहता है --"मैं चाहता हूँ, तुम एकदिन अपनी कार से आकर घर के सामने उतरो, जिससे लोग यह देखें कि हम लोगों की सन्तान भी कारों और मोटरों में बैठकर चलने के लिए पैदा होती है । हम छोटे हैं, क्योंकि हम हिम्मत हारकर यह मान लेते है कि हम छोटे हैं और छोटे ही रहेंगे ।"[2]

इसलिए बावनराम अपने बेटे को आई.आई.टी. में दाखला करना चाहता है, आखिर वहकामयाब भी होता है और अपने बेटे अनुकूल को आई.आई.टी. में दाखिल कर देता है । बावनराम कहता है, "तुम्हारा दाखला हो जाय, मेरी जिन्दगी सकारथ लग जाय, अभीतक मैंने लोहा लंगड ही ढोया है, सबकी नजरों में मूरख बनकर ही जिन्दगी गुजारी है । जिस दिन तुम इंजीनियर बनके निकलोगे, उस दिन मेरी यह सारी मूरखता अकलमन्दी में बदल जायेगी ।"[3]

- -

1. परिशिष्ट - पृ. 11

2. -वही- पृ. 13

3. -वही- पृ. 48

नवीन पीढ़ी का अनुकूल कभी उच्च जातियों के दुर्व्यवहार देखकर उत्तेजित हो उठता है । मगर बावनराम उसे समझाता है ।"नौकर के कहने पर वे दोनों सामान लेकर बाहर निकल आये । अनुकूल का चेहरा तमतमाया हुआ था । बावनराम रूआसे हो आये थे.... जिस माहौल में उसने जन्म लिया है, उसमें तो ऐसी घटनायें रोज ही हुआ करेंगी । इसने तो वह जमाना देखा नहीं जो हमने देखा है...... । मुंह पर मल का तोबरा चढ़ा दिया जाता था....... हिम्मत नहीं पड़ती थी, कुछ बोल पाए ।"[1]

मगर अनुकूल हिम्मत नहीं हारता है । अपने हौसले बुलन्द करते हुए कहता है --"वही भैया हिम्मत न हारो । अपने पुर्खों को देखो । हजारों साल सन्तानहीन पितरों की तरह अपमान के उल्टे लटके रहेंगे .... कोई आयेगा जो उद्धार करेगा, सम्मान दिलायेगा । गांधी और अम्बेडकर बाबा आये, लेकिन और लोगों को भी तो आगे आना है । वो तो आकर चले गये ।"[2]

1.3. युवा पीढ़ी में आत्मविश्वास एवं स्वाभिमान का भाव :

दलित युवकों में आत्मविश्वास एवं स्वाभिमान का भाव बढ़ता जा रहा है । सदियों का भेदभाव एवं शोषण का अंत वह अपने सामर्थ्य को बढ़ाकर करना चाहता है । "परिशिष्ट" का अनुकूल कहता है - "हम लागों की गिरावट का यही कारण है कि सामर्थ्य का अन्दाज न लगाकर सीमाओं का अन्दाज लगाने बैठ जाते हैं । अपनी असामर्थ्य की बात सोचकर भी कभी कोई आगे बढ़ा है ? आगे बढ़ते है, जो अपनी कमजोरी को भी शक्ति के रूप में इस्तेमाल करने की सामर्थ्य रखते है ।"[3]

---

1. परिशिष्ट - पृ. 51
2. परिशिष्ट - पृ. 52
3. परिशिष्ट - पृ. 91

उच्च जाति के लड़कों का मुँहतोड़ जवाब अनुकूल अपनी भाषा में देता है -"लगता है आप लोग ये समझते हैं कि जो लोग निचले वर्ग से आते है, उन सबके यहा यही सडे मुर्दे ढोने का काम होता है । आप इस तरह भी तो सोचिए कि अधिकतर ब्राह्मणों के यहा अब पूजापाठ नहीं होता • • • •• वे संस्कृत तक नहीं जानते । ठाकुर लोग धन्धा करने लगे है • • • • सब नौकरियों की तरफ दौड़ते है । इसी तरह का परिवर्तन नीची जातियों में भी हुआ है ।"[1]

'सर्पगंधा' का नारायण भी ऐसा ही पीढ़ी का एक पात्र है । जो समकालीन सामाजिक विसंगतियां का विरोध करता है । उच्च जाति के लोगों द्वारा जो भेदभाव बरता जाता है, उसे देखकर नारायण का मन तिल-मिला उठता है । नेता जी का स्वागत के लिए आस पास के कई गावों का मिला जुला दल आया था, थोड़े ब्राह्मण, थोड़े ठाकुर और बाकी हरिजन । हरिजनों वाला जत्था ढोल, दमामे और तुरहियों से लैस था । इसे देखकर नारायण के मन में सवाल पैदा होता है "यहा जितने ठाकुर ब्राह्मण आए है, ये भी लाए है ढोल दमामे ।"[2]

नारायण का मन बेचैन हो उठता है, वह सोचता है - "हम डोमों की नेतागिरी जब तक इन लोगों के हाथों में रहेगी, हमारा गीधों की तरह का यह अलग बैठना कभी खत्म नहीं होगा । यारों ! अभी देखना चाय पीने को मिलेगी, तो बाकी सब के गिलास यह शख्स खुद धोएगा, मगर हम लोगों से यह उम्मीद करेगा कि गिलासों को खुद धोकर उल्टे रख दें, सूख जाने पर वापस दुकान में ले जाएगा ।"[3]

"सर्पगंधा" का कृष्ण मास्टर भी कहते है । जब तक दलितों में चेतना का उदय नहीं, वे अधिकार के प्रति जागरूक नहीं होते है, तब

- -

1• परिशिष्ट - पृ• 127

2• सर्पगंधा - पृ• 7

3• सर्पगंधा - पृ• 7

तक उनका उद्धार असंभव है । कृष्णामास्टर जी का कहना है -"हमारे समाज में ऐसे लोगों की संख्या ज्यादा है, जो वही महसूस करते है, जैसा उन्हें दूसरों के द्वारा महसूस कराया जाय । वह हमारे समाज की बहुत बड़ी वंचना है ।"¹

2. दलित नारी :

भारतीय समाज में नारी की स्थिति बड़ी दयनीय है । सामाजिक संरचना में परिवार रूपी संस्था का अपना महत्व है, जिसकी परिकल्पना विवाह के बिना नहीं की जा सकती है और विवाह नारी के अभाव से संभव नहीं । अत: सामाजिक दृष्टि से नारी की महत्ता स्वयं सिद्ध है । किन्तु इन सबके बावजूद भारतीय समाज में पुरूष का वर्चस्व रहा । समाज के सारे धर्म, नीति - नियम, आचार केवल नारी के लिए ही बने है । मनुस्मृति को नारी को नरक कहा गया है । उनके चरित्र पर आरोप लगाते हुए उन्हें हमेशा नीचा दिखाया जाता है । विभारानी मानवाधिकार रिपोर्टों के हवाले से लिखती है - "मानवाधिकार रिपोर्टों पर यदि हम ध्यान दे तो पहले हम अपने घर यानी अपने देश में ही क्यों नहीं देखते, जहां प्रति मिनट 10 बालिका भ्रूण हत्या, 5 से 7 दहेज हत्या, 6 - 8 बालिकाओं की बेटी होने के कारण हत्या, 3 बच्चियों -स्त्रियों पर बलात्कार और उनकी हत्यायें होती रहती है...... और तो और राजनीति में तकरीबन 8% की साझीदारी महिलायें इस बार 2% भी नहीं रही चुनावी मैदान में । दलित नारियों की स्थिति इससे भी

---

1. सर्पगंधा - पृ. 39

बदतर है । स्त्रियों पर होने वाले जुल्म के 80% भाग दलित स्त्रियों को भोगना पडता है ।"[1] आज कई नारीवादी संगठन इन अत्याचारों के खिलाफ लड़ रही है । कभी कभी उनको निराश होना पड़ता है । पूरूष वर्चस्ववादी समाज में नारीको अपना अधिकार हासिल करना इतना सरल नहीं है । सरला महेश्वरी लिखती हैं -"मार्क्सवादी और समाजवादी नारीवाद भी इस बात को मानने लगा है कि नारियों के उत्पीड़न की समस्या, कोई सरल समाधान मुमकिन नहीं है ।"[2]

ऐसी परिस्थिति में दलित नारी की स्थिति और दयनीय है । अभाव, असुरक्षा एवं आशंका के बीच वह कठोर जीवन जीती है ।

हिंदी के उपन्यासकारों ने इस स्थिति का बड़ा यथार्थ वर्णन किया है । "मौसी" उपन्यास का मोहना सोचता है -"क्या होगा इस समाज का ? क्या होगा इस औरत का, जिसे न आदिवासी अपना समझता है, न दिकू ही अपना कहता है । वह न गांव की रही, न शहर की ।"[3]

दलित नारी को गरीबी हमेशा घेरी रहती है । "मौसी भी उस दिन बुरी फंसी थी । अब क्या करे ? सर्दी का महीना । तन पर एक साड़ी । कंधे पर गमछा सिर पर लेटो । कैसे कटेगी रात ।"[4]

अंत में मौसी का विवाह एक मुस्लिम बूढ़े से कर दिया जाता है । जो मौसी की मर्जी के खिलाफ था । "ऐसा लगता था जैसे फैसला उन्हीं

- -

1. हंस - अप्रैल - 1998 - पृ. 45
2. नारी प्रश्न - सरला महेश्वरी - पृ. 21
3. मौसी - रमणिका गुप्ता - पृ. 11
4. -वही- पृ. 15

को करना था - मौसी की राय लेना जरूरी नहीं था । उसे तो बस मानना भर था । औरत पर हमेशा कुछ न कुछ थोपा ही जाता है । उसकी मरजी पूछने का एक रिवाज, एक रस्म तो है समाज में, पर ये सब बस सूचना के बतौर निभाई जाती है ।"[1]

औरत की जिन्दगी में बहुत सारी अनहोनी घटनाएं घटित होती है । "मौसी" में मौसीकहती है - "अध्याय तो रोज बदलते है, हर औरत की जिन्दगी में एक के बाद एक आते जाते रहते हैं । पर अपनी जिन्दगी के वरक पर औरत स्वयं नहीं लिखती, दूसरे लिखते है । वह तो लिखी जाती है और पन्ने पलट जाते हैं । दूसरा अध्याय शुरू होता है । लिखने वाला कोई और हो जाता है । कलम स्याही भी और ।"[2]

"मिट्टी की सौगंध" की नायिका शीला, ठाकुर के हवस का शिकार होती है । चूंकि वह दलित वर्ग से थी, इसलिए हर व्यक्ति उस पर गिद्ध दृष्टि गड़ाए रहता था । एक दिन विजेन्द्र ने उसे बचाया और कहा...."एक तो तुम गरीब बाप की बेटी हो.... उस पर अछूत वर्ग से हो, क्या नहीं जानती कि अछूतों की लड़कियों को लोग गिद्ध की तरह नोचने की ताक में रहते है ।"[3]

अछूत लड़कियों का शोषण गांव के ठाकुरों के लिए आम बात है । ये लड़किया इनकी अय्याशी के लिए मानों पैदा हुई हो । एक ठाकुर कहता है -"हमारा खानदान जमींदारों का है... हमारे खानदान के लड़के एय्याशी तो बड़े शौक से कर सकते है, लेकिन एय्याशी के लिए चुनी हुई

- -

1. मौसी - पृ. 27

2. मौसी - पृ. 35

3. मिट्टी की सौगंध - पृ. 24

औरत या लड़की जमींदार घराने की बहू नहीं बनाई जा सकती, क्योंकि जो हमारे जूते बनाते है, हमारे घरों की गन्दगी साफ करते है वे हमारे लिए अछूत है ।"[1]

3. दलितों में व्याप्त अशिक्षा एवं गरीबी :

जयप्रकाश कर्दम ने "छप्पर" उपन्यास में दलितों के प्रति उच्च वर्ग के वैमनस्य भाव एवं दलितों की गरीबी का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है । उपन्यास का जुझारू नायक चन्दन समाज से जाति - पाति के भेद भाव को मिटाकर दलितों को समानता का अधिकार दिलाना चाहता है । दलितों की सामाजिक स्थिति का वर्णन करते हुए "कर्दम" जी लिखते हैं - "अन्य भारतीय गांवों की तरह मातापुर में भी थोड़े से लोग सुखी और सम्पन्न लोगों में सवर्ण कहलाने वाले ब्राह्मण - पुरोहित, ठाकुर जमींदार तथा लाला साहूकार हैं । दूसरे गांवों की तरह सवर्ण लोग ऊपर की ओर तथा अवर्ण कहे जाने वाले दलित लोग गंगा के बहाव की ओर निचान में बसे हैं ।"[2]

दलितों में अधिकांश मुफलिसी का जीवन जीते है । उन्हें ढंग का भोजन नहीं मिलता है, रहने को आवास भी नहीं है । जब वे अपनी सन्तानों को पढ़ा लिखाकर योग्य, शिक्षित बनाना चाहते हैं, उनकी माली हालत सबसे बड़ा अड़चन बन जाता है । छप्पर का नायक "चन्दन" जब पढ़ने के लिए शहर जाता है, उसकी मां गांव में गरीबी झेल नहीं पाती है, इसलिए वह अपने पति से कहती है -"ऐ जी मैं कहती हूं - चंदन के बापू,

- -

1. मिट्टी की सौगंध - पृ. 43

अब तो काफी पढ़ लिख गया है चन्दन । क्यूं नहीं तुम उसे लिखवा भेजते कि वह कहीं हिल्ला रूजगार ढूंढ ले । दो पैसे कमाएगा तो तुम्हारी दवादारू भी हो सकेगी और सिर से कर्ज भी उतरेगा ।"[1]

गांव का मुखिया नहीं चाहता है सुक्खा का बेटा पढ़ लिखकर शिक्षित बने । दलितों का आगे बढ़ना सवर्णों को फूटी आंखों नहीं सुहाती है । ठाकुर साहब कीबात न सुनने पर सुक्खा को गांव बिरादरी से बहिष्कार किया गया । "ठाकुर हरनाम सिंह की चौपाल पर गांव के सारे सवर्णों की पंचायत हुई । फैसला हुआ कि न तो सुक्खा को खेत में घुसने दिया जाय, न उसे किसी जैसे - चकरोड़ से घास खोदने दी जाएं और न उसे लाई - पताई या मजदूरी के लिए बुलाया जाए ।"[2]

मगर सुक्खा किसी भीहालत में अपने बेटे को शिक्षित बनाना चाहता है । वह इन ठाकुरों की हेंकडी के आगे झुकता नहीं है । वह कहता है - "सुक्खा कहता है मत लो ऐसे जाहिलों का नाम मेरे सामने, जो मेरे बेटे का जीवन बर्बाद करने पर तुले हैं । मैं मर जाऊंगा, भूखा प्राण तज दूंगा । सब बर्दाश्त कर लूंगा मैं, पर चन्दन को इस नर्क में नहीं पड़ने दूंगा कभी ।"[3]

चन्दन नवीन पीढ़ी का सचेत एवं जागरूक दलित युवक है । समकालीन असमान समाज व्यवस्था पर व्यंग्य करता हुआ वह कहता है - एक तरफ तुम हो और दूसरी ओर वे लोग है, जो किसी जाति में जन्म लेने मात्र से श्रेष्ठ समझे जाते है । चाहे वे कुरूप तथा आचरण से गिरे हुए हो । वे लोग हैं जो कोठियों और बंगलों में रहते है, कारों में घूमते हैं, जिनकी

---

1. छप्पर - पृ. 12
2. -वही- पृ. 38
3. -वही- पृ. 39

तिजोरियाँ नोटों से भरी है । जो तुम्हारी कमर तोड़ मेहनत के बदले तुम्हें उचित मजदूरी तक नहीं देते । तुम्हारा शोषण करते है ।"[1]

जाति व्यवस्था के कारण दलितों का सबसे ज्यादा शोषण हुआ है । यहाँ जाति कर्म से नहीं जन्म से तय होती है, इसलिए दलित घर में पैदा होना मानों अभिशाप है । वही ब्राह्मण कुल में जन्म लेना वरदान माना जाता है । "छप्पर" का चन्दन कहता है -"किसी और मुल्क में या गैर जाति में पैदा होता भूखा मरता पंडित काणाराम, लेकिन धन्य हो भारत की समाज व्यवस्था कि ब्राह्मण भूखा मर ही नहीं सकता । व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक किसी न किसी रूप में ब्राह्मण उससे टेक्स वसूल करता है । चाहे कितना ही अशिक्षित, अयोग्य और अक्षम क्यों न हो, लेकिन एक ब्राह्मण पंडित पुरोहिताई करके सुख और सम्मान से जी सकता है ।"[2]

"छप्पर" का संघर्षशील नायक चन्दन प्रचलित समाज व्यवस्था को अपने वर्ग के शोषण का मूल कारण मानता है । इस व्यवस्था ने उसे सदियों से पंगु बना दिया है । "सदियों से दासता और गुलामी की जंजीरों में जकड़ा रहा है हमारा समाज । खाली पेट, नंगे तन और टूटे - फूटे छान झोंपड़ों में बसर करने की विवशता यही रहा है, सैकड़ों, हजारों वर्षों से हमारे समाज का यथार्थ । हम लोग पढ़ लिख गए हैं लेकिन हमारा समाज, हमारे नाते रिश्तेदार सबके सब अभी भी उसी स्थिति में है ।"[3]

4. शहर में दलितों की स्थिति :

आधुनिक सभ्यता का केन्द्र शहर भी इस जाति-पाति

---

1. छप्पर - पृ. 23
2. छप्पर - पृ. 35
3. छप्पर - पृ. 42

एवं शोषण की बीमारी से अछूता नहीं है । हालांकि शहर में यह स्थिति और भयानक है । ग्रामीण सभ्यता में जहां शोषक जमींदार, ठाकुर होते है, वहीं शहर में भी ठेकेदार अफसर मौजूद है ।

"शहर में भी बहुत से दलित और दरिद्र लोग बिना छुकी भुनी सब्जी खाते हैं या केवल पानी या चाय के साथ नमक की रोटियां गले उतारकर जिन्दा रहते है । फाका भी रह जाता है बहुत से घरों में । यहां भी तन ढकने को कपड़ा नहीं है आदमी के पास । बहुत सी औरतों के पास यहां भी मैली कुचली सी सिर्फ एक साड़ी होती है, सस्ती सी कच्चे पक्के रंगों की ।"[1]

4.2. शहर की कतिपय समस्यायें- नशापान :

नशाखोरी दलित समाज की सबसे बड़ी समस्या है । दिनभर कमर-तोड़ मेहनत करके जो कुछ कमाता है, शाम को भट्ठे में जाकर उसे फूंक देता है । शराब के नशे के कारण उसकी चेतना मर जाती है । वह हमेशा के लिए नशा के साथ साथ सेठ साहूकारों का भी गुलाम बनके रह जाता है । "छप्पर" में हरिया हमेशा नशे में धुत रहता है, इसलिए दुनिया जहान के बारे में उसे कोई जानकारी नहीं रहती है । "हरिया खूब दारू पीता है । जब देखो तब दारू के नशे में धुत रहता है । दिन में पीता है, शाम को ठेके पर जाकर पीता है और अगली सुबह फिर प्याले में चाय की जगह दारू की जरूरत होती है उसको । यह दारू ही है, जो हरिया को यह नहीं सोचने देती कि दुनिया में क्या हो रहा है ।"[2]

---

1. छप्पर - पृ. 15
2. छप्पर - पृ. 16

अशिक्षा के कारण दलित समाज में कई तरह की दुष्प्रवृत्तियां प्रचलित है । नशापान के साथ परिवार के लोगों में लड़ाई झगड़ा आदि करना उनमें आमबात है । "परिशिष्ट" में अनुकूल का मित्र अपने परिवार की स्थिति का वर्णन करते हुए कहता है, "मेरी जिज्जी सुन्दर भी है, गुणी भी, पर भाग की हेठी । जब ब्याह हुआ और डोली में बैठी तो मेरा हाथ पकड़कर छोड़ नहीं रही थी । .... बापू ने सोचा था कि लड़का सरकारी नौकरी में है, रोटी दालका डोल रहेगा । पर हमारी जात ही ऐसी है । पीना, खेलना, औरतों को मारना.... इतना चलता है कि बापू हमेशा कहा करते थे कि मेरा बस चले तो मैं अपनी राजकुमारी को बिरादरी से बाहर बिहाऊंगा ।"[1]

शहर के ठेकेदार मजदूरों को शराब पिलाकर हमेशा अपने काबू में रखते है । "धार" का मामा हमेशा शराब के लिए ठेकेदारों का तलुआ चाटता है, नशा के लिए वह अपनी भाई बिरादरी को भी भुला देता है । चाहे कितनी भी कठिनाई हो शराबी शराब को नहीं भूल सकता है । "गगन घटा घहरानी" में सोनाराम कहता है -"चारों तरफ अकाल पड़ा है । लोग दाने दाने को तरस रहे हैं । फसल की जरा भी उम्मीद नहीं है । पर लोग जमीन बेच बेच कर दारू पीते ढुकले पड़े रहेंगे । नशे में अपना आपा भूले रहेंगे ।"[2]

"गगन घटा घहरानी" में सोनाराम दलितों को शराब से बचाने के लिए, बहुत प्रयास करता है । मगर लोग सोनाराम की बातों पर नहीं आते है । सोनाराम कहता है -"दारू हमारे दिमाग को थोथरा कर देता है हमारी समझ में कुछ नहीं आता और दिकू हमें गुलाम बना देते है ।

---

1. परिशिष्ट - पृ. 136

2. गगन घट घहरानी - पृ. 111

हमारी जमीन छीन लेते, हमारी जमीन पर कब्जा कर लेते, हमारे ही घरों से हमें बेघर कर देते है और हम देख भी नहीं पाते है ।"[1]

5. दलितों में अस्मिता बोध एवं क्रांति चेतना :

"समाज की सवर्ण और असवर्ण दोनों जातियों में एक समझदार तबका उभरा है, जो तर्क और बौद्धिकता के आधार पर जातिप्रथा को अस्वीकार करता है । सवर्ण जहां एक प्रकार का बौद्धिक असंतोष व्यक्त कर चुप हो जाता है, वही अस्पृश्य की अस्वीकृति उग्र और आक्रामक भी दिखाई देता है ।"[2] क्योंकि सवर्णों ने उस उपेक्षा भूख एवं दमन के विष को नहीं पिया है, जो हरिजनों तथा अन्य दलितों को प्राय: पीना पड़ा है । फिर भी बौद्धिक स्तर पर सही जात पांत और अस्पृश्यता को नकारना उस मूल्य संक्रमण का द्योतक है, जो शिक्षा और विज्ञान के प्रभाव से शिक्षित मध्यवर्ग में जन्मा है ।

जाति प्रथा के संदर्भ में दलित वर्ग के मूल्यों का संक्रमण "सोच" के स्तर पर घटित नहीं होता अपितु व्यवहार में हिंसा के सीमांत तक पहुंचता दिखाई देता है । कुछ थोड़े से हरिजन युवक बगैर किसी वर्ग संघर्ष के अपने को उठाने में विश्वास रखते हैं, लेकिन यह जानी हुई बात है कि दलितों के हित साधन उच्च वर्गीय सवर्णों के वर्ग हितों से टक्कर लिये बिना नहीं हो सकते । "मोतिया" हजार घोड़ों का सवार" "धार" "परिशिष्ट", "छप्पर" मिट्टी की सौगंध" एवं "श्रम एवं जयते" के दलित यह मानकर चलते है कि संगठित संघर्ष से ऊंच, नीच, छुआछूत की खाई पाटी जा सकती है

---

1. गगन घटा घहरानी - पृ. 113
2. हिंदी के आंचलिक उपन्यासों में मूल्य संक्रमण - वेदप्रकाश शर्मा -पृ. 120

इसलिए उनमें एक किस्म की आक्रमकता है । "गगन घटा घहरानी" में सोनाराम कहता है --"अरे पागल आदमी ठान ले तो कुछ भीकर सकता है...। अत्याचार सहते सहते लोगों कीआदत पड गई है, वरना हम - तुम क्या किसी दिकू से कमजोर है, जो उनकी जूतियां चाटते रहे । देखते देखते सारी जमीन छीन गयी । आदमी का उसके तन पर भी अधिकार न रहने दिया । यह बस सहते चले जाने के कारण ही तो है । जिस रोज लोग साथ मिलकर खड़े होंगे, यह सब बन्द हो जायेगा ।"[1]

"गगन घटा घहरानी" में जुवेल नामक एक ठेकेदार मरियम नामक युवती से छेड़छाड़ करता है, मगर समय बदल चुका है इसका अन्दाज उसे नहीं था । सोनाराम यह सुनते ही भड़क उठता है और सीधे जाकर जुवेल को पीट के आता है । "जुवेल को पीटते हुए सोनाराम ने सिर्फ जुवेल को नहीं उसकी जाति को पीटा था । मरियम बहन नहीं लगती थी, प्रेमिका नहीं लगती थी । जुवेल के हाथों से मरियम को बचाकर सोनाराम की छाती एक नये किस्म के जातीय गर्व से फूल उठी थी ।"[2]

"रामकुमार भ्रमर" ने "मोतिया" में ऐसे जुझारू नायक की परिकल्पना की है, जो सामाजिक भेदभाव से तंग आकर डाकू बन जाता है । "एक आग मोतिया के जिस्म से उठने लगी थी । विद्रोह और छटपटाहट की आग मन ही मन धिक्कार । ठीक ही कहा था रजुआ ने -"समरथ को नहीं दोष गुसाईं" - इसलिए मोतिया समरथ बनेगा सब समर्थ है समाज, जाति, विचार, गांव, परम्पराएं सब और इस सबका जवाब केवल मोतिया का समर्थ होना ही हो सकता है और मोतिया वही बनेगा ।"[3]

- -

1. गगन घटा घहरानी - पृ॰ 111
2. -वही- पृ॰ 75
3. मोतिया - पृ॰ 119

"धार" का शरमा बाबू दलितों को हिंसा के मार्ग पर बढ़ने से रोकते है । शरमा बाबू बौद्धिक चेतना से सम्पन्न शिक्षित व्यक्ति, वे समाज व्यवस्था की जटिलताओं को समझते है । जब दलित लोग हिंसा के पथ पर आगे बढ़ना चाहते है, तो वे उनको समझाते हुए कहते है - "तीर धनुष उठा ले । मगर किसके खिलाफ ? दुश्मन कहीं नजर आए साफ-साफ तब न । शोषकों की पूरी व्यवस्था प्रकट में जन हितैषी का भ्रम पैदा करती है । वे नेता हो या अफसर, माफिया हो या ठेकेदार, कारखाने-दार हो या दलाल, सभी तो गरीबों और शोषितों के उद्धार में लगे दिखते है । दुश्मन जितना मूर्त है, उससे ज्यादा अमूर्त है । तीर का निशाना क्या होगा ।"[1]

"मिट्टी की सौगंध" में हरिया सूरज से कहता है -"लेकिन सूरज हम दोनों का एक ही दुश्मन है, क्योंकि न हम मिलकर ठाकुर के खिलाफ संघर्ष करें और जितने लोगों को ठाकुर ने सताया है, हम सब एक होकर उससे लड़े ।"[2]

बाद में चलकर दलितों पर हुए जुल्म का प्रतिशोध लेने के लिए वे एक "न्याय सेना" बनाते है । न्याय सेना ठाकुर के हर अत्याचार का मुँहतोड़ जवाब देता है । एक न एक दिन मुकाबला तो करना ही था, लेकिन वह स्थिति जल्दी ही आ गई है --"न्याय सेना" को अब यह चुनौती देनी ही होगी कि अब रामनगर के दलितों पर जुल्म बरदाश्त नहीं किया जा सकता ।"

---

1. धार - पृ. 130
2. मिट्टी की सौगंध - पृ. 72

6· राजनैतिक परिप्रेक्ष्य– दलित अधिकार का अपहरण :

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात भारतीय समाज में अनेक नयी राजनीतिक स्थितियां उत्पन्न हुई और उनके फलस्वरूप राजनीतिक चेतना का उदय हुआ । इन नयी स्थितियों और चेतना के अच्छे बुरे स्वरूप भारतीय समाज में व्याप्त हुए और अपने प्रभाव की निर्मिति की ।

स्वाधीनता प्राप्ति से पूर्व लोगों में एकभावात्मक स्तर की राजनीतिक चेतना की लहर दिखाई पडती है यानी स्वाधीनता आन्दोलन में सभी वर्ग और वर्ण के लोगों की भागीदारी लक्षित होती है । भारत माता और गांधी जी का नाम लेकर तमाम छोटे छोटे लोग झंडा उठाये, राष्ट्रीय गीत गाते फेरी लगाते रहते थे । यानी उनके मन में स्वाधीनता प्राप्ति का एक सपना था और उसके लिए स्वाधीनता आन्दोलन में बह रहे थे । बाबा अम्बेडकर के नेतृत्व में दलितों ने भी जी जान से अपना सहयोग दिया । स्वाधीनता प्राप्ति के समय ऐसा लगा था कि अब तक सदियों से उपेक्षित एवं पीड़ित वर्ग को उनका अधिकार लौटा दिये जाऐंगे । समाज में समता, शांति एवं सौहार्द का वातावरण पनपेगा । गांव के किसानों, मजदूरों, शिल्पियों आदि अभावग्रस्त लोगों के सपने पूरे होंगे । राजनीति ऐसी ठोस स्थितियां पैदा करेंगी, जिससे समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता दूर होगी । एक समाजवादी राज्य की परिकल्पना साकार होगी । पिछड़े वर्ग और वर्णों के लोग समाज में सम्मान पूर्ण स्थान और अपने श्रम का मूल्य प्राप्त करेंगे तथा समाज का सामूहिक जीवन और भी प्रबुद्ध, स्वस्थ, संतुलित और सुंदर होगा । अंध विश्वासों और रूढ़ियों से जकड़े हुए लोग नयी राजनीतिक चेतना के प्रकाश में अपने और अपने समाज के सही रूप को समझेंगे और विश्व को समझने की चेतना उनमें विकसित होगी ।

6·1·दलित उत्थान का कोरा प्रचार :

इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वाधीन भारत सरकार ने दलितों के उत्थान के लिए कई कारगर योजनायें बनाई । संविधान में बाकायदा एक कानून बनाया गया जिसके बतौर दलितों को शिक्षा, रोजगार आदि के क्षेत्र में आरक्षण प्रदान किया गया है । मगर व्यवहारिक तौर पर इसका कोईसकारात्मक प्रभाव समाज पर ज्यादा नहीं पड़ा । वोट की राजनीति ने समाज को वोट का अखाड़ा बना दिया । बहुत दिनों तक दलितों को भुलाया जाता रहा था । तरह तरह के प्रलोभन दिए जाते थे । चुनाव से पहले लोक लुभावने कार्यक्रमों की घोषणा आम बात हो गई थी । धीरे धीरे दलितों में भी राजनैतिक समझ बढ़ी । "सर्पगंधा" में इस बात को बखूबी दर्शाया गया है । कृष्ण मास्टर कहता है -"इन राजनैतिक नेताओं का ज़ोर हरिजन समाज की प्रगति पर नहीं, हरिजन तबको की राजनैतिक घेरा बन्दी पर नहीं, हरिजन तबको की राजनैतिक घेरा बन्दी पर है । ये जो आपकी आरक्षण क्रांति चलाई गई है, यह भी एक ऐसी ही चाल है ।[1]

भ्रष्टाचार राजनीति को दीमक की तरह चाटता जा रहा है । हर राजनेता भ्रष्टाचार का प्रतीक बन गया है । लोगों की आस्था एवं विश्वास में काफी गिरावट आया है । नेता की बात अब व्यर्थ फिजूल जान पड़ती है । लोगों के मन में इनके प्रति सम्मान घट गया है ।

"गगन घटा घहरानी" का विभीखन सिंह ऐसा ही एक राजनेता । मजदूरों के मन में, उसके प्रति जो भाव है, वह विभीखन सिंह मजदूरों के नेता बनते है, बाहर में इनकी यह छवि है । पलामू के कोयला खादान और

1· सर्पगंधा - पृ· 40

चूना पत्थर की खानों में इनकी यूनियन चलती है । मजदूर यूनियन है । मजदूर यूनियन के लाखों रूपये के चन्दे डकार जाते है । उसी से इनकी अय्याशी चलती है । उन्हीं रूपयों को बिजनेस में लगाया हुआ है ।"[1]

"मौसी" में रमणिका गुप्ता लिखती है -"ऐसे क्षेत्र के मजदूर कोलयरियों में इन्टक के साथ थे । राजा साहब की कोई यूनियन नहीं थी । राजा साहब व्यापार की राजनीति करते थे । मजदूरों का गरीब जनता की नहीं । गरीब जनता उनकी मोहरा थी, वोट की बिसात के लिए। उनकी भलाई उनका लक्ष्य नहीं था । इसलिए जब माडू में पानी के लिए बजी वाले पहुंचे संघर्ष के दौरान तो, माडू वालों को इसका अहसास हुआ । राजा साहब चुनाव की मीटिंगों में भाषण देने बाजार हाट में आते, तो अलग से ट्रक पर लदवाकर लाते है, पानी टंकी, अपने कारिंदों, असले अमले के पीने की जरूरत पूरीकरने के लिए ।"[2]

राजनीति में माफिया लोगों के गिरफ्त में दलित युवककभी कभी आ जाते है । "माफिया रंगदारों का झेलते झेलते, उनके खिलाफ लड़ते लड़ते, इनकी युवापीढ़ी अब स्वयं रंगदारी के रूआब - दबाव, उसकी पैंतरे बाजी अपनायी है । उनका नाम लेकर, उन्हें अपना अपना मोहरा बनाकर, राजनीतिक दल अपना प्रभाव बढ़ा रहे है ।"[3]

स्वाधीनता प्राप्ति और उसी के संदर्भ में दल अपने अपने ढंग से किसान मजदूर, शोषित, दलित आदि के कल्याण की बात करते थे । मगर स्वाधीनता के बाद यह स्थिति समाप्त हो गई । अब ये बातें सिर्फ चुनाव के समय

---

1. गगन घटा घहरानी - पृ. 147
2. मौसी - पृ. 46
3. मौसी - पृ. 62

ही किया जाता है । "मौसी" उपन्यास का माधो कहता है - "ठीक उसी तरह इसी समाज में माधो की बिरादरी वालों की स्थिति है जिन्हें अपने से सोचने की मनाही रही सदियों से । जो केवल सेवा के लिए बने थे । दलित होने के कारण माधो को समाज की तीन सीढ़ियों का भार अपने माथे पर सहारना पड़ता था । उसे कहाँ फुरसत देता था कोई अपने बारे में सोचने की ? उसे आदमी कब समझा था समाज ने ? आज भी तो गांव में उसके टोले में कोई पानी नहीं पीता । बस वोट के दिनों में ज़रूर भीड़ लगती है, सबसे ज्यादा उन्हीं के टोले में। दंगा हो तो यही लोग जाते हैं, मार करने, धर्म की खातिर । और वही धर्म इन्हें सटने नहींदेता, फटकने नहीं देता, अपने पास ।"[1]

उपन्यासकारों ने ग्रामांचल में राजनीति के प्रवेश को बहुत शुभ नहीं समझा है । राजनीति गांव में पहले भी थी लेकिन उस समय ग्रामीण उसकी उपेक्षा करता था । लेकिन अब सभी गांवों और कस्बे राजनीति के संक्रामक रोग से ग्रस्त हो गए है । चुनाव उनके लिए सैद्धांतिक प्रश्न न होकर गोल गिरोह का प्रश्न हो गया है । सर्पगंधा का कृष्ण मास्टर इस बात को भाप जाते है और कहते हैं --"इन राजनैतिक नेताओं का जोर हरिजन समाज की प्रगति पर नहीं, हरिजनों तबकों की राजनैतिक घेरा बन्दी पर है ।"[2]

उपन्यासकारों ने जिन चरित्रों के माध्यम से समकालीन राजनीति का लेखा जोखा प्रस्तुत किया है, उनकी कथनी और करनी के बीच गहरी खाई यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि भारतीय राजनीति में सिद्धांत कथन ही अधिक हुआ है । अधिकांश औपन्यासिक चरित्र बिना किसी

- -

1• मौसी - 72 - 73

2• सर्पगंधा - पृ• 40

पृष्ठभूमि या तैयार के, संयोग का लाभ उठाकर नेता बन जाते है । मगर उच्च वर्ग के लोगों का कठपुतली बने बिना उनके लिए कोई उपाय नहीं होता है । "नयी बिसात" में समसेर को लगता है वह चुनाव नहीं जीत पायेगा, अत: वह एक अहीर को मोहरा बनाता है । समसेर कहता है - अहिर सरपंच रहेगा । करेगा वही जो हम सब कहेंगे । समसेर की नाक बच जायेगी ।"[1]

चुनाव से पहले दलितों के प्रति जो सद्भावना उमड़ती है यह "नयी बिसात" में देख सकते है - "ग्राम सभा का चुनाव जैसे जैसे नजदीक आ रहा था, गांव में सरगर्मी बद़ रही थी । शमशेर सिंह मातादीन से तीन चार बार मिल चुका था । उसने सोचा मातादिन हाथ में आ जाए तो चमार पासियों के वोट मिल जायेंगे और बड़े मजे में सरपंच बन जाउंगा ।"[2]

दलितों के नेता भी कम चालाक नहीं होते है । राजनीति की समझ हर वर्ग के लोगों को मालूम हो गई है । नयी बिसात में एक दलित कहता है -"मातादीन नम्बरी चालू है, उसकीबिरादरी के एक आदमी ने ढोले के लोगों से कहा । एक पांव आसरम में दूसरा समसेर के घर में । दोनों हाथों में लड्डू ।"[3]

डा0 अंजलि तिवारी का यह कथन आज के भारतीय राजनीति को रेखांकित करने में पूर्णत: सक्षम है - "स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति की सबसे बड़ी कुशलता है, देश की अपेक्षा दलों को महत्वपूर्ण समझना । देश में अनेक छोटे बड़े दल बन गये है और वे दल समाजवाद का नारा देकर भी जातिवाद, सम्प्रदायवाद या क्षेत्रवाद पर आधारित है । वे जनता के

- -

1. नयी बिसात - पृ. 43
2. नयी बिसात - पृ. 35
3. नयी बिसात - पृ. 36

सामाजिक और आर्थिक जीवन के विघटन के सबसे बडे कारण है । दल जनता से चंदा और वोट मांगते है और अपना उल्लू सीधा करते है ।"[1]

मैसी उपन्यास के ठाकुर एवं विभिखन सिंह ऐसे पात्र हैं । ठाकुर चुनाव जीतने के लिए दलितों के प्रति हमदर्दी जताता है । उसके व्यवहार से ऐसा लगता है मानो वहदलित वर्ग का सबसे बड़ा शुभचिन्तक या उद्धारक हो, मगर चुनाव समाप्त होते ही, ये, सब कुछ टांय टांय फिस्स हो जाताहै । ठाकुर के सारे आदर्श, प्रेम, करूणा एवं त्याग की धारा एकाएक शोषण की ज्वाला में सूख जाती है । विभीखन सिंह मजदूरों का नेता है । मजदूरों के हक के लिए वह संघर्ष करता दिखाई पड़ता है । मगर उसका संघर्ष नकली होता है । क्रांति के नाम पर वह मजदूरों से चंदा बटोरता है और अपनी तिजोरी भरता है । मजदूरों की दुर्दशा बढ़ती जाती है, वहीं, विभीखन सिंह की संपत्ति भी बढ़ती जाती है । ढोंग आज की राजनीति में आम बात हो गई है ।

इन उपन्यासों में दलित चेतना उठती दृष्टिगत होती है । समाज की दलित, शोषित जनता इस धारणा को अपने अनुकूल पाती है, तथा उससे प्रतिबद्ध होती दिखती है । जाहिर है नयी प्रजातांत्रिक प्रणाली के कारण ही देश के संविधान में दलित वर्गों के हित की पूर्ति का प्रावधान रखा गया है, जिससे भेदभाव मिटाने में काफी सहायता मिल रही है । दलित उपन्यासों में इस यथार्थ की गहरी अभिव्यक्ति हुई है । लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि राजनीतिक दलों के भीतर मूल्य अवशिष्ट नहीं रहे । यह सही है कि दल को सत्ता में आने औरबने रहने के लिए अनेक प्रकार के हथकण्डे अपनाने पड़ते है और दलों के अधिकांश लोग दलोय स्वार्थ और

- -

1. फणीश्वरनाथ रेणु का साहित्य - अंजलि तिवारी - पृ. 35

उससे आगे बढ़कर निजी स्वार्थ से भरे रहते है, किन्तु उनमें कुछ लोग ऐसे अवश्य हैं, जो देश हित क लिए आवश्यक मूल-भूत मूल्य चेतना से स्पंदित रहते हैं। वे व्यक्तिगत रूप में और दल के भीतर भी मूल्य की लड़ाई लड़ते रहते है। वे चाहे दलगत सत्ता में रहे या सत्ता से बाहर रहे उनका संघर्ष चलता रहता है। भले ही संख्या में कम हो किन्तु सत्य, ईमानदारी और जनहित के लिए संघर्षरत नेता भी मिल जाते हैं। अतः उपन्यासकारों ने संक्रमण की उस सही दिशा की ओर भी संकेत किया है, जो भविष्य में उच्चतर लक्ष्यों की ओर होगी। इसी उद्देश्य के लिए कुछ जगधर्मी और जुझारू जन सेवियों के बिम्ब को चमकाया गया है। इनके अपने निश्चित जीवन मूल्य है और कार्य करने का उद्देश्य सुस्पष्ट है। वे हर तरह की अनीति और भ्रष्टाचार के विरुद्ध अलख जगाते देखे जा सकते है।"1

कृष्ण मास्टर (सर्पगंधा) मुंशी भैया (नयी बिसात) अनुकूल (परिशिष्ट), विजेन्द्र (मिट्टी की सोंगध) शरमा बाबू (धार), बिन्दी (मोतिया), सोनाराम (गगन घटा घहरानी) चन्दन (छप्पर), गीधू (हजार घोड़ों का सवार) आदि वास्तविक अर्थों में जन प्रतिनिधि हैं और सत्य, न्याय, राष्ट्रहित आदि मूल्यों के लिए संघर्ष करते हुए प्रायः आहत होते हैं।

6-2 दलित एवं चुनाव :

ऊपर कहा गया कि देश दलगत राजनीति का अखाड़ा बन गया है और दलगत राजनीति का एक सबसे बड़ा शास्त्र है चुनाव। यह सच है कि आज विश्व में राजनीति सबसे प्रबल नीति बन गयी है वह क्रिया है, सारी नीतियों, सोच विचारों आदि को वह देश और समाज के जीवन

---

1. हिंदी के आंचलिक उपन्यासों में मूल्य संक्रमण - वेद प्रकाश शर्मा - पृ. 164

में क्रियान्वित करती है । इसलिए उसकी शक्ति अद्भुत है । आज राजनीति जैसे हमारी सांस सांस में समा गयी है, घर घर में पैठ गयी है । यह बहुत अच्छी बात है कि पहले राजनीति का संबंध केवल राजाओं और उनसे जुड़े चंद ऊंचे लोगों से था अब हर आदमी से है । यानी अब हर आदमी को वयस्क मताधिकार प्राप्त है । जिसके तहत वह अपनी इच्छा से नेता का चुनाव कर सकता है । किसी भी प्रकार का भय या प्रलोभन दिखाकर उसके मत को बदलने की कोशिश करना अपराध है । इस तरह देश का अनंत जन समूह देश और देश के माध्यम से अपने भाग्य का निर्माता स्वयं बना है । यह स्वाधीन भारत की राजनीति का एक अहम पहलू है, लेकिन जैसा ऊपर कहा गया है कि कानून एवं नीतियां एक ओर और विभिन्न दलों द्वारा किया जाता हुआ व्यवहार दूसरी ओर है । भय और प्रलोभन के बिना हर व्यक्ति को मत देने का अधिकार है । भय एवं प्रलोभन देना अपराध है । किन्तु ये सब बातें कागजी रह गयी है । हर दल जीत कर सत्ता में आने के लिए संविधान के विपरीत इतना कुरूप व्यवहार करता है कि संविधान की अर्थमत्ता ही समाप्त होती दिखाई देती है । अब लगता है कि शहर, कस्बा गांव का हर घर और हर व्यक्ति किसी न किसी दल से जुड़ा हुआ है और दल के समर्थन के लिए और फिर उस दल के समर्थन के लिए और फिर उस दल से कुछ पाने के लिए चाले चलता रहता है । चुनाव के समय अपने दल को जीताने और क्षेत्रों के समीकरणों पर ठहरा हुआ है, इसलिए संविधान के आशय के ठीक विपरीत चुनावों के कारण जातिवाद, क्षेत्रवाद, संप्रदायवाद आदि की दीवारें बढ़ती जा रही है और सौमनस्य स्थापित होने के स्थान पर अजीब मारकाट मची हुई है । वैसे तो गांव का संबंध संसद और विधान सभा के चुनावों से तो है ही, किन्तु पंचायत के चुनाव से तो उसका बड़ा निकट और मूर्त्त संबंध है,

क्योंकि पंचायत में अधिकारी गांव के ही होते हैं और गांव कीरोजमर्रा कीजिन्दगी में उठने वाले तमाम सवालों और सुख दुःखों के कारकों से उन का सीधा संबंध होता है । वे बहुत कुछ बना बिगाड़ सकते है । इसलिए ग्राम पंचायत के चुनाव में सर्वाधिक जोड़ - तोड़ और टकराहट दिखाई पड़ती है और यहजोड़ तोड़ और टकराहट यहां दल गत कम होती है, व्यक्तिगत, जातिगत, टोलागत अधिक होती है ।

हिंदी के उपन्यासों में गांव के पंचायत चुनावों का बड़ा जीता जागता चित्र खींचा और दिखाया है कि पंचायत की मूल संकल्पना कितनी मूल्यवान थी, किन्तु राजनीति के विभिन्न रूपों ने उसे कितना विकृत कर दिया है । इन विविध चुनावों के विविध रूपों ने जहां गांव में हर आदमी के अपने अस्तित्व की मूल्यवत्ता को रेखांकित किया है, जहां उसे अपने अधिकारों के प्रति सचेत किया है, जहां उसे अपने छोटे बड़े परिवेश के प्रति जाग्रत किया, जहां नयी राजनीतिक स्थितियों द्वारा प्रदत्त सुविधाओं उसे संपन्न होने का अधिकार दिया है, वहीं गांव की सामूहिक एकता भाईचारापन, परस्पर सहयोग - भावना को उसने खत्म किया है और गांव में एक अलग तरह का अकेलापन एवं स्वकेंद्रीकरण का भाव गया है । पर्वों, त्योहारों, ऋतुओं, मौसमों आदि के साथ उसका जो गहरा रागात्मक संबंध था, उसे खंडित किया । उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष निकालते हुए कहा जा सकता है कि इन चुनावों से समाज में जो बदलाव आया है, उनमें कुछ को मूल्यवान कहा जा सकता है और कुछ को एक नयी नियति के रूप में देख सकते है ।

"मोतिया" उपन्यास का राम आसरे पंडित बहुत बड़ा जातिवादी एवं रक्षणशील ब्राह्मण है । मगर जब वह ग्राम पंचायत का चुनाव लड़ते है

तो न्याय, समता एवं समानता कीबात करते है -"मैंने इस गांव से ही नहीं, पूरे परगने से, जिले से और देश से छुआछूत, जाति - पांति मिटाने की शपथ उठाई है । मैं गांधी महात्मा के कहने पर चलता हूं और चलता रहूंगा । मुझे तब तक चैन नहीं मिलेगा, जब तक मैं ब्राह्मण, चमार, कोली, ठाकुर नाम ही न मिटा डालूं । मेरी कल्पना है जैसी गांधी महात्मा की थी ..... सब बराबर हो जाए ।"[1]

पंडित राम असारे कीबात सुनकर मोतिया खुश हो जाता है । मोतिया पंडित कीबेटी बिन्दी से प्रेम करता है । पंडित जी की बात सुनकर मोतिया दूसरे दिन पंडित जी के पास बिन्दी का हाथ मांगने पहुंच गया । पंडित जी थोडी देर सुनते रहे, फिर जमकर एक लात लगाई और कहा --"स्साला ! दो पैसे का आदमी चन्द्रमा पर थूकने आया है ? पंडित राम असारे बुदबुदाए "जिस जवान से बिन्दी का नाम निकला है, उसे कटवाकर कुत्तों के सामने फेंक दूंगा । समझा ! हरामजादे चमार । तेरी इतनी हिम्मत ?[2]

राम असारे के ढोंग का पर्दाफाश हुआ । असलियत को लाख छुपाने की कोशिश करने पर भी छुपता नहीं है । "मोतिया ने क्रोध से नथुने फूला लिए थे - ढोंगी स्साला ! ठीक कहती थी बिन्दी । जो बाहर बोलता है, वह पंडित राम असारे नहीं है । भिखारी है....जिसे किसी भी तरह का झूठ बोलकर लोगों के वोट चाहिए ।

---

1. मोतिया - पृ. 104

2. मोतिया - पृ. 110

चुनाव को लेकर कभी दोनों पक्ष हिंसा पर उतारू हो जाते है । "नयी बिसात" में ठाकुर शमशेर एवं दलितों के बीच टकराहट हो जाती है । इसका मुख्य कारण चुनाव को लेकर हुए वोट बंटवारे से है । दलितों का वोट न मिलने पर शमशेर चुनाव हार जाता है और तत्काल दलित बस्तियों पर हमला बोल देता है । दलित वर्ग के लोग उसका डटकर मुकाबला करते हैं, मगर ठाकुरों की ताकत के आगे टिक नहीं पाते है । "कोई आधा घण्टे तक चमार पासियों ने डटकर मुकाबला किया, लेकिन शमशेर का गिरोह अधिक तगड़ा रहा । सब चमार, पासी पिट गये । किसीका सिर फूटा तो किसी का हाथ टूट गया ।[1]

पागल भीड़ माधो के घर में घुस गयी और मकान में आग लगा दी । माधो का छप्पर धांय - धांय कर जलने लगा । उसकी आग दूसरे मकानों में फैली और देखते देखते पूरी चमरौड़ी में होली की लपटे उठने लगी ।"[2]

चुनाव की राजनीति के कारण लोकतंत्र की संकल्पना मजाक भर रह गयी है । इस राजनीतिक भ्रष्टता से उत्पन्न विषमता, विसंवादिता, बिद्रूपता के कारण जनता में मोहभंग की स्थिति उत्पन्न हो गई है । "धार" का शंकर कहता है --"कोच्छ फैदा नहिं, हमको जब येई भड़वा सरकार का मुंह जोहना है तो, अकेले हमारे सुधर जाने से का होना ? हम सच्चाई से रहे, बेईमानी से भरल रहे ।"[3]

सरकार एवं प्रशासन के प्रति लोगों का अनास्था भाव बढ़ रहा है । हमें आजाद हुए पचास साल बीत चुके है, मगर असमानता, शोषण एवं अत्याचार अपनी जगह से टस से मस नहीं हुई है । "धार" की मैना कहती है -

- -

1. मोतिया - पृ. 111

2. नयी बिसात - पृ. 143

3. धार - पृ. 202

"शरमा बाबू चाअता था कि हमको इज्जत मिले आदमी की तरह रए– इसका खातिर कहाँ कहाँ दरखास नहीं दिया, मगर कोई सुनवाई नहीं - सब मर गया है, हाकिम सरकार, भगवान सब । आज ई ठो सोचने की बात है कि हम ऐसे ई रएगा । पानी का पाइप हमरा छाती पर से गुजरता - हमको एक बूँद पानी नई, रेल लाईन बगल में है, मगर हमरा खातिर सौ कोस दूर है, वोट देने को हमको आज तक कोई बोला नहीं- हमारा कोई पता - ठिकाना नई ।"[1]

वस्तुतः चुनाव की राजनीति ने समाज को अव्यवस्था की दलदल में फँसा दिया है । दलित वर्ग के लोगों को इससे सबसे ज्यादा हानि पहुँची है ।

6·3· ऊँचे लोगों का वर्चस्व राजनीति में :

इस देश के समाजवादी लोकतांत्रिक राज्य के संविधान ने ऊँच-नीच जाति धर्म से अलग हटकर हर व्यक्ति को समान महत्त्व दिया है और इस प्रक्रिया में सदियों से सताये गये कमज़ोर वर्गों के एक नये भविष्य की निर्मीति की संभावना पैदा की । लेकिन क्या राजनीति के व्यावहारिक रूप ने क्या वास्तव में ऐसा होने दिया ? यह सच है कि कमजोर वर्ग ने बार बार- ऊपर उठने का प्रयास किया । एक सुंदर स्वस्थ जीवन यापन की चेतना उसके भीतर जगी और उसके लिए संघर्ष किया, किन्तु देखने में यही आया कि क्रमागत ऊँचे लोगों ने वेश बदलकर अपनी संपत्ति और अधिकार के बल पर हर जगह अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया । ये

1· धार - पृ· 56 - 57

सत्ताधारी नेता बनकर आम आदमी का शोषण करने लगे । सरकार के विभिन्न स्थानों पर प्रभावशाली ढंग से जमे हुए इन लोगों ने बार-बार कमजोर वर्गों का सामूहिक दमन किया, उनके गांव फूंके, उनकी बहू-बेटियों की इज्जत लूटी, उन्हें गोलियों से भूना । उन कमजोर वर्गों को भूना जो अपने अधिकार आदि के लिए संघर्ष करने की मुद्रा में आये । सरकार इन्हीं उन्हीं लोगों की है, पुलिस अफसर इनके है, इसलिए इनका वर्चस्व नये रूप में, अभी भी बना हुआ है । संसद से लेकर पंचायत तक, विश्वविद्यालय से लेकर गांव के स्कूल तक इनका प्रभुत्व कायम है। हिंदी उपन्यासों में हमें इन्हें अच्छी तरह पहचान सकते है । कुछ उपन्यासों जैसे, "सर्पगंधा", "हजार घोडों का सवार", "परिशिष्ट", "मोतिया", "नयी बिसात", "मिट्टी की सौगंध", "मोसी", "श्रममेव जयते" आदि में इस यथार्थ की पहचान की जा सकती है ।

"उल्टा चोर कोतवाल" को डांटे वाली कहावत सिद्ध होती है जब सवर्ण नेता जुल्म करने के साथ साथ दलितों पर इल्जाम भी लगाते है । "परिशिष्ट" का राजेन्द्र सिंह जो एक संसद सदस्य है, दलितों पर हो रहे अत्याचार को मनगढन्त मानते है । "राजेन्द्र सिंह बोले - "नहीं चौधरी साहब, कहीं कुछ नहीं हो रहा है - यह सब अखबार करा रहे है । क्या ये लोग हमारी बहू बेटियों को बुरी नजर से नहीं देखते ? अब तो हाथ भी डालने लगे । कोई रोकता है तो कहते है, सवर्ण दमन के रास्ते पर चलते । आपही बताइए बेरहमी और बेइज्जती की आती हुई बाद का कैसे रोकें ।"[1]

---

1. परिशिष्ट - पृ. 38

उच्च वर्ग के लोगों में उपर्युक्त मानसिकता वाले लोगों की तादात बढ़ रही है, उसका कारण है दलितों का जाग्रत होना । नवीन आधुनिक चेतना से लैश ये दलित वर्ग अपना अधिकार स्वयं छीन लेना चाहते है । "परिशिष्ट" का अनुकूल कहता है --"मुझे लगता है, राजनीति के लोगों ने छूट के छोटे छोटे टुकड़े डाल - डाल कर अपना तो स्वार्थ सिद्ध किया, पर हम लोगों का रहा सहा सत्व भी हर लिया । बेसाखियां थमा दी गयी, जिससे पांव कमजोर बने रहे । जब चाहे बेसाखियां हटा ले .और हम लोग धड़ाम से जा गिरे ।[1]

उच्च वर्ग के लोगों से जूझने के लिए हथियार नहीं साहस की जरूरत है । अनुकूल के पिता बावनराम कहता है - मुझे तुमसे एक बात कहनी है, अपना हौसला बुलन्द रखना । हम लोगों के पास न धन है और न जाति । सिर्फ हौसला है ।"[2]

शैलेष मटियानी ने इस सत्य को बहुत गहराई से पहचाना है कि जब तक अशिक्षा और गरीबी दूर नहीं होती तब तक स्वतंत्रता महज छलावा है । स्वतंत्रता के पश्चात हमारे यहां राजनीति एक व्यवसाय बनती गयी और उसमें मूल्यहीन नीतिभ्रष्ट और सत्ता लोलूप लोगों की भीड़ बढ़ती जा रही है । सर्पगंधा का कल्याण ठाकुर ऐसे ही नेता है, दलित उद्धार के नाम पर ये अपना उल्लू सीधा करते है । मगर समझदार कृष्ण मास्टर कल्याण ठाकुर जैसे नेताओं की नियत को भाप जाते है । उनका कहना है - "राजनीति में सिर्फ कुर्सी के खिलाडी बदल गए हैं । आपके कल्याण ठाकुर जैसे सवर्ण नेता, जो बहुत हरिजन कल्याण का राग अलापते हैं, इसके पीछे यह अन्दरूनी निश्चितता है कि जातिवाद का जो महाभारत ये लोग रच

---

1. परिशिष्ट - पृ. 166

2. परिशिष्ट - पृ. 106

रहे हैं, इसमें पीसना आखिर कमजोरों को ही होगा । यों भी कुर्सी के खिलाड़ियों का सच्चा वास्ता किसी से नहीं होता । नेता शुद्ध नेता है, चाहे फिर वह सवर्णों का हो या हरिजनों ।...."[1]

प्रसिद्ध समाज शास्त्री डी.एस.चौधरी के अध्ययन के अनुसार आजादी के बाद संविधान में अनुसूचित जाति एवं जन जाति के लिए बृहद आरक्षण के कारण हालांकि पिछड़ी जातियों के लोग राजनीति में काफी आए है लेकिन संतोषजनक स्थिति अभी दूर है ।"[2]

मगर सर्पगंधा का कृष्ण इस तरह की सरकारी नीति के विरूद्ध है । उनका कहना है --"यह जो राजनीति में हरिजन उद्धार की आंधी आई है, इसने इस अंधेरे की जड़ों को और ज्यादा मजबूत करता है, क्योंकि यह हरिजनों को एक दूसरे तरह के सामाजिक अलगाव में धकेलने की कोशिश है ।"[3]

संक्षेप में कहा जाय तो दलितों में आधुनिक चेतना आ चुकी है, अब उनका शोषण कम हो जाएगा ।

7. आर्थिक शोषण :

7.1. दलितों की स्थिति :

आठवें दशक के उपन्यासकारों ने जिन क्षेत्रों को अपने उपन्यास का विषय बनाया है, कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकांशों ने दलितों की

- -

1. सर्पगंधा - पृ. 40

2. Collection of Essays - D.C.Choudhry - 43

3. सर्पगंधा - पृ. 58

विषम आर्थिक स्थितियों का चित्रण किया है । उन्होंने दिखाया है कि किस तरह ऊंचे वर्गों और वर्णों के लोग गांव की सारी सुविधाओं को अपने वश में किये रहना चाहते है और इस प्रक्रिया में गांव की भूमिहीन सवर्ण और पिछड़ी जातियों का शोषण करते है और शोषित लोग किस तरह गरीबी का नारकीय जीवन बिताते है । अपमान और ताड़ना का जहर पीते है । औरकभी कभी उंचे वर्णों के भी कुछ लोग अपनी छोटी छोटी औकात में भूख प्यास और अनेकानेक असुविधाओं के जंगल में खोये दीखते है । लेकिन फिर भी वे सवर्ण होने के नाते और कुछ - न - कुछ भूमियों के स्वामी होने के नाते गरीबी, असुविधा, अपमान का यह दंश नहीं झेलते जिसे भूमिहीन अवर्णों और पिछड़ी जातियों को झेलना पडता है ।

दलितों की स्थिति की दयनीयता अकल्पनीय है । भरपेट भोजन नहीं मिलता । सर्दी के दिनों में उनके पास ओढ़ने, बिछाने को कुछ नहीं होता, वे पुआल में घुसकर सो जाते है । ये हमेशा कर्ज में डूबे होते है और इसी नाते हमेशा उनका श्रम, उनकी बहू बेटियों की इज्जत, उनका मान सम्मान सब ऋणदाताओं की मुट्ठी में होता है । उनकी गरीबी का आलम यह है कि इतनी बड़ी दुनियां में एक गज जमीन ऐसी नहीं है, जिसे वह अपनी कह सके । किसी न किसी की जमीन में बसे होते है और जिसकी ज़मीन पर बसे होते है, वह उन्हें कभी भी उजाड़ सकता है और उनका मालिक बने रहने का धौंस देता है । जयप्रकाश कर्दम ने "छप्पर" में दलितों की बीमारी के दो नाम दिए है - गरीबी और जहालत । उनकी गरीबी का कारण जहालत भी है । ये गरीब लोग अनपढ़ है और अनपढ़ होने के नाते अपनी गरीबी को भगवान की इच्छा या अपना कर्मफल

मानते हैं । इसलिए ये अपनी विविश स्थितियों के खिलाफ या अपने मानवीय अधिकारों के लिए लड़ नहीं पाते । "मोतिया" का रजुआ जब रामआसरे कीबेटी बिन्दी को एक दलित लड़के से प्यार करता हुआ देखता है, उसका हृदय कांप उठता है ? वह सोचता है -"यह अधरम है । मोतिया है छोटी जात का आदमी । अपने अपने पुण्य पाप से आदमी छोटा बड़ा होता है, पर बाम्हन की बिटिया को फुसलाकर स्साला ऐसा पाप मोल ले रहा है, जिसके एवज में कई जनम इन्सान की जोन ही नहीं मिल सकेगी, नरक में सड़ना होगा ।"[1]

7.2. गरीबी :

दलितों की सबसे बड़ी समस्या उनकी गरीबी है । गरीबी का मुख्य कारण असमान बंटन, चाहे वह जमीन हो, संपत्ति हो या अधिकारों का हो । सर्पगंधा में दलितों की स्थिति का वर्णन करते हुए कृष्ण मास्टर कहते हैं --"हरिजन कहे जाने वाले लोगों की जिन्दगी कैसी होती, दरिद्रता की मार में कसा जानवरों से भी बदतर जीवन उन्हें जीना पडता है, इसका अन्दाज आप हमारे पाहाड के हरिजनों के रहन सहन से देख सकते है ।"[2]

आर्थिक विषमता ही समस्त समस्याओं की जड़ है । समाज में जो छुआछूत एवं भेदभाव आदि है उसका कारण भी कहीं न कहीं आर्थिक विपन्नता से जुड़ी हुई है । "सर्पगंधा" में शैलेष मटियानी इस बात को बखूबी दर्शाते है -"देखिए कि आदमी कुत्ते को प्यार कर सकता है, गले से लगा सकता है, लेकिन शुद्ध कुल का छोटा सा बच्चा भी इसका

---

1. मोतिया - पृ. 46

2. सर्पगंधा - पृ. 57

हकदार नहीं है, लेकिन इस सारे वितण्ड की जड़े आदमी के ठाकुर - ब्राह्मण वगैर होने के भीतर नहीं, अमीर और गरीब, शोषक और शोषित होने के भीतर है ।"[1]

गांव में दलित पशुवत जीवन जीते हैं । रोजगार का कोई निश्चित माध्यम न होने के कारण ये हमेशा एक अनिश्चितता का जीवन जीते है । आर्थिक विपन्नता इसकी कमर तोड़ देता है । "धार" की मैना कहती है - "यह धान भी दो तीन महीने से ज्यादा नहीं खींच पाता, चोरी से कोयला काटने - बेचने का काम भी पर्याप्त नहीं, फिर दूर दूर के ठेकेदार आते है, इन्हें सस्ती मजदूरी पर काम के लिए ढोर डांगरों की तरह हांक ले जाते हैं ।"[2]

गरीबी एवं भूख ने दलितों की चेतना शक्ति को लोप कर देता है । वे अपनी भूख मिटाने के लिए बच्चों को भी बेचने में हिचकिचाते नहीं । "धार" का परेमा लिखता है --"धंधा पानी हियां पे ठीक नई । अब हमारा गांव भिखमंगा हो गया है, मगर आदमी कंजूस है, भीख भी नई देता ।.... रमिया के लिए उधर कोई लड़का मिले तो बताना । चालीस, पैंतालीस का भी हो तो कोई बात नई, लेकिन पांच सौ से कम नहीं लेंगे... हियां भीख और पुलिस का दलाली छोड़कर कोई धंधा नहीं है ।"[3]

दलितों की आर्थिक स्थिति इस कदर कमज़ोर है कि वे जीवन भर के परिश्रम से अपने सिर छिपाने के लिए ढंग की झोपड़ी भी नहीं बना पाते है । छप्पर उपन्यास के सुक्खा के पास घर के नाम पर सिर छिपाने के लिए सिर्फ घास फूस के छप्पर वाला घर या झोपड़िया है । इसके नीचे

- -

1. सर्पगंधा - पृ. 58

2. धार - पृ. 38

3. धार - पृ. 43

वह सपत्नीक रहता है । "जीवन भर के कठोर परिश्रम के बाद भी वह कुछ भी कमा नहीं पाया । सुक्खा अपने बेटे चन्दन को इस आशा के साथ पढ़ाते है कि पढ़ने के बाद उसकी अच्छी नौकरी मिलेगी और परिवार की आर्थिक कठिनाइयाँ दूर हो जाएगी । सुक्खा की पत्नी रमिया कहती है कि - "चन्दन के बापू, अब तो काफ़ी पढ़ लिखा गया है चन्दन । क्यूँ नहीं तुम उसे लिखवा भेजते कि वह कहीं कोई हिल्ला - रूजगार ढूंढ ले । दो पैसे कमाएगा तो तुम्हारी दवा दारू भी हो सकेगी और सिर से कर्ज भी उतरेगा ।"[1]

"सर्पगंधा" में नारायण अपने पिता को देखकर दुःखी हो जाता है । दरिद्रता ने इन्हें बहुत कमजोर बना दिया है । "दरवाजा खटखटाने की बात सुनकर डिगरराम बाहर निकला तो, लगा जैसे कोई नरकंकाल हो । नारायण ने तय किया कि कुछ पैसे हाथ में आते ही, बाबू के लिए एक जोड़ा कमीज पायजामा जरूर बनाएगा ।"[2]

ठेकेदार और शोषक वर्ग के लोग दलितों की आर्थिक मजबूरी का नाजायज फायदा उठाते है । दरिद्रता के कारण वे खुलकर विरोध भी प्रकट नहीं कर पाते है । वे शोषण का घूंट पीकर रह जाते है । "धार" उपन्यास के ठेकेदार ऐसे ही करते है - "ठेकेदार अब भी ढोर डांगरों की तरह उन्हें काम कराने हांक कर ले जाते है और चूस कर छोड़ जाते है, माफिया अब भी उनसे चोरी से कोयला कटवाते है और पकड़े जाने पर सज़ा भी उन्हीं को होती । बड़े जोतदार अभी भी खेती में उनसे अमानुषिक श्रम कराते हैं और ज़रा ज़रा सी बात पर पीटते है ।"[3]

---

1. छप्पर - पृ. 9
2. सर्पगंधा - पृ. 59
3. धार - पृ. 129

ग्रामीण प्रांत में रहने वाला "जागो" की दशा भी कोई ठीक नहीं है । "गगन घटा घहरानी" का जागो बंधुआ मजदूर है । उसके जीवन के तमाम अधिकार छीन लिये गये है । वह अब जमींदार के आदेश पर यंत्रवत जीवन जीता है । आराम, सुख, चैन आदि उसकी जिन्दगी से कोसों दूर है । भरपेट भोजन भी उसके भाग में नहीं है । मगर मेहनत करने में कोई कमी नहीं होती है । "जागो अब सुबह अंधेरा रहते ही उठता है और अधनिंदी आंखे मलता मलता बैलों को खोलता । हल बैल लिए मालिक के खेत में पहुंचता । पसीना बहाता और पोंछता काम में जुटा रहता है । भूखा जागो दोपहर एक बजे तक हल जोतते हुए पसीना गिराकर उसके खेतों को सींचता है । खाने के लिए मालिक एक पाठ सत्तू दे देता, लुकमा । जागो फिर हल जोतना शुरू करता, जब तक सूरज डूब न जाय । लेकिन अभी उसके आराम करने का वक्त नहीं है··· । अभी बैलों को आराम कराने का वक्त है । मालिक के बैल कोआराम की जरूरत है, लेकिन मनुष्य जागो का नहीं ।"[1]

दलितों की आर्थिक स्थिति दिन बर दिन बिगड़ती जा रही है । कल तक जो रोजी रोटी कमाने में सक्षम था, आज उसकी स्थिति और भी बदतर हो गयी है । कर्ज के बोझ से लदे होने के कारण, इनकी आर्थिक स्थिति कमजोर पड़ती जा रही है । "हजार घोड़ों का सवार" में एक दलित की स्थिति से यह जान सकते हैं --"इन बच्चों के बाप के पास कभी पांच गधे थे······ पर पिछले साल वह बीमार पड़ा । एक साउकार से करज लिया । हर रोज एक रूपये पर एक पैसा ब्याज पर ब्याज । मजूरी होती नहीं थी । आखिर गधों को बेचना पड़ा । बस अब वह

1· गगन घटा घहरानी - पृ· 4

कमठाणे जाता है, चूना ईंटे ढोता है । ····· कभी काम मिल जाता है और कभी नहीं । इस तरह कभी रोटी खाकर और कभी पाणी पीकर सो जाते है ।"[1]

"छप्पर" में सुक्खा की आर्थिक स्थिति पहले कुछ बेहतर थी, मगर धीरे धीरे गरीबी उसे ग्रासने लगी । "जेवर के नाम पर जो एकाध चीज थी रमिया के हाथ पाव में वह पहले ही बिक चुकी है । हाथ पाव नंगे रह गये है, बेचारी रमिया के भी दिन रात नंगे पाँव कील खोबड़ों में चलते फिरते तलुओं में जख्म बन गए है, एक जोड़ी जूती तक नसीब नहीं हो पाती है । एक दो गज गजा, तहमद और फटा सा मैला कुचला कुर्ता है । सुक्खा के पास और एक पेटी कोट, कमीज और ओढना रमिया के पास, उनमें भी जगह जगह थेकली लगी है । घर पहले से गिरवी रखा है लाला के पास······ । अब क्या होगा ? कहां सिर छिपाएंगे ? कैसे गुजर होगी अब ? हाय री बेबसी·····।[2]

7·3· सूदखोरों का शोषण :

जमींदारी व्यवस्था का उन्मूलन हो गया, यह सच है, मगर इसकी जड़ उखड़ी नहीं । गाव के भोले भाले अशिक्षित दलितों के शोषण के लिए एक नये सूदखोर वर्ग उभरने लगा । ये लोग दलितों की आर्थिक तंगी के समय घर जमीन या जानवर कुछ रेहन रखके, सूद पर उनको पैसे देते है । दलित बेचारे कभी कर्ज चुका नहीं पाते है इसलिए उनकी जमीन हड़प ली जाती है । वास्तव में ये सूदखोर महाजन ब्याज के हिसाब से दुगुना, तिगुना वसूलने के बाद भी दलितों को छोड़ते नहीं है ।

1· हजार घोडों का सवार - पृ· 95

2· छप्पर - पृ· 31-32

"गगन घटा घहरानी" का जागो कहता है - "ससुर के क्रिया कर्म के लिए दो मन अनाज और 60 रूपये लेने पड़े उस मालिक से" - मालिक दू मन गोदली और 60 रूपया लइन रहू । इकर बाद में जो त्रहल कि नी, सकलो ढहलो । दू मन का तीन साल में बारह मन लौटाया । तबो से कटिखे नइखे, बाकिए है और माँग करते "ग्यारह मन तुम और देओ ।"[1]

रेहन में रखी गयी जमीन कभी वापस नहीं मिलती है । इसलिए "गगन घटा घहरानी" का चैतू कहता है - "कितना कहा रेहन रखनी भी है, जमीन तो और किसी के हाथ रख आओ । राय बहादुर के हाथ चढ़ा खेत आज तक कोई लौटा नहीं पाया ।"[2]

महाजनों की चंगुल से कोई बच नहीं पाया है । जिनके पास भी थोड़ी बहुत जमीन थी, वे अब रायबहादुर के कब्जे में है । "लाते की हालत कुछ बेशिये खराब है । किसी का भी खेत अपना नहीं रहा । कोई राय बहादुर के घर तो कोई सोनहातू के बनिया के घर । वे लोग भी कम चालाक नहीं है । एक का खेत दूसरा जोतता है, बोता है । खेत के मालिक को अपने खेत में बँटाई भी नहीं करने देते, ताकि अपने खेत का मोह खतम हो जाय ।"[3]

उपर्युक्त स्थिति को देखकर भूमिहीन मजदूर खुश होते है, उनको लगता है, वे भाग्यशाली है, जो उनके पास जमीन जायदाद नहीं है, अन्यथा वे भी सेवकिया गुलाम बन गए होते थे । "गगन घटा घहरानी" का शंकर कहता है --"अजीब संकट है जागो का भी ।.... बेचारा एक दिन सुख न देखा इससे तो भले हम है । हमारे पास खेत जमीन नसही, पर किसी के सेवकिया होने से तो अच्छा है ।"[4]

---

1. गगन घटा घहरानी - पृ. 4
2. -वही- पृ. 26
3. -वही- पृ. 73
4. -वही- पृ. 71

"मिट्टी की सौगंध" में हरिया बोलता है - "साला ठाकुर का बच्चा, "हरिया गन्ने का जूस निगल खोया थूकने के बाद बोला, "मेरी पढ़ाई के लिए बापू ने पांच हजार का कर्जा लिया, साले ने लिखवाया पच्चीस हजार ।"[1]

कर्ज चुका न पाने पर पीढ़ी दर पीढ़ी तक लोग बंधुआ मजदूर बन जाते है । "नयी बिसात" का मातादीन कहता है - "मुंशी भैया हमारे बप्पा ने बीस रूपिया काढ़े थे, महेस के बाप से । उनका सूत दर सूत करके हमसे रूक्का लिखाया सौ रूपिया का.... तो एक सौ छिह्यासी हम तजिनगी न पावेंगे, ...औ इसका मतलब यह भया कि हम जिनगी भर उनके बंधुआ रहे । फिर हमारे बाल बच्चे ।"[2]

दलितों की स्थिति सिर्फ गांव में ही शोचनीय नहीं है, शहर भी इससे अछूता नहीं है । जहां दयनीय जीवन में बड़े किसान ठाकुर जमींदारों का आर्थिक शोषण, दमन दिखाई देता है, वहां शहर भी इससे कम नहीं है । "चन्दन जब पढ़ने के लिए शहर आया तो उसके मन में एक कल्पना थी शहरों को लेकर । वह सोचता था कि शहर का जीवन गांव के गंदेपन से भिन्न होगा, एकदम साफ सुथरा । न वहां गांवों की तरह आर्थिक तंगी होगा न रोटी और कपड़े की समस्या, न पुलिस और कानून का आतंक होगा, ठाकुर जमींदारों कीहिंसा और आतंक का मनमाना राज, न सेठ साहूकारों के सूद की निमम मार होगी, न ऊंच नीच और छुआ-छूत का जहर और न चोरी, डकैती या किसी अन्य तरह की असुरक्षा ही । लेकिन थोड़े से दिनों में ही उसकी कल्पना छिन्न भिन्न हो गई । शहर

---

1. मिट्टी की सौगंध - पृ. 9

2. नयी बिसात - पृ. 87

आने पर उसे पता चला कि शहरों में भी केवल थोड़े से लोग ही सुखी और संपन्न है । शेष लोग अभाव और उत्पीड़न का जीवन जीते है ।... शहर में भी बहुत से दलित और दरिद्र लोग बिना छूकी भुन्नी सब्जी खाते है या केवल पानी या चाय के साथ नमक की रोटिया गले से नीचे उतारकर जिन्दा रहते है । फाका भी रह जाता है, बहुत से घरों में । यहा भी तन ढकने को कपड़ा नहीं है, आदमी के पास । यहा भी गांव की तरह बच्चे रेत मिट्टी में खेलते नगे घूमते है ।"[1]

बहरहाल चाहे वहगांव में हो या शहर में दलितों की आर्थिक स्थिति हर जगह बड़ा ही मर्मातिक है ।

४. अंध विश्वास :

हिंदी उपन्यासकारों ने दलितों में व्याप्त अंध विश्वासों, एवं अस्वस्थ परंपराओं एवं रूढियों का यथार्थ चित्रण अपने उपन्यासों में किया है । भारतीय जन मानस में प्रारंभिक अवस्था से ही अंध विश्वासों का प्रचलन हो गया था । समाज के विकास के साथ ही अंध विश्वास में वृद्धि होती गयी ।

"धार" उपन्यास में मैना की मां को डायन समझकर गांव से निकाल बाहर किया जाता है । जब मैना जेल में मंगरू को साथ लेकर आती है, मामा जी मंगरू को समझाते है --"हां मालूम है, मैना जादू जानता है, आदमी को सुग्गा बना लेता, माने देह आदमी का रहेगा, मगर दिमाग

---

1. छप्पर - पृ.14-15

सुग्गे का - क्या समझे ? मंगरू की खीस फिर निकल आई थी और इसे बंद करना जरूरी था, इसकी मां कौन था मालूम है ? डायन था डायन । सब गांव वाला मिलके मार भगाया, मैना तब बच्चा ई था ।"[1]

"परिशिष्ट" में नीलम्मा जब रामउजागर के देहाती गांव में जाती है तो उसकी मुलाकात एक व्यक्ति से होती है, जिसे विश्वास है, शहर की पढ़ी लिखी स्त्रियां जादू जानती है और आदमी को बकरा बना सकती है, "देखो मेम साहब हम का चुपचाप चलने दो । हलकान न करो । शहर की पढ़ी लिखी औरतन से हमें डर लागत है । हम जानित है, कि शहरन में जादू की पढ़ाई पढ़ावा जात है ।"[2]

"हजार घोड़ों का सवार" में जीतकी एक ओझा का जिक्र करती है, जिसके पैसा मंतर कर देने से बीमारी अच्छी हो जाती है । हां जरूर दरवाजे के बाहर कोई ओझा जी रहते है । वे बुखार उतारने के लिए पैसा मन्तर कर देते है । उस पैसे को बाजू पर बांधने पर बुखार छू मन्तर हो जाता है । उन्हीं के पास जा रहा हूं ।"[3]

दलितों में धार्मिक अंध विश्वास की जड़े इस कदर गहरी पैठ गयी है, उसे बदलना मुश्किल है । "छप्पर" में चन्दन जब यज्ञ के खिलाफ बोलता है तो लोग नाराज हो जाते हैं -- कहते हैं - "क्या कहते हो बाबू । चन्दा मत दो, लेकिन भगवान को मत नकारो । भगवान के लिए ही सब होता है । उसकी इच्छा के बिना तो पत्ता तक नहीं हिल सकता । इन्द्र भी वही है, लक्ष्मी भी वही है, यह देव भी वही है ।"[4]

---

1. धार - पृ. 18
2. परिशिष्ट - पृ. 199
3. हजार घोड़ों का सवार - पृ. 14
4. छप्पर - पृ. 21

जाति प्रथा को अधिकांश लोग ईश्वर की सृष्टि मानते हैं। "मोतिया" में रजुआ सोचता है - "यह अधरम भी है। मोतिया है छोटी जात का आदमी। अपने अपने पुन्न से आदमी छोटा बड़ा होता है। पर ब्राह्मण की बिटिया को फुसलाकर साला ऐसा पाप, मोल ले रहा है, जिसके एवज में कई जनम इन्सान की जोन ही... नहीं मिल सकेगी। नरक में सड़ना होगा।"[1]

उपर्युक्त प्रसंगों से दलितों में फैली अंध विश्वासों को हम देख सकते हैं।

९. धर्म की पारम्परिक परिभाषाएं :

संस्कृत भाषा में ऐसे कुछ शब्द है, जिसका तथ्यातथ्य अनुवाद कर पाना संभव नहीं है। धर्म ऐसाही एक शब्द है। वैदिक भाषा के अति प्राचीन काल में इस शब्द का निश्चित अर्थ क्या था वहकहना कठिन है। "धृत्र" धातु का अर्थ है ग्रहण करना, आधार देना है। ऋग्वेद में अथर्ववेद की अनेक ऋचाएं आयी है।

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं धर्मश्च कर्मच।
भूतं भविष्यमुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले।[2]

- -

1. मोतिया - पृ. 46
2. ऋग्वेद - अथर्ववेद सूत्र - 11-9-17

"छांदोग्य उपनिषदों में [सूत्र 2·23] कहा गया है कि धर्म की तीन शाखाएं होती है, एक में यज्ञ अध्ययन और दान का समावेश होता है । दूसरी में तपस्या है तो तीसरी में अपने गुरू के घर रहने वाले आमरण गुरू के परिवार का एक व्यक्ति बनकर रहने वाले ब्रह्मचरित का समावेश होता है, इन सभी को पुण्यवानों का लोक प्राप्त होता है । जो ब्रह्म में रहता है, उसे अमरत्व प्राप्त होता है ।[1] जैमिनी ने "चोदलानक्षणोर्थो धर्म"[2] कहा है, अर्थात् आज्ञा स्वरूप के वेदवचनों से जिसका बोध होता है वह धर्म है । महर्षि कणाद ने "यतो भ्युदयनि: श्रेयससिद्धि स धर्म"[3] अर्थात जिनसे ऐहिक और पारलौकिक सुख की प्राप्ति होती है उसे धर्म कहा । महर्षि व्यास ने महाभारत में धारणाध्दर्म इत्याहु: धर्मेण विधृता: प्रजा: ।[4] कहा है ।

मनुस्मृति में धर्म के बारे में कहा गया है - "आचार परमोधर्म"[5] श्रीमद्भागवत गीता में आचरण दूसरे के धर्म की अपेक्षा दोषयुक्त होने पर भी कल्याणकारी माना गया है । परधर्म में प्रवृत्त होने की तुलना में स्वधर्म में मरना ही उत्तम है, दूसरे का धर्म तो भय को देनेवाला है, अर्थात्

"श्रेयन्स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात
स्वधर्मे निधनं श्रेय परधर्मो भयावह ।"[6]

- -

1· ऐतरेय ब्राह्मण - सूत्र - 7 - 17
2· जैमिनी पूर्व मीमांसा - जैमिनी सूत्र - 1-1-2
3· वैशेषिक सूत्र - महर्षि कणाद - सूत्र 1-1-2
4· महाभारत व्यास - अनुशासन पर्व - सूत्र - 115-13
5· श्रीमद्भावद् गीत = 3·35
6· मराठी व्युत्पत्ति कोश - कृ·पा· कुलकर्णी - पृ· 102

श्री कृपा॰ कुलकर्णी ने अपने व्युत्पत्तिकोश में धर्म संबंधी कहा है कि धर्म मनुष्य और ईश्वर इन दोनों के बीच होने वाला संबंध होता है ।

सर एववर्ड टायलर ने "धर्म याने आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास माना है ।"[1] सर जेम्स फ्रेजर कहते है -"धर्म याने मनुष्य से श्रेष्ठ उन व्यक्तियों की संतुष्टि या आराधना है, जिनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति और मानव जीवन को मार्ग दिखाती और नियंत्रित करती है ।[2]

मैलिनोवस्की ने धर्म में समाज शास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक दोनों ही पहलुओं का समावेश करते हुए लिखा है - "धर्म क्रिया का एक ढंग है, साथ ही विश्वासों की एक व्यवस्था और धर्म एक समाजशास्त्रीय घटना के साथ - साथ एक व्यक्तिगत अनुभव भी है ।"[3]

डावसन के मत से, "मनुष्य से श्रेष्ठ और रहस्यमय होनेवाली बाहय-शक्ति पर हम निर्भर है, यह भावना मनुष्य के मन में जब जब और जहां जहां निर्माण होती है, तब तब वहां क धर्म अस्तित्व में आता है । मनुष्य को इस शक्ति के अस्तित्व का भय और अपनी लघुता का एहसास होने लगता है, वही धार्मिक भावना है । पूजा अर्चा तथा प्रार्थना का मूल यही है ।"[4]

---

1. Primitive Culture - Edward Tylor - P.424
2. The Golden Buff - Sir James Frezer - P.459
3. Magic science & Religion & Other Essays - Malinovaski - P.24
4. ग्रामवासियाचे धर्माविरण - गु॰द॰नाडगोड -पृ॰ 135-136

डा० राधाकृष्णन ने धर्म के बारे में लिखते हुए कहा है - "धर्म वह अनुशासन है, जो अंतरात्मा को स्पर्श करता है और हमें बुराई और कुत्सितता से संघर्ष करने में सहायता देता है । काम, क्रोध और लोभ से हमारी रक्षा करता है, नैतिक बल को उन्मुक्त करता है, संसार को बचाने का महान कार्य के लिए साहस प्रदान करता है ।"[1]

विल्यम जेम्स ने धर्म संबंधी विवेचन करते हुए यही मत प्रकट किया है कि, हम धर्म की सही परिभाषा नहीं कर सकते है, इसलिए कि एक ओर मानवी जीवन में उसका सर्वश्रेष्ठ स्थान है तो दूसरी ओर धार्मिक जीवन की संकीर्णता है। इसलिए स्थूल रूप में यह कहा जा सकता है कि जिस किसी बात को लोग दिव्य मानते है, उसके बारे में जो अत्यधिक एकांत चिंतन चलता है, जो अनुभव करता है और तत्संबंधी जो क्रियायें होती है - उन सबको मिलाकर धर्म की संज्ञा दे सकते है ।"[2]

धर्म की ये सारी परिभाषाएं भी धर्म का स्वरूप पूरीतरह स्पष्ट नहीं कर सकती है । भारतीय संदर्भ में धर्म शोषण का दूसरा नाम है । विशेषकर समाज के शोषित पीड़ित दलित वर्ग के लिए यह एक अभिशाप सिद्ध हुआ ।

डा० अम्बेडकर ने धर्म के बारे में इस प्रकार कहा है - "The religion which regards the recognition of man's self-respect as sin is not a religion but a sickness. The religion which allows oneto touch a foul animal but not a man is not religion but a madness. The religion which teaches that the unlearned should remain unlearned, that the poor should remain poor, is not a religion but a punishment."2

- -

1. धर्म और समाज -डा० सर्वेपाल्लि राधा कृष्णन - पृ. 40

2. The varieties of Religions Experience - James William.P-31

3. Gandhi, Ambedkar and the Extispaction of Untouchability - Hirendranath Mukherji - Page.25

इस तरह धर्म में आदर्शवादी विचारों एवं विशेषताओं के होते हुए भी प्राय: उसमें संकीर्णताएं भी छिपी हुई रहती है । जैसे हिन्दू धर्म में कहा जाता है -"माता में पार्वती देवी । पिता देवो महेश्वर: बान्धबा: मानव: सर्वे । स्वदेशों भुवनत्रयम तथा वसुधैव कुटुम्बकम" आदि बातों को कहते हुए भी हम वर्णाश्रम की ऐसी अवधारणा को मानते चले आ रहे है जिससे हमारे ही समाज के किसी वर्ग की मूलभूत अधिकारों को हम उनके जन्म से छीनते आ रहे है तथा उनकी स्थिति को भी और बदतर बना रहे है । तभी मार्क्स धर्म और दार्शनिक आदर्शवाद को अभिन्न मान लेताहै और कहता है कि "अब तक दार्शनिकों ने इस संसार की व्याख्या अनेक रूपों में की है, पर असली काम इस (संसार) को बदलना है ।"[1]

अन्य धर्मों की भांति ईसाई धर्म भी गरीबों और अत्याचार पीड़ितों की अपेक्षाकृत अच्छे जीवन की आशा से लाभ उठाता है । तभी मार्क्स इस बात का आलोचना करते हुए कहता है, "धर्म पीड़ित प्राणी की सिसकी है, एक हृदयहीन संसार का हृदय है और नितान्त आत्महीन दशाओं की आत्मा है । यह गरीबों की अफीम है ।"[2] मार्क्स ईश्वर की सत्ता पर अविश्वास प्रकट करते हुए कहते है -"परमात्मा की धारणा ही विकृत सभ्यता की केन्द्र शिला है ।"[3] एंजिल्स कहता है - "धर्म का पहला शब्द ही झूठ होता है ।"[4] लेनिन ने लिखा है कि "धर्म आत्मिक अत्याचार का एक ही पहलू है ।"[5]

- -

1. धर्म और समाज - डा० राधाकृष्णन - पृ० 68

2. धर्म और समाज - पृ० 68-69

3, 4, 5. धर्म और समाज - 69

इसके विपरीत धर्म की एक सकारात्मक परिभाषा हिंदी विश्वकोश खण्ड 6 में दी गई है जो इस प्रकार है - जगत के सकल नानाप्रकार रूप व्यापारों की संज्ञा "धर्म" है । प्राणी के उद्भव से लेकर उसके विकास क्रम की सभी अवस्थाओं में धर्म की व्यापकता सिद्ध है । .... परन्तु मनुष्य में धर्म केवल भौतिक अंशों में ही सीमित न रहकर उसके जीवन का संपूर्ण क्रम बन जाता है, वही उसके कर्त्तव्यों का संचालन करता है । .... भारतीय लौकिक धारणाओं के बीच अबाध गति से बहने वाली कर्त्तव्य की धारा धर्म है ।"[1] आधुनिक युग के पथ प्रदर्शक एवं क्रांतिकारी नेता डा० अम्बेडकर ने भी जीवन के अन्तिम दिनों में बौद्ध धर्म का अवलम्बन किया । श्री लोखण्डे ने अपनी पुस्तक में अम्बेडकर के बारे में इस प्रकार बताते है -
"Dr. Ambedkar accepted as his gurus Lord Buddha, Kabir and Mahatma Phule, he has even dedicated one of his books 'Who were the Shudras ?' to Mahatma Phule. He accepted Lord Buddha's theory of indomitable faith in the capacity of man to shape his own destiny and this theory and experience was a decisive factor which exercised a lasting influence on him."[2]

परन्तु हमारे लिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि हिन्दू धर्म जिसकी ख्याति अपनी उदारता के कारण अनादिकाल से चली आ रही है, का अवलम्बन अम्बेडकर ने क्यों नहीं किया, बल्कि उसका खण्डन किया । हिन्दू धर्म का पुनः परीशीलन या वैज्ञानिक ढंग से परीक्षण करने पर यथातथ्य हमारे सामने आ उपस्थित होती है ।

- -

1. हिन्दी विश्वकोश - खण्ड - 6 - पृ० 167

2. Bhimrao Ramji Ambedkar - G.B.Lokhande Page VIII

9.1 हिन्दू धर्म एवं दलित वर्ग :

हिन्दू समाज में जाति विशेष की सदस्यता का आधार जन्मगत है । इसलिए दलित व नीच होने का आधार भी जन्मगत है । भारतीय सामाजिक संरचना में शूद्रों की विडम्बना की कहानी बहुत लम्बी है जिसका आधार पुन: हिन्दू धर्म को ही कहा जा सकता है । वैदिक समाज में वर्ण व्यवस्था थी परन्तु जातियों का उद्भव नहीं हुआ था । समाज को पुरूष रूप में मानकर वैदिक ऋषि ने ब्राह्मण क्षत्रिय का स्थान इस प्रकार व्यक्त किया है -

"ब्राह्मणोऽस्य मुखापासीद बाहु राजन्य: कृत: ।
अरू तदस्य यद्वैश्य: पदभ्या शूद्रोऽजायत ।।"[1]

अर्थात् समाज रूपी पुरूष के लिए ब्राह्मण मुख रूप से, क्षत्रिय बाहु रूप से, वैश्य अरू (जांघ) रूप से और शूद्र पाद रूप से विकसित हुए ।

"डा० अम्बेडकर का मानना है कि ब्राह्मणों व क्षत्रियों के पारस्परिक संघर्ष मे जो वर्ग अशक्त हो गया वही शूद्रों में परिणत होता चला गया ।"[2]

यहां तक कि स्मृतियों में परम पावन एवं आदि स्मृति "मनु स्मृति मानी जाती है । इसमें भी देखा जाय तो शूद्रों के प्रति अत्यंत ही बेलोच एवं अमानवीय नियमों को निर्धारित किया गया । "नामकरण के नियमों में कहा गया है कि ब्राह्मण शिशु का नाम मंगलबोधक क्षत्रिय शिशु का शौर्य - बोधक, वैश्य शिशु का ऐश्वर्य बोधक और शूद्र शिशु का घृणा बोधक नाम रखा जाय ।"[3]

---

1. ऋग्वेद -10,90-12 का हिंदी उपन्यासों में दलित वर्ग - कुसुम मेघवाल पृ. 5 से उद्धृत.
2. Who were the Shudras - Dr. Ambedkar, Page.239
3. हरिजन से दलित, संपादक राजकिशोर -पृ. 105

मनु ने पेड़ पौधों को संवेदनशील कहा, परन्तु शूद्रों के दंडविधान में कोई समझौता नहीं किया । उदाहरण के तौर पर "ब्राह्मण को उपदेश देने वाले शूद्र के लिए व्यवस्था हुई कि राजा उसके कान में गरम तेल डलवाये । यदि शूद्र द्विज को पीटे तो वह जिस अंग से द्विज को पीटे वहीं अंग राजा कटवा दे...... । द्विज को कठोर वचन कहने पर शूद्र की जिह्वा कटवा दी जाये और नाम लेकर कटु वचन कहने पर उसके मुंह में दस अंगुल लोहे की गरम सलाख डाली जाये ।"[1] मनु स्मृति में पशुओं के पालन पोषण और संरक्षण पर ध्यान दिया गया परन्तु शूद्रों एवं चांडाल जातियों को देखने व उनसे बात करना भी निषिद्ध था । न केवल विद्या ग्रहण करने के अधिकार से शूद्रों को वंचित किया गया बल्कि उन्हें धन संग्रह का अधिकार भी नहीं दिया गया । दसवें अध्याय में मनु कहते हैं, "समर्थ होने पर भी शूद्र को धन संग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि धन प्राप्त होने पर शूद्र ब्राह्मणों को पीड़ित करने लगता है ।"[2]

दलितों की यह दुर्गति केवल मनु स्मृति तक सीमित नहीं रही बल्कि आज भी उसका विकराल रूप प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट है । एक शतक पूर्व दलितों की स्थिति दास एवं पशुओं से भी बदतर थी । अनेक संत महात्मा और समाज सुधारक ने कोशिश की । परन्तु विफल रहे । भारत जब आजादी की लड़ाई लड़ रही थी तब दलितों ने भी मुक्ति मार्ग के प्रति अपना ठोस कदम बढ़ाना शुरू किया । इसके लिए प्रेरणा के उत्स, बल्कि प्रेरक एवं कार्यकारक थे डा० अम्बेडकर जिन्होंने सही मायने में दलितों को गुलामी से मुक्त करने की लड़ाई लड़ी । हिन्दू पराधीनता से मुक्ति मांग सकते हैं;

---

1. हरिजन से दलित - संपादक राजकिशोर - पृ० 105

2. -वही- पृ० 105

तब दलित अपने प्रति अत्याचार को क्यों सहे ? यद्यपि दलितों को आज देश के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में सम्मानजनक दृष्टि से देखा जा रहा है परन्तु संघ परिवार आज भी वर्णाश्रम व्यवस्था का रक्षक एवं पोषक है । उनके हिन्दुत्व की प्रमुख विशेषता वर्णाश्रम धर्म है और वर्णाश्रम व्यवस्था के विघटन अर्थात् हिन्दू धर्म का विघटन । इसलिए डा० अम्बेडकर इसे ब्राह्मणी व्यवस्था कहा करते थे। क्योंकि ब्राह्मणों ने इस व्यवस्था का निर्माण अपनी स्वार्थ सिद्धि हेतु की है । दुर्भाग्य की बात ये है कि कुछ संस्थायें आज भी इस वर्ण व्यवस्था का पोषक है । वे एक तरफ वर्ण व्यवस्था की रक्षा करना चाहते है तो दूसरी तरफ वर्ण व्यवस्था को तोड़ने वाली आरक्षण व्यवस्था का समर्थन भी करते है । यह तो वही बात हो गई कि "जब बौद्ध और जैन धर्मों ने इसे चुनौती दी तो उसने इन धर्मों की कई बातों का अपने में समावेश कर लिया, यहाँ तक कि बुद्ध को दशावतारों में एक अवतार भी मान लिया । -- शक, हूण, कुषाण और यूनानी जातियों को भी उन्होंने अपने में आत्मसात कर लिया । ईसाई धर्म और इस्लाम को वह व्यवस्था आत्मसात तो नहीं कर सकी, लेकिन इन समाजों के बहुत से रस्म रिवाजों को उसने अपना लिया जैसे इस्लाम से पर्दा प्रथा और ईसाइयत से धर्माध्यक्षों का शासन ।"[1]

आश्चर्य कीबात तो यह है कि हिन्दू धर्म ने विदेशी शासन को भी स्वीकार कर लिया, उनके गुलाम बनने में भी उन्हें कोई कष्ट नहीं हुआ परन्तु शूद्रों को अपनाने में शुरू से ही वे तैयार न थे ।बल्कि जब भी उन्हें शूद्रों से कोई खतरा महसूस हुआ, तब वे किसी विदेशी सत्ता को आमंत्रित कर उन्हें परास्त कर देते । विदेशी हमलावारों के प्रति हिन्दू धर्म ने जो उदारता दिखाई वह शूद्रों के प्रति कभी न दिखाया । कारण हिन्दू धर्म

---

1. हरिजन से दलित - पृ० 108

के सवर्ण अपनी सत्ता को समाज में कायम रखने के लिए कूटनीति की भी सहायता ली । धर्म जब राजनीति या कूटनीति से मिले तो वह वास्तव में धर्म कैसे रह सकता है, इसलिए डा0 अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म का प्रतख्यान किया एवं बौद्ध धर्म का अवलम्बन किया । अतः धर्म की परिभाषा आज के युग में अपनी प्रासंगिकता को खो चुकी है यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं ।

वर्तमान युग में धार्मिकता का बाह्य रूप ज्यादा दृष्टिगत होता है, आत्मिक स्वरूप नहीं दिखाई पड़ता । धर्म की s शक्ति क्षीण होती जा रही है । अर्थ केन्द्र में आ रहा है । धर्म का सृजनात्मक और सही पक्ष तो अदृश्य ही हो गया है, हाँ धर्म की अशक्तियाँ अभी भी विद्यमान है । बाह्याचार, अंध विश्वास, भौतिक स्वार्थपूर्ति और मनौतियाँ देवी देवताओं की पूजा उपासना आदि कर्मकांड ही धर्म के प्रतीक रह गये है ।

धर्म भी संस्कृति का एक अनिवार्य अंग है । धर्म कहीं तो अपने खालिस स्वरूप में आता है और कहीं वह संस्कृति के सौन्दर्य - बोधात्मक संदर्भ के रूप में रूपायित होता है । बहुत से पर्व, त्योहार, मेले ऐसे होते है जिनकी प्रेरणा बिन्दु कोई धार्मिक घटना या विश्वास होता है । यह विश्वास कभी कभी मानव का शोषण करने लगता है ।

आज धर्म में बाह्याचारों कीअतिशय व्याप्ति है । इन बाह्मा-चारों का मूल अज्ञान और अशिक्षा में है । अब धार्मिक मठ मंदिर, बाह्या-चार, व्यभिचार, जादू - टोना और जड़ता के अड्डे बन चुके है ।

"हजार घोड़ों का सवार" में अलगरजिया बाबा कहता है - "आज हर पंडित मौलवी - ईश्वर के नाम से सौदा कर रहे है । यह ईश्वर के नाम पर एक भयंकर शोषण है।..... तुम ईश्वर को याद करो, ईश्वर तुम्हारा भला करेगा । तुम ब्राह्मणों को खिलाओ तुम्हें पूर्वजन्म में सुखा-दिष्ट भोजन मिलेगा........ तुम गोदान करो वैतारिणी पार हो जाओगे ।..... ये सौदेबाजियां ईश्वर के नाम पर ठगोर कर सकते है ।"[1]

ब्राह्मण जो अपने आपको धर्म का ठेकेदार समझता है, वह दलितों को स्पर्श करने से हिचकिचाता है । "हजार घोडों के सवार" में वैद्य जी जब एक दलित मरीज का इलाज करते है, तब कई ऐहतिआती बरतते हैं । "भाई कम्बल तो इसलिए बिछायी की गर्म कपड़े को छूत नहीं लगती । रही मेरी बात, घर जाकर नहा लूँगा, पंच गत्य ले लूँगा..... कपड़े धो लूँगा .... जनेऊ बदल लूँगा, आज उपवास रख लूँगा । प्रायश्चित हो गया ।"[2]

"छप्पर" उपन्यास में वर्षा न होने पर लोग यज्ञ करते है । मगर उपन्यास का नायक चन्दन इन बाह्याचारों का खुलकर विरोध करता है । चन्दन कहता है - "यह मान्यता गलत है कि यज्ञ करने से भगवान इन्द्र प्रसन्न होंगे और तब वर्षा होगी । वर्षा होगी मानसून के आने से । अभी मानसून नहीं आया है, इसलिए वर्षा नहीं हो रही है, यज्ञ वज्ञ से कुछ नहीं होनेवाला है । दुनिया में ऐसा कोई देवता या भगवान नहीं है और इसलिए उसके द्वारा वर्षा कराए जाने की कोई संभावना नहीं है ।"[3]

---

1. हजार घोड़ो का सवार -पृ. 141

2. -वही- पृ. 103

3. छप्पर - पृ. 21

धर्म के संबंध में जो अंध विश्वास लोगों में फैला हुआ है उसे "छप्पर" का नायक दूर करना चाहता है । वह धार्मिक चेतना से ओत प्रोत है । "दुनिया में कोई भगवान, ईश्वर, परमात्मा नहीं है, जो सर्वशक्तिमान सर्वव्यापी है । जो सबको पैदा करने वाला, पालन करने वाला और संहार करने वाला हो । जो शाश्वत और चैतन्य है । जो जगत का नियामक है तथा अनादी और अनंत है । यह मान्यता असत्य, भ्रामक तथा वैज्ञानिकता से परे है........ । ये सब मिथक हैं, काल्पनिक है, तथा भोले भाले लोगों को बेवकूफ बनाकर अपने स्वार्थ सिद्ध करने के उद्देश्य से चालक लोगों द्वारा इजाद किए गए है ।"[1]

धर्म के पर्दे के पीछे जो शोषण चक्र का जाल बुना गया है, छप्पर का नायक उसे बखूबी पहचानता है - "तो इसका मतलब यह हुआ कि तुम्हारी जो आज दीन-हीन हालत है, तुम जो रोज़ी-रोटी के लिए दूसरों के मुहताज हो और तुमको, नीच, अछूत और हेय मानकर दूसरे लोग तुमसे जो घृणा और उपेक्षा का व्यवहार करते हैं, तुम जो शोषण अपमान और अत्याचार के शिकार हो, इस सबका कारण ईश्वर ही है ।"[2]

इन धार्मिक बाह्याचारों के कारण दलितों में धर्म के प्रति आस्था घटती जा रही है । "हजार घोडों के सवार" गीधू सोच रहा था कि यह जीवन कितनी बड़ी विडम्बना है, जिस मन्दिर के निर्माण में उसने अपनी मेहनत लगायी, एक एक ईंट को उठाकर चिना, उसके एक स्थल को उसने एक बार ही नहीं हजार बार छुआ है । उस मन्दिर में मूर्ति प्रतिष्ठापन के बाद उसका आना जाना बन्द होगा, अब वह उस मंदिर

- -

1. छप्पर - पृ. 21

2. छप्पर - पृ. 22

में नहीं जा सकता । वह सोचता रहा । मूर्ति के प्रति उसमें अरूचि की भावना जागी । उसे लगा कि इस मन्दिर को मूर्ति ही अस्पृश्य बनाती है ।"[1]

किसी एक धर्म से तंग आकर दलित कभी कभी धर्म परिवर्तन कर लेते है । आए दिन ऐसी घटनाएं बहुत सुनने को मिलती है । ब्राह्मणों के अत्याचारों से खिन्न होकर दलित धर्म परिवर्तन करने के लिए बाध्य होते है । "हजार घोडों का सवार" में गिधू कहता है -"यदि ठाकुर, बामण, बणिये हम गरीबों के साथ ऐसा खराब बर्ताव करेंगे तो हम क्या करेंगे ? मरता आदमी क्या नहीं करता ? यह तो केवल धर्म बदलने की बात है । आज मगनी ने धरम बदला है । कल सैकड़ों नीच लोग धरम बदलकर म्लेच्छ क्रिस्तान बनकर इन बडे लोगों के साथ उठने बैठने का हक हासिल कर लेंगे । कमसे कम वे सब भंगी - भंगिने तो नहीं कहलायेंगे ।"[2]

80 के बाद लिखे गये उपन्यासों ने यह साबित कर दिया है कि धर्म शोषण का अचूक हथियार है धर्म के ठेकेदारों ने सदियों इस हथियार का इस्तेमाल अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए किया है । विश्वभर में धर्म को शोषण का पर्याय माना जाता है । नैतिकता, समानता एवं मानवता आदि शब्द धर्म के तकिया कलाम हैं, लेकिन व्यवहार में यह बिल्कुल अमानवीय एवं निष्ठूर है । भोली भाली दलित जनता को अपने वश में करने के लिए, धर्म ने कई तरह के उपायों का आविष्कार किया है । स्वर्ग का लोभ, नर्क का भय, पाप - पुण्य एवं पूर्वजन्म आदि कई ढकोसले गढ़े गये हैं । इन्हीं ढकोसलों के सहारे एक निठल्ला वर्ग ऐशो आराम की जिन्दगी

---

1. हजार घोडों का सवार - पृ. 133
2. -वही- पृ. 88

जीता है । निर्धन, असहाय एवं दलित जनता की मेहनत की कमाई को सरेआम लूटते हुए इस वर्ग को संकोच नहीं होता है, बल्कि ये इसे ईश्वर द्वारा प्रदान किये गये वरदान मानते है । अपने पूर्वजन्म का शुभकर्मफल मानते है । दूसरी ओर ईश्वर के नाम पर दलितों का शोषण करते है । पूजा, पाठ, यज्ञ, हवन आदि ईश्वर के नाम पर किये जाने वाले इन कर्मकाण्डों से ये लोग अपना उल्लू सीधा करते हैं ।

80 के बाद के उपन्यासकारों ने विशेषकर हिन्दू समाज के शोषण पक्ष पर ज्यादा प्रकाश डाला है । हिन्दू धर्म एक पतनोन्मुख धर्म है । संसार में ऐसा कहीं देखने को नहीं मिलता है जहां लोग पशु - पक्षी, वृक्ष - लता एवं ईंट - पत्थरों की पूजा करते हो किन्तु अपने साथी मनुष्य के साथ जानवरों से भी बदतर व्यवहार करते हो । यह सिर्फ हिन्दू धर्म में देखने को मिलता है । हिन्दू दर्शन ने वर्ण व्यवस्था का आविष्कार ऐसे सरल, मेहनती एवं ईमानदार लोगों के शोषण के लिए किया है ।

80 के बाद लिखे गये उपन्यासों में धार्मिक शोषण का खुलकर विरोध हुआ । कई उपन्यासकारों ने दलित समाज की मुक्ति के लिए, धर्म का विकल्प प्रदान किया है । "छप्पर उपन्यास" का नायक चन्दन कहता है कि मन्दिर बनाने में जो खर्चा होता है, उसी धन से स्कूल, अस्पताल एवं सड़क आदि बनाये जा सकते है । धर्म के मामले में आज के उपन्यासकारों ने तर्क पूर्ण दृष्टि को अपनाया है । इस तरह की धार्मिक विसंगतियों को उजागर करते हुए आम दलितों की रूढ़िवादी परम्परा से मुक्ति दिलाने का प्रयास किया है ।

10. सांस्कृतिक संदर्भ :

"मानव की रक्षा और उसकी प्रगति के लिए जो वैचारिक और भावात्मक प्रयास होते रहे है, उनका सामूहिक रूप संस्कृति है । इसके अंतर्गत धर्म, दर्शन, साहित्य कलाएं सभी समाहित रहती है । इन्हीं भावात्मक और वैचारिक प्रयत्नों का प्रतिफलन बाह्य जगत में होता रहता है । इस प्रकार संस्कृति के भीतरी और बाहरी दो पक्ष हो जाते है । प्रायः देखा गया है कि भावात्मक और वैचारिक जगत में हलचले मचलती रहती है । युगीन संदर्भों के दबाव हमारे मानवीय अनुभवों, दृष्टियों और मूल्यों में तनाव पैदा कर उन्हें परिवर्तित करते रहते हैं, किन्तु वेश-भूषा, रीति-रिवाज आदि क्रमागत ढंग से चलते रहते है । परिवर्तन इनमें भीहोते हैं, किन्तु ये जातियाँ संस्कृति के प्रतीक के रूप में किसी न किसी रूप में वर्तमान रहते है । इनमें तेज़ बदलाव नहीं दिखाई पड़ते । फैशन के स्तर पर बदलाव के बावजूद व्यक्ति विभिन्न सांस्कृतिक अवसरों पर परंपरावादी ढंग से वस्त्र आदि पहनते है । आधुनिकता के विकास के बावजूद ये ज्यों के त्यों बरकरार है, हां इनके साथ व्यक्ति के लगाव में कमी अवश्य आई है ।"[1]

संस्कृति के कई विकृत रूपों ने दलितों को अपने चंगुल में ले लिया है । हिंदी उपन्यासों के संदर्भ में हम देखते है । किस प्रकार अशिक्षा की मार ने सांस्कृतिक पक्ष को कमजोर बना दिया है । आज संस्कृति शोषण का एक ज़रिया है । दलित वर्ग इन कमियों से शने शने अभिहित होने लगे है ।

---

1. आधुनिक हिंदी कविता सर्जनात्मक संदर्भ - रामदरश मिश्र -पृ. 24

जो भी सांस्कृतिक दुर्बलताएं है, आज उसका पर्दाफाश हो रहा है -

10.1 संस्कृति की अवधारणा :

भाषा की आत्मा है साहित्य और साहित्य का आधार है संस्कृति। संस्कृति यानी संस्कारों से निर्मित चेष्टाएं जो मानव जीवन के विकास क्रम में उसकी श्रेष्ठ उपलब्धि रही, संस्कृति यानी मानव की उत्कृष्टतम कृति। संस्कृति शब्द पर जब विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया तब स्पष्ट हुआ कि संस्कृति का अभिप्राय है - परिमार्जन, शोध, परिष्करण, अर्थात् वे क्रिया कलाप जो मानव का परिष्करण करके उसे उन्नत बनाकर विशुद्ध मानवत्व की कोटि में पहुंचा सके, वे ही संस्कृति की प्रक्रिया के अंग कहे जायेंगे। मानव जीवन के साथ संस्कृति बड़े विशाल रूप से जुड़ी है, चाहे जीवन का धार्मिक परिवेश हो या सामाजिक, चाहे धर्म हो या दर्शन या फिर चाहे कला हो या संगीत जीवन का प्रत्येक क्षेत्र संस्कृति के ही तो विभिन्न अंग है।

10.2 संस्कृति की परिभाषा :

नर विज्ञान में संस्कृति का अर्थ है - "समस्त सीखा हुआ व्यापार अर्थात् वे समस्त बातें जो हम समाज के सदस्य होने केनाते सीखते हैं। इस अर्थ में संस्कृति शब्द परम्परा का पर्याय है।"[1] परन्तु क्या संस्कृति को परिभाषित किया जा सकता है? इस सम्बन्ध में दिनकर जी की मान्यता है कि संस्कृति को हम लक्षणों से जान सकते हैं किन्तु उसे परिभाषित नहीं

---

1. भारतीय संस्कृति -डा० देवराज - पृ० 20

कर सकते है -"असल में संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते है .... इसलिए संस्कृति वह चीज़ मानी गयी है जो हमारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभव का हाथ है ।"[1] के•एम• मुंशी ने संस्कृति की सर्वांगपूर्ण अवधारणा प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि " संस्कृति किसी जाति की ऐसी जीवन पद्धति है, जो अपनी प्राण शक्ति को नित्य सजीव रखते हुए अखण्ड व सांगोपांग जीवन धारा के रूप में सभ्यता के बाह्य परिवर्तनशील रूपों के बीच अक्षुण्ण रहती हुई दुःखमयी जातीय परिस्थितियों के बीच प्रज्जवलित रहती है । सामाजिक संस्थाओं का रूप निर्माण करती हुई जनता के बौद्धिक और सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण को आश्रय व दिशा प्रदान करती हुई जीवन मूल्यों को अविचलित रखती हुई प्रवहमान रहती है । वह हमारे जातीय जीवन के एक ऐसे केन्द्रीय भाव से शासित रहकर ज्वलन्त रहती है जो स्वयं अपना साध्य हो । किसी भी अन्य साधना का साध्य न हो ।"[2]

हंस कुमार तिवारी लिखते है, "विचार और धर्म के क्षेत्र में राष्ट्र का जो सृजन होता है, वही उसकी संस्कृति है, वह व्यक्ति के आचरण, कार्य चिन्तन, ज्ञान धर्म आदि से संबंधित होती है, यह उसके विभिन्न व्यवहारों में व्यंजित होती है - आध्यात्मिक विकास के फलस्वरूप ज्ञान विज्ञान दर्शन, कला की जो शाखा पल्लवित हुई वह मनुष्य की संस्कृति की दिशा है । विचार और धर्म के क्षेत्र में राष्ट्र का सृजन है, वही उसकी संस्कृति है ।"[3]

1• संस्कृति के चार अध्याय - दिनकर - पृ• 651-653

2• Our greatest need - K.M.Munshi - Page 58-59

3• आलोचना, पत्रिका 1953 - पृ• 38

प्रो॰ वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं कि, "संस्कृति मनुष्य के भूत वर्तमान का महत्वपूर्ण प्रकार रही है, हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है, संस्कृति हवा में नहीं रहती है, उसका मूर्तिमान रूप होता है, जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय संस्कृति है ।"[1] पंडित नेहरू ने संस्कृति को आन्तरिक और बाह्य दोनों रूपों से जोड़ने का प्रयास किया है, उनके अनुसार, "संस्कृति का अर्थ मनुष्य का भीतरी विकास और उसकी नैतिक उन्नति, एक दूसरे के साथ सद्व्यवहार और समझने की शक्ति है ।"[2] यह तभी संभव हो सकता है जब हमारा मन परिपक्व एवं परिष्कृत हो, प्रसन्न कुमार आचार्य कल्चर और संस्कृति को स्पष्ट करते हुए लिखते है -"कल्टीवेशन का अर्थ कृषि है । भूमि की प्राकृतिक अवस्था को परिष्कृत करना ही कृषि का उद्देश्य है॰॰॰भूमि की भांति मनुष्य की मानसिक, सामाजिक, अवस्थाएं भी विकसित हुआ करती है । संस्कृति अथवा कल्चर मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों नैसर्गिक शक्तियों तथा उनके परिष्कार की द्योतक है ।"[3]

अतः संस्कृति को सामाजिक संदर्भ के साथ जोड़ते हुए कहा जा सकता है कि संस्कृति का सम्बन्ध सामाजिक जीवन से अधिक है, जब आदमियों का एक दल या समाज एक ही रीति से कुछ करता है, एक ही विश्वास रखता है, एक ही प्रकार के आदर्श सामने रखता है, अपने पुरखों के कार्यों को समान रूप से आदर, गर्व और गौरव की चीज समझता है, तब संस्कृति का जन्म होता है । संस्कृति आदमी के सामाजिक जीवन का प्राण है ।

10·3· संस्कृति की वर्गगत व्याख्या :

समाज एक समुदाय या समूह है, किन्तु समाज के विकास के साथ

1· कला और संस्कृति - वासुदेव शरण अग्रवाल - पृ॰ 1

2· मानव संस्कृति - भगवानदास केला - पृ॰ 3

3· भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता -डा० प्रसन्न कुमार आचार्य -पृ॰ 256

साथ विभिन्न वर्ग भी विकसित होते और उभरते हैं, जिन वर्गों के रीति रिवाज और रहन - सहन में पारस्परिक भिन्नता के दर्शन होते हैं, इसी वर्गगत विभिन्नता को दृष्टि में रखकर कुछ विद्वानों ने संस्कृति की व्याख्या करने का प्रयास किया है । विद्वान विचारक टी॰एस॰इलियट ने संस्कृति के विवेचन में जिन महत्वपूर्ण तत्वों की ओर संकेत किया है, उनमें तीन प्रमुख है, "व्यक्ति की संस्कृति या समूह का वर्ग की संस्कृति पर वर्ग की संस्कृति उस सम्पूर्ण समाज की संस्कृति पर जिसका वह वर्ग अंग है, आधारित होती है ।"[1]

दूसरे विचारक कार्ल मार्क्स ने मनुष्य के अनुभव जगत को दो भागों में विभक्त किया है - §1§ भौतिक वस्तु सम्बन्ध §2§ चेतना संबंध । बौद्धिक चेतना भी भौतिक परक संबंधों पर आधारित होती संस्कृति का संबंध सामाजिक चेतना से है, जो सामाजिक सत्ता पर अवलम्बित होती है । सामाजिक सत्ता का अर्थ भौतिक सामाजिक संबंध है । मार्क्स का अनुमान है कि जब तक कोई वर्ग या समूह प्रगति के पथ पर गतिशील रहता है । उसकी प्रगति की शिथिलता के साथ संस्कृति भी शिथिल पड़ जाती है ।"[2]

10॰4॰ दलित संस्कृति और हिन्दी उपन्यास :

संस्कृति को यदि जीवन शैली मानी जाय तो यह निश्चित है कि हर वर्ग की अपनी संस्कृति होती है । भारतीय परम्परा में जहां एक ओर ब्राह्मण वादी संस्कृति है तो दूसरी ओर श्रमण संस्कृति है । दलित वर्ग

1॰ नोट्स टूवर्ड्स द डेफिनिशन आफ कल्चर - टी॰एस॰इलियट-पृ॰21

2॰ क्रिटिक आफ पोलिटिकल इकनामी, प्रस्तावना - कार्ल मार्क्स पृ॰ 22-24

अधिकांश इस श्रमण संस्कृति के पक्षधर है । श्रमण संस्कृति तर्क पर आधारित है, यह अधिक प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक है । राजकिशोर लिखते है - आर्थिक पिछड़ापन एवं निर्धनता किसी भी संस्कृति को शिथिल बना देती है । आज दलितों में व्याप्त अशिक्षा एवं निर्धनता के कारण उनकी संस्कृति का विकृत रूप देखने को मिलता है ।"¹

80 के दशक में लिखे गये हिंदी उपन्यासकारों ने दलित संस्कृति के इस रूप का बड़ा ही सजीव एवं यथार्थ वर्णन किया है । निर्धनता एवं शोषण के कारण फटेहाल ज़िन्दगी आज उनके जीवन की शैली बन गयी है । शैली के अंतर्गत खान - पान, वेश - भूषा एवं आचार व्यवहार भी आते है । खान - पान, वेशभूषा के मामले में आज दलित जितने दरिद्र हैं, आचार व्यवहार के मामले में आज उतने ही धनी हैं । मानवीय गुण अगर कहीं जीवित है तो वह सिर्फ़ दलितों में देखने को मिलता है ।

दलित जिस घर में रहते है वह बहुत ही सरल होता है । आज भी वे लोग झुग्गी झोंपड़ियों में जीवन बिताते है । लेकिन उनको इस बात का कोई गम नहीं है । उन्हें अपने घर पर गर्व है । "हजार घोड़ों का सवार" में गीधू जिस घर में रहता था, वह बहुत ही साफ सुथरा और करीने से सजाया हुआ था । "उस बस्ती में गीधू रहता था । गीधू का कच्चा घर कच्ची ईंटों का बना हुआ था । उस पर गोबर मुड को आपस में मिलाकर लेप लगा दिया गया था । लेप को फिर राती मिट्टी से पोत दिया गया था । ... घर के नाम पर दो सालकियां । ये सालकियां छोटे - छोटे कमरों जैसी थी जिनका फर्श भी कच्चा था । उनके दरवाजों पर किवाड़ नहीं थे । एक साल में गृहस्थी का सामान था । उसमें दो आले

- -

1. आज के प्रश्न - पृ. 27

भी थे । एक आला घी वाला और दूसरा तेलवाला कहलाता था ।"[1] निर्धन होते हुए भी वे अपने घर को सजा के रखते थे । यह उनकी संस्कृति का अंग है । उनके पास बड़े बड़े महल नहीं है, इसलिए वे दुःखी नहीं है, वे अपनी झोपडी को लेकर गर्व करते है और उसमें सुखी जीवन बिताते है । वस्तुतः यह उनकी सांस्कृतिक समृद्धि के लक्षण है ।

दूसरी ओर आदिवासियों की अपनी शैली है । उनकी संस्कृति दलित संस्कृति का ही अंग है । यद्यपि वे लोग समाज से दूर वन में अपनी समाज बनाते है, जंगल में उपलब्ध सामग्रियों से वे लोग अपना घर बनाते है । "धार" उपन्यास में इसका वर्णन इस प्रकार हुआ है - "छोटे - छोटे घर छाजन की हो या खपड़े की, सभी घरों में एक बात आम थी - दीवारों के ऊपरी भाग सफेद चिकनी मिट्टी से और नीचे स्याह - सलेटी मिट्टी से लिपे हुए ठीक सौताल औरतों की किनारीदारी साड़ियों की तरह । ज्यादातर घर के सामने, कोने में पत्थर की छिछली नाद, जिसमें, माड डालते ही सुअरों और छोनों का दल घों - घों करते हुए आ जुटता ।"[2]

सुअर पोसते हुए भी उनके घर सुन्दर होते है । जो ब्राह्मण वर्ग अपने आपको साफ सुथरा होने का दावा करते है, उनके घर से भी इन लोगों का घर सुन्दर और साफ होता है । "धार" की मैना कहती है - "मगर जी अपने यहां कुछ ब्राह्मणों के घर भी ऐसे है कि अन्दर चले जाये,

---

1. आज के प्रश्न - पृ. 27
2. हजार घोडों का सवार - पृ. 11

गन्दगी से आपका सर फटने लगे, लेकिन आपको एक भी आदिवासी का घर गन्दा नहीं मिलेगा । चाहे वे सुअर ही क्यों न पाले ।"[1] सवर्ण लोग अपने आपको आर्य मानते है एवं दलितों को अनार्य कहते है । मैना को अनार्य होने का गर्व है । वह गौरव के साथ कहती है -"आदिवासी संस्कृति इस मायने में आर्य संस्कृति से बेहतर थी, भले ही वे सांवले हो आर्य गोरे हो ।"[2]

गांव में रहने वाले अधिकतर दलित निर्धन होते हैं, इसलिए उनका घर भी छाव झोपड़ी का बना होता है । हालांकि सवर्ण लोग पक्के मकान में रहते है । सवर्ण और दलितों की तुलना करते हुए "छप्पर" के लेखक लिखते हैं - "संपन्न सवर्ण लोगों के घर काफी बडे, पक्के और प्लास्टर युक्त हैं । रहने सहने के लिए दुमंजिले - तिमंजलिये और उठ बैठ के लिए लम्बे चौड़े अहाते में बैठक या चौपाल और ढोर डांगरों के लिए जगह अलग ।"[3] लेकिन इसके विपरीत दलित कच्चे मकान में रहते हैं उनका घर इस प्रकार है -"जो दलित और दरिद्र हैं उनके पास रहने सहने तथा एकाध पशु जो वह पालते है, उनके सबके लिए कुल जमा गारा मिट्टी की दीवारों पर घास फूस के छप्पर या झोपड़ियां हैं, इकछत्री - दुछत्री । अधिक हुआ तो किसी के कच्चे-कच्चे कोठे पर बांस की खपच्ची या खपरैल की छत होती है या पशुओं के लिए छान - झोपड़ी अलग । यही तक सीमित है उनकी साधन सम्पन्नता ।"[4]

- -

1. धार -संजीव - पृ. 39
2. धार - पृ. 39
3. छप्पर - पृ. 9
4. परिशिष्ट - ।।

दलितों की वेशभूषा भी बहुत ही सरल होती है । गरीब होने के कारण कभी कभी फटे चिथडे भी पहनते है । लेकिन उसे वे लोग बड़े यत्न से रखते है । परिशिष्ट का अनुकूल कहता है --"बाबू के कपड़ों पर न कभी दाग देखा और न सलवट, एक जोड़ा चाहे चार दिन क्यों न पहने हो बाबू, पर बाबू ने जस का तस रखा और उतार दिया ।"[1]

गाव में रहने वाले दलित अधिकतर तहमद एवं कुर्त्ता पहनते है । उनके कुर्ते से उनकी दरिद्रता झलकती है । "छप्पर" का सुक्खा देखने में गरीब नजर आता है । "एक जोड़ी जूती तक नसीब नहीं हो पाती, एक दो गजा तहमद और फटा सा मैला कुचला कुर्त्ता है, सुक्खा के पास और एक पेटीकोट और ओढ़ना रमिया के पास, उनमें भी जगह जगह थेकली लगी है ।"[2] "उसकी पडोसन जीनकी आ गयी । उसने अत्यन्त ही फटा पुराना लहंगा व कांचली पहन रखी थी । उसका ओढना जगह जगह फटा हुआ था और उसमें कई जगह "कारिया" लगी हुई थी ।"[3]

आदिवासियों के पोशाक जरा भिन्न होते है । ये वन संस्कृति के सूचक है -"लुढ़क लुढ़क, दामड - चैतू दौड़ रहे हैं कि चल रहे हैं कहना मुश्किल है - लुढ़क - लुढ़क ढलकी चाल । एक के सिर पर गमछा बंधा है । दूसरा अपने गमछे के एक छोर पर अनाज बांधे अपनी पीठ पर लटका कर एक हाथ से पकडे चला जा रहा है । कमर के ऊपर बिल्कुल नंगे और कमर में भी घुटने से बित्ता भर ही ऊपर ढका है ।"[4]

---

1. परिशिष्ट - पृ. 22
2. छप्पर - पृ. 31
3. हजार घोड़ो का सवार - पृ. 12
4. गगन घटा घहरानी - पृ. 27

उत्तर भारत के दलितों में अधिकांश लोग रोटी खाते है । बाजरे की रोटी उनका मुख्य भोजन है । घर की औरतें मिट्टी के चूल्हे पर उपलों की आंच से रोटियां सेंकती है । "छप्पर" में इस दृश्य का सजीव वर्णन हुआ है । "अभी अभी रोटी लेकर बैठा ही था सुक्खा खाने के लिए कि मनादी की आवाज कानों से आ टकराई । ...... मिट्टी के चूल्हे पर उपलों की आंच में रोटी सेंकती रमिया का ध्यान मनादी की ओर नहीं था । किन्हीं और विचारों में खोई हुई थी वह ।"[1] ग्रामीण दलितों में यही उनका मुख्य भोजन है । गरीबी के कारण यह भी कभी कभी नहीं मिलता है।

आदिवासियों में अधिकतर लोग भात या दलिया खाते हैं । सिर्फ नमक के साथ भात दलिया उनको खाना पडता है । भात उबाल लेने से उनका काम चल जाता है । "ढिबरी जलाने की बजाय हीरामनी ने अपनी एकमात्र कोठरी के कोने में गडे चूल्हे को ही जलाना ठीक समझा । उससे प्रकाश भी हो जायेगा और भात भी सिझा लेगी । दोनों जून का खाना एक ही साथ बना लेती है हीरामनी ।"[2] अपनी व्यस्तता भरे जीवन में आदिवासियों को भोजन करने को भी समय नहीं मिलता है । कर्म संस्कृति का वे आदर करते है । फिर भी उनमें गरीबी हमेशा छायी रहती है । गरीबी एवं भूख से लड़ना उनकी संस्कृति का अंग बन गया है । "भूख का अहसास फिर जागो की चेतना की सतह पर आ गया।ढकनी से नमक निकालकर अंधेरे में ही चपर चपर वह अधपकी दलिया खाने लगा । पूरी हांडी साफ कर वह उठा। अंदाज से ही पानी के मटके को उठाकर पी गया । .... फिर ताक पर बीड़ी उठाई और

---

1. छप्पर - पृ. 29

2. गगन घटा घहरानी - पृ. 3

फूंक - फूंक कर चूल्हे की राख में दबी चिनगारी से बीड़ी सुलगाकर लम्बे लम्बे कश खींचने लगा ।"[1] आदिवासी दलितों में पर्व त्योहार का अपना महत्व है । "करमा" पर्व उनका सबसे लोकप्रिय त्योहार है । त्योहारों के दिनों में ये लोग खूब नाचते गाते हैं । हड़िया पीकर अलमस्त हो झूमने लगते हैं । दुनियादारी का इन्हें कोई फिकर नहीं होता है । इसलिए लेखक कहते है -"कमर में हाथ डालकर नाचती हुई संगिनिया जब चुटकी काटती है तो पीड़ा नहीं होती, सुख लगता है ..... बूढ़े बुजुर्ग नशे में टलमल आंखों से ताकतेहै, पर उनमें वर्जना नहीं होती, बढ़ावा होता है । आदिवासी दलितों का मन निर्दोष एवं निच्छल होता है । करमा पर्व के दिन लोग खूब नाचते है । ढकनी छ्तमी में खेत की मिट्टी लाकर नाना प्रकार के बीज डालकर करमा सजाया गया है, जिसके चारों ओर झूम - झूम कर गाते हुए नृत्य कर रही है गांव की लड़कियां, लड़के, बूढ़े, बुढ़िया सबके सब एक साथ, उनके बीच कोई फर्क कर आये ऊंच नीच का, वयस का, उत्साह - उमंग का तो जाने । परब त्योहार में सबके मन में वैसे ही निर्दोश अंकुर फूटते है ।"[2] आज भी इन दलितों ने अपनी संस्कृति को जीवित रखा है । गरीबी, भूखमरी एवं शोषण ने इन्हें कमजोर अवश्य कर दिया है, इनके मनोबल को तोड़ नहीं पाया है ।

दलित बड़े स्वाभिमानी होते हैं । गरीबी एवं उत्पीड़न ने उनके शरीर को तोड़ दिया है, किन्तु मन एवं हृदय अभी भी अक्षुण्य है । दया, मानवता एवं भाईचारा आज भी उनमें विद्यमान है । चन्दन शहर आकर हरिया के घर में रहता है । हरिया चाहता तो चन्दन

- -

1. गगन घटा घहरानी - पृ. 7
2. -वही- पृ. 54

से किराया ले सकता था, परन्तु उसके अन्दर की मानवता ने उसे ऐसा करने से रोका । यह उसके सांस्कृतिक रूप से धनी होने के लक्षण है । "यूं वन्दन हरिया के घर में रहता है, पर हरिया ने कभी किराएदार या बाहर का आदमी नहीं माना उसे और न ही चन्दन को कभी ऐसा आभास है । हो भी कैसे जब हरिया चन्दन को पुत्रवत स्नेह करता हो और चन्दन भी उसके साथ पितृतुल्य व्यवहार करता है ।"[1]

दलित बड़े स्वाभिमानी होते है । स्वाभिमान उनकी संस्कृति का अंग है । लाख कठिनाई होने पर भी वे अपने आत्म सम्मान को खोने नहीं देते है । "चन्दन कीगरीबी पर रजनी को तरस आता था, और कई बार वह चन्दन की मददकरना चाहती थी । कभी - कभी वह चन्दन को अपनी जीप में लिफ्ट दे देती थी । यहां तक तो ठीक था, लेकिन जब कभी रजनी चन्दन को आर्थिक मदद करना चाहती तो वह विनम्रता से इन्कारकर देता था ।"[2]

आधुनिक शासन व्यवस्था की विकृतियों से दलित परहेज करते है । उनके लिए व्यक्ति से बड़ा समाज है । "मानव एक सामाजिक प्राणी है । इस परिभाषा को सार्थक करने वाले आज दलित हैं । चन्दन कहता है --"समाज व्यक्ति से बड़ा होता है और ज्यादा महत्वपूर्ण है ।"[3]

समाज में फैले विकृतियों एवं दुष्प्रवृत्तियों को दूर करने के लिए दण्ड की जगह सुधार को अधिक महत्व देता है । चन्दन कहता है कि सज़ा कोई समाधान नहीं रजनी । सजा देने कीबजाय व्यक्ति के सुधार

- -

1. छप्पर - पृ. 18

2. -वही- पृ. 69

3. -वही- पृ. 104

का प्रयास किया जाना चाहिए । शोषक वर्गों से लड़ने के लिए चन्दन अहिंसा मार्ग को अपनाता, वह कहता है -"हिंसा का जवाब हिंसा नहीं रजनी, हिंसा का जवाब अहिंसा से दिया जाना चाहिए.... हम विरोध नहीं सामंजस्य चाहते है ।[2]

अत: हमने देखा 80 के बाद लिखे गये उपन्यासों में दलित जीवन के सांस्कृतिक पक्ष का सजीव वर्णन हुआ है । विशेषकर दलित रचनाकारों ने इसकी बुनियाद को पकड़ा है । जो अपने आप में एक नयी पहल है ।

11· अन्य प्रमुख समस्यायें :

11·1 अंतर्जातीय विवाह :

भारतीय समाज में जातिवाद की जड़ बहुत गहरी है । सदियों से इसे मिटाने की कोशिश होती रही है । परन्तु आज तक इस बीमारी को मिटाये नहीं जा सकी है । जाति प्रथा दीमक की तरह समाज को अन्दर से चाटती जा रही है । पनिक्कर के अनुसार --"आज भी लोग जाति व्यवस्था के दोषों और हानियों को जानते हुए भी उसे बनाए रखना चाहते है ।"[2] दरअसल श्रम विभाजन पर आधारित हिन्दू समाज के इन चार वर्णों ने अपने लिए कुछ पृथक - पृथक रीति रिवाज को अपना लिया था, जिसके फलस्वरूप ये स्वयं इन ईकाइयों से जुड़ते चले गये, जो कालान्तर में जाति कहलायी । "कुछ जातियों के लिए अपने द्वार

---

1. छप्पर - पृ. 102
2. हिन्दू सोसाइटी एट क्रासरोड - के.एम.पनिक्कर - पृ. 10

बन्द करना असंभव था और कुछ इसे अपने विरूद्ध बन्द किया हुआ मानती थी । इस पद्धति का केन्सर, अनुकरणवाद के संक्रमण के कारण हिन्दू समाज के पूरे शरीर में फैला गया । ब्राह्मण वर्ग ने विवाह के अपने द्वार बन्द कर दिए । इसलिए यह वर्ग स्वत: अन्तर्विवाही हो गया । शेष वर्गों ने ब्राह्मण वर्ग का अन्धानुकरण किया, अत: वे भी अन्तर्विवाही बन गए ।"[1] पनिक्कर के अनुसार, "अन्तर्जातीय खान - पान और विवाह तथा सामाजिक व्यापार पर कठोर प्रतिबंध लगा कर समाज में जटिल स्तर भेद को विकसित किया गया ।"[2] यह जटिलता इस सीमा तक जटिल हो चुकी है कि दलित जातियों में भी परस्पर स्तर भेद देखी जा सकती है । यहाँ तक कि एक ही जाति की दो उप-जातियों में भोजन व्यवहार तो चलता है पर विवाह संबंध नहीं होते ।

राजा राममोहन राय भारत के ऐसे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने देश में सुधारवादी आन्दोलन का सूत्रपात किया । (ब्रह्मसमाज की स्थापना की) जिसके अंतर्गत उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया एवं हिन्दू समाज की सामाजिक कुरीतियों पर कठोर प्रहार करते हुए उसमें नवचेतना का शंख फूंका ।

डा० बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर को इस समस्या का निदान ढूंढने के लिए जाति प्रथा को मिटाने का अथक प्रयास करना पड़ा । यद्यपि वे कार्ल मार्क्स के सिद्धांतों से प्रभावित थे परन्तु इस देश की परिस्थितियों को मद्देनजर रखते हुए वे मार्क्स से पूरी तरह सहमत भी नहीं लगते । जी•एस•लोखण्डे ने भीमराव अम्बेडकर पर एक किताब लिखी जिसकी भूमिका में वे कहते है -

---

1• भीमराव राम जी अम्बेडकर - डा० जी•एस•लोखण्डे - पृ• 93

2• हिन्दूज सोसाइटी एट क्रासरोड - के•एम•पनिक्कर - पृ• 11

"Dr.Ambedkar did not agree with the theory enunciated by Karl Marx and differed from his in that the sufferings in this country are not only due to economic exploitation but also due to social exploitation and degradation. According to him Karl Marx's ideology based on economic exploitation alone cannot free the individual from the tyranny of the society in India."2

दूसरे शब्दों में वे आर्थिक समानता के साथ साथ सामाजिक एकता भी चाहते थे जिसके बिना राजनीतिक स्थिरता या स्वतंत्रता व्यर्थ होगी सामाजिक अभिन्नता के लिए वे कई उपाय बताते है, जिनमें अन्तर्जातीय विवाह एक है।

"These social measures included : abolition of caste system, encouraging intercaste marriages and interdining, creating social awareness among the people about the irrationality of the caste system and the practice of untouchablity, organising the people to fight against the evils, and abolition of the Scheduled Caste Ghettor under the New Settlement Movement Act, 1942 and assimilating the 'untouchables' with upper caste Hindus."

इस प्रकार अम्बेडकर जी का मानना था कि जातिगत भेदभाव को मिटाने के लिए अंतर्जातीय विवाह को बढ़ावा देना चाहिए। इससे जातिगत वैमनस्य धीरे धीरे कम हो सकता है।

---

1. BheemRao Ramji Ambedkar - G.S.Lokhande - Page.X

2. Dr. B.R.Ambedkar - The Man and His Message - Edited by Sudarshan Agarwal - Page 146.

हिंदी के उपन्यासकारों ने डा० अम्बेडकर के इस दर्शन के आधार पर, अपनी रचनाओं में अंतर्जातीय विवाह को बड़े ही सफल ढंग से चित्रित किया है । यहहाल   की प्रवृत्ति है । यद्यपि पहले प्रेमचन्द ने सवर्ण एवं असवर्ण के बीच रोटी बेटी का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया था, परन्तु आज की स्थिति में उससे कुछ अलग उपाय ढूंढना चाहिए ।

80 के दशक में लिखे गये उपन्यासों में अन्तर्जातीय विवाह का बड़ा सजीव वर्णन हुआ है । उपन्यासकारों ने अन्तर्जातीय विवाह को सामाजिक समरसता को एक सशक्त माध्यम के रूप में दर्शाया है । गिरिराज किशोर रचित उपन्यास "परिशिष्ट" रामकुमार भ्रमर रचित "मोतिया" शैलेष मटियानी रचित "सर्पगंधा" एवं जयप्रकाश कर्दम का "छप्पर" इस दृष्टि से बहुत ही चर्चित कृतियां है । सामाजिक जातिगत भेदभाव को मिटाने के लिए इन उपन्यासकारों ने कहीं दलित युवक सवर्ण युवती तो कहीं दलित युवती एवं सवर्ण युवक का विवाह दिखाया गया है । यद्यपि आरम्भिक दशा में मुठभेड़ होती है फिर सामाजिक समरसता स्थापित होती है । "परिशिष्ट" का एक पात्र राम उजागर, निलम्मा नामक एक   गैर दलित युवती से प्रेम करता है । इन दोनों की कहानी तथाकथित उच्च वर्ण के युवकों से सहन नहीं होता था । अत: वे तरह तरह के अड़चने पैदा करने लगते है । रामउजागर उत्तेजित हो उठता है । लेकिन निलम्मा ने उसे धैर्य से काम लेने की सलाह देती है । वह कहती है - अपमान मनुष्य को छोटा नहीं बड़ा बनाता है । अपमान के प्रति असहिष्णुता छोटा बनाती है । साधनों की दृष्टि से, कर्म की दृष्टि से चाहे छोटे समझे जाते है, पर सहनशील की दृष्टि से हम सबसे आगे ।"[1]

---

1. परिशिष्ट - गिरिराज किशोर - पृ० 168

निलम्मा दलितों के बीच मिलके रहती है । रामउजागर की स्थिति को सुधारने की कोशिश करती है । अनुकूल नामक और एक दलित पात्र उनकी सहायता करता है । "मिट्टी की सौगंध" में विजेन्द्र नामक एक सवर्ण युवक, शीला नामक दलित युवती से प्रेम विवाह करता है । परिवार वाले इसका खुलकर विरोध करते है । शीला का तरह तरह से अपमान किया जाता है । विजेन्द्र इन जटिलताओं से परिचित न होने के कारण बहुत ही भावुक होकर कहता है --"मैं अपने बाबू जी को यह समझाना चाहता हूँ कि बेटी, बेटी ही होती है, चाहे वह जमींदार की हो या किसी दलित की । उन्होंने औरत को कूड़ा समझ रखा है । आज उन्हीं की सोच पर कूड़ा गिरा है । मैं पुरानी बात याद करना नहीं चाहता । मैं एक सप्ताह बाद ही तुम्हें दूसरे शहर ले चलूँगा और हम वहीं नया आशियाना बसाएंगे, ताकि इस गाँव के कुत्ते यह न भूल सके कि तुम दलित हो ।"[1] दोनों विवाह कर लेते है । शुरू शुरू का विरोध धीरे धीरे मिटने लगता है । शीला एवं विजेन्द्र प्रणय की सूत्र में बंध जाते है । इसलिए चाहते है कि आनेवाली संतान का नाम "एकता" हो, क्योंकि इन दोनों के अन्तर्जातीय विवाह ने समाज में एकता स्थापित किया है । विजेन्द्र कहता है - "हम लोग अलग वर्ग के थे, फिर एक हुए तो एकता ही हुई है । मैं अपने रिश्तों का प्रतीक ही उसका नाम रखना चाहती हूँ, ताकि वह सदा हमारे मनों में रहे ।[2] दोनों एक सुखमय जीवन बिताते है ।

---

1. मिट्टी की सौगंध - पृ. 86

2. -वही- पृ. 98

"छप्पर" का नायक चन्दन दलित है, वह रजनी नामक एक गैर दलित युवती से प्रेम करता है । रजनी पढ़ी लिखी लड़की थी । उसके पिता गांव के जमींदार थे । जाति के नाम पर हो रहे शोषण को देखकर रजनी से रहा नहीं जाता है । वह दलितोद्धार के लिए निकल पड़ती है । उसकी मुलाकात चन्दन से होती है, दोनों के विचार एक होने के कारण, उनमें आपस में प्रेम हो जाता है, फिर दोनों अन्तर्जातीय विवाह करने का फैसला करते है । ठाकुर साहब यह सब देखकर घबरा जाते है, तब चन्दन उन्हें समझाता है - हम व्यवस्था के विरोधी है व्यक्ति के नहीं । हमारी लड़ाई व्यवस्था के खिलाफ है, किसी व्यक्ति से कोई द्वेष नहीं हमें हम न्याय और समता के पक्षधर है और समानता प्राप्त करने के लिए हमें व्यवस्था को बदलना होगा, क्योंकि हमारी व्यवस्था अन्याय और असमानता को जन्म देने वाली है ।"[1] समाज में समता लाने के लिए चन्दन अतीत के सारे अत्याचारों को भुलाने की कोशिश करता है । वह कहता है --"गलती तो इंसान का स्वभाविक धर्म है । दुनिया में ऐसा कोई आदमी नहीं मिलेगा जिससे कभी कोई गलती न हुई हो । अतीत के उन सब बातों को भूल चुके है हम, आपके प्रति कोई मैल नहीं है हमारे मन में आप भी सब कुछ भूल जाइए ठाकुर साहब । और समानता का व्यवहार करते हुए प्यार मुहब्बत और भाईचारे के साथ रहिए सबके साथ ।"[2]

चन्दन और रजनी के विवाह ने गांव में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया । ठाकुर साहब ने अपनी सारी जमीन दलितों में बांट दी ।

- -

1. छप्पर - पृ. 104

2. छप्पर - पृ. 105-106

अपने गुजारे लायक जमीन रखकर बाकी लोगों में बाँट देते है । "छप्पर" में इसका बड़ी ही सुन्दर वर्णन हुआ है । "अगले ही दिन गाँव की पंचायत बुलायी ठाकुर साहब ने और केवल अपने गुजारे लायक थोडी सी जमीन अपने पास रखकर अपनी सारी जमीन गाँव के गरीब और खेतिहर मजदूरों में बाँट दी उन्होंने और दूसरे लोगों की तरह अपने हाथों से खेतों में काम करना शुरू कर दिया ।"[1] इसमें जरा नाटकीयता परिलक्षित होती है तथापि हम कह सकते है - अंतजार्तीय विवाह के द्वारा यह संभव हो सका ।

"सर्पगंधा" में कृष्णा मास्टर एक ब्राह्मणी विधवा से प्रेम विवाह करते है । गाँव एवं समाज इसका विरोध करते है । दलित कृष्णा मास्टर को समाज बहिष्कार करते है । शुरू शुरू में उन्हें दोनों पक्षों का विरोध झेलना पड़ता है, परन्तु यह स्थिति अधिक दिन नहीं रहती है, गाँव के लोग कृष्णा मास्टर के उच्च विचारों से प्रभावित होकर धीरे धीरे उनके पास आने लगते है । नारायण नामक एक पात्र कृष्णा मास्टर के विचारों से प्रभावित होकर अन्तर्जातीय विवाह करता है । समाज में फैले जाति-गत वैमनस्य इससे धीरे धीरे मिटने लगता है ।

रामकुमार "भ्रमर" लिखित उपन्यास "मोतिया" में अन्तर्जातीय विवाह का बड़ा सुन्दर वर्णन हुआ है । उपन्यास का नायक मोती जाति का चमार है । वह अपने गाँव के एक ब्राह्मण लड़की बिन्दी से प्रेम करता है । बिन्दी के पिता जी सुधारवादी होने का ढोंग करते है, किन्तु वास्तविक जीवन में वे दलितों के कट्टर विरोधी हैं, जब उनको सब कुछ

- -

1. छप्पर - पृ. 106

पता चलता है, वे आग बबूला हो उठते है। मोतिया को अपमानित करके घर से निकाल देते है। मोतिया प्रतिशोध लेने के लिए डाकू बन जाता है। अंत में दोनों का विवाह हो जाता है। दोनों की सामाजिक स्थिति का वर्णन करते हुए उपन्यासकार लिखते हैं -"यों बिन्दी को इसी गांव में बचपन से देखा है मोतिया ने...... बिन्दी के पास पहुंचता, किन्तु बिन्दी साथ खेला कभी नहीं। मोतिया था जाति से हरिजन और बिन्दी बाम्हन की बेटी। कैसे खेल सकते थे साथ - साथ ?"[1] मोतिया को लगता है यदि वे एक दूसरे से विवाह कर लें तो इस भेदभाव को मिटाया जा सकता है। दलितों को लगता है अगर मोतिया का विवाह बिन्दी से हो जाय तो ब्राह्मणों का गर्व टूट जाएगा। बड़े विजय भाव से एक दलित कहता है --"बड़ी नाक लगाते हैं बाम्हन छत्तरी। मोतिया उनका दामाद बनकर वह चोट देगा कि धरती में लोटते नजर आएंगे। साले आदमी को आदमी नहीं गिनते है।"[2] मोतिया एवं बिन्दी के विवाह से ब्राह्मणों का अहंकार टूटता है। धीरे धीरे वे अपनी प्रथा को बदलते हैं, गांव में सद्भावना का माहोल उत्पन्न होता है।

अत: हमने देखा 80 के दशक में लिखे गये कई उपन्यासों में अंतर्जातीय विवाहका उल्लेख हुआ है। प्रेमचन्द से शुरू कीगयी यह प्रवृत्ति आज चरम उत्कर्ष को प्राप्त कर चुकी है। वस्तुत: अंतर्जातीय विवाह से समाज में व्याप्त जातिगत भेदभाव को मिटाया जा सकता है। हालांकि यह इतना सरल कार्य नहीं है। मूलत: इसलिए आवश्यक है कि अधिक

---

1. मोतिया - पृ. 10
2. -वही- पृ. 46

से अधिक शिक्षित यवक इस क्रांतिकारी पक्ष में आगे बढ़े । यह पथ बिल्कुल जोखिम भरा है, कई अड़चने सामने आएगी, परन्तु ये सब अस्थायी है । वक्त सब कुछ बदल देता है । "सर्पगंधा" उपन्यास के कृष्णा मास्टर ऐसे पात्र है । अंतर्जातीय विवाह करने के कारण उन्हें सवर्णों के साथ साथ अपने बिरादरी वालों के विरोध का सामना करना पड़ता है । कालांतर में कृष्णामास्टर सम्पूर्ण समाज को बदल देते है । इतिहास में देखने को मिलता है, अंतर्जातीय विवाह के कारण कई संकर जातियां उत्पन्न हो गयी थी । आज के परिवेश में अंतर्जातीय विवाह समाज को बदलने में सहायक सिद्ध हो सकता है । हिंदी के संवेदनशील उपन्यासकारों ने अंतर्जातीय विवाह के सकारात्मक पक्ष का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है ।

11.2. बंधुआ मजदूर :

बंधुआ मजदूर प्रथा भारत की ज्वलंत समस्याओं में से एक है । इस अर्द्ध औपनिवेशिक एवं अर्द्ध सामंती देश के खेतिहर गरीबों के नंगे शोषण और बर्बर दमन की झलक और अभिव्यक्ति इस प्रथा में दिखाई देती है । 1975 में राष्ट्रपति के एक अध्यादेश के जरिए बंधुआ मजदूर प्रथा पर प्रतिबंध लगा दिया गया, लेकिन यह आज भी बिना किसी रोक-टोक के और भी तेजी से जारी है । कुछ राज्य इस बात से इन्कार करते है कि उनके यहां बंधुआ मजदूर प्रथा अब भी है । 1976 में पारित अधिनियम में यह उल्लेख किया गया था -"जनता के दुर्बल वर्गों के आर्थिक और शारीरिक शोषण का निवारण करने के उद्देश्य से बंधित श्रमपद्धति

के उत्पादन का और उससे संबंधित या उसके आनुषंगिक विषयों का उपबंध करने के लिए अधिनियम पारित हुआ । भारत गणराज्य के छब्बीसवे वर्ष में संसद द्वारा निम्नलिखित रूप में यह अधिनियमित हो -

1. इस अधिनियम का संक्षिप्त नाम बंधित श्रम पद्धति (उत्पादन) नियम 1976 है ।

2. इसका विस्तार सम्पूर्ण भारत पर है ।

3. यह 1975 के अक्टूबर के पच्चीसवें दिन को प्रवृत्त हुआ समझा जायेगा ।

भारत सरकार के 30 अक्टूबर, 1980 के बयाम में ऐलान किया गया था कि अब तक 1,20,500 बंधुआ मजदूरों को आज़ाद किया जा चुका है । लेकिन उनको महज आजाद कर देने से ही केन्द्र सरकार की जिम्मेदारी समाप्त नहीं हो जाती है । अपने पुरखों की तरह इन अभागों को भी अपने गांव छोड़ने पडेंगे, क्योंकि जमीन के मालिक किसी आजाद बंधुआ मजदूर को काम नहीं देंगे । इन्हें ठेका मजदूरों के रूप में नए सिरे से बंधुआ बनने के लिए दूसरे राज्यों में ही जाना होगा । महाश्वेता देवी लिखती है --"वास्तविकता से कटे विशुद्ध शोध के स्तर पर ही बंधुआ मजदूर प्रथा का अस्तित्व अब कहीं नहीं है । हमारी धारणा है कि समस्या का समाधान उन्हीं लोगों के हाथ में है जो इस प्रथा के शिकार है और इसलिए हम मानते हैं कि इस विषय को समग्रता में देखा जाय ।"[1]

यह प्रथा बहुत प्राचीन है । भारतीय जाति व्यवस्था इसकी जड़ है । जाति के आधार पर निम्न वर्ग कहे जाने वाले लोगों का शोषण

---

1. भारत में बंधुआ मजदूर - महाश्वेती देवी -निर्मल घोष-प्रस्तावना-पृ.1

होता था । जो आज के दलित है, उनका शोषण सदियों से हो रहा है । बंधुआ मजदूर की प्रथा उनमें प्रबल है ।

अंग्रेजों ने आकर इस प्रथा को और अधिक व्यवस्थित बनाया । उनके द्वारा लागू की गयी भूमि बन्दोबस्त प्रथा ने भारत में बंधुआ मजदूर प्रणाली को आधार प्रदान किया । अंग्रेजों ने पहली बार घोषणा की कि जमींदार गुमाश्ता और गांव के मुखिया के रूप में पुकारे जाने वाले वर्ग ही जमीनका असली मालिक है । मुगल शासकों की शब्दावली में जमींदार का अर्थ एजेंट था । अब यह अर्थ हमेशा के लिए दफना दिया गया । जमींदारों ने अब किसानों से अपनी ताकत पर कर वसूलना शुरू किया । साथ ही उन्होंने तीन अन्य हथियारों का इस्तेमाल किया - जमीन की बिक्री, जमीन का वितरण और गिरवी के रूप में जमीन रखना । इन तरीकों से दमन करने वाले नयेवर्ग का जन्म हुआ, गाटीदार, पहनीदार और ताल्लुकेदार ।

उन्होंने अंग्रेजों द्वारा शुरू की गयी, प्रणाली को किसानों के सूखे हलक के नीचे ठेल दिया । फलस्वरूप किसानों को जमीन पर से अपना पुश्तैनी हक सदा के लिए छोड़ना पड़ा ।

देय करों के भुगतान न किये जाने पर किसानों की जमीनें बेच देने की एक प्रणाली लागू की गयी । अब भ्रष्टाचार और अर्थलिप्सा का बोलबाला था और गरीब किसान अपना खून पसीना बहाकर जो कुछ पैदा करते थे उसकी आधी से भी कम मात्रा उनके पास बचा रहती थी । फिर भी किसानों की जिन्दगी चलती रही । बस अब वे अपनी पीठ पर एक पिरामिडी ढांचा ढो रहे थे, जिसने उनका खून चूस लिया था । जमीन की अब उन्हें मात्र जानकारी थी, जिसके साथ उनका आत्मिक

सम्बन्ध बना हुआ था, पर अब जमीन पर उनका कोई हक नहीं था। एक बार फिर उनको मजदूर बनने के लिए बाध्य होना पड़ा। उन्होंने सब कुछ खो दिया - "यहां तक कि हल बैल और बीज भी। जमीन खोकर अब वे भूमिहीन खेतिहर मजदूर बन गये थे और ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती गयी। निर्मल घोष लिखते हैं - "1882 ई. की जनगणना में इनकी संख्या 70,20,000 थी। 1921 में यह संख्या बढ़कर 2,10,00,000 हो गयी। 1931 ई. में इनकी संख्या 3,30,00,000 तक पहुंच गयी। इन आंकड़ों की व्याख्या से अर्थ लगाया जा सकता है। उन दिनों किसानों की एक तिहाई हिस्से खेतिहर मजदूर था। 1941 ई. में वे कुल आबादी का 50 प्रतिशत थे।"[1]

"खेतिहर मजदूरों को किस दर से पैसे दिये जाते थे? 1842 ई. में एक मजदूर को प्रतिदिन एक आना मिलता था। एक एक रूपये में 40 मन चावल मिलता था। ई. 1922 में चावल एक रूपये में 5 सेर की दर से बेचा जाता था, जबकि एक मजदूर की दैनिक मजदूरी 4 से 6 आना था। 1842 ई. से 1922 ई. के 80 वर्षों के दौरान मजदूरी में 4 से 6 गुनी वृद्धि हुई, जबकि चावल के मूल्य में 8 गुनी बढ़ोत्तरी हुई। फलस्वरूपवास्तविक मजदूरी में 25 से 50 प्रतिशत की गिरावट आयी। 1842 ई. में कोई मजदूर एक आना में दस सेर चावल खरीद सकता था, जब कि 1922 में वह 5 से 6 आना में डेढ़ सेर चावल खरीद पाता।"

अपनी पुस्तक "भारत की भूमि समस्या में प्रोफेसर राधाकुमुद मुखर्जी ने लिखा है कि स्थायी खेतिहर मजदूर भारतीय अर्थ व्यवस्था में सबसे

- -

1. भारत में बंधुआ मजदूर - निर्मल घोष - पृ. 22

निचले स्तर पर आते थे । नकद के रूप में पारिश्रमिक पाने की घटनाएं इक्का - दुक्का ही थी । इन खेतिहर मजदूरों के बीच गुलामी के कई रूप देखने को मिलते है । कुछ तो विशुद्ध गुलाम थे और कुछ गुलाम जैसे थे - फर्क बहुत मामूली था । जमींदारों, मालगुजारों तथा इस तरह के अन्य वर्गों ने कर्ज के घातक जाल के ज़रिए अपने गुलामों को पंगु बनाने का सिलसिला चला रखा था । भारत के कई हिस्सों में यह प्रथा आज भी ज़ारी है । यह निकृष्ट प्रथा बाप के बाद बेटे के द्वारा चलायी जाती थी । महाराष्ट्र की दुबिया और कोलिया जातियां गुलामों से बेहतर नहीं है । इनमें से अधिकांश पीढ़ी दर- पीढ़ी अपने मालिक की गुलामी करते रहे है । मद्रास के दक्षिण पश्चिम में एझावा, चेरूमा, पुली और होलिया पाये जाते है, जो वास्तव में गुलाम है ।"1

मध्य प्रदेश, तमिलनाडु और राजस्थान में एक अजीब और दिलचस्प बात देखने में आती है । वहां के महाजन ब्याज नहीं लेते है । ऐसा सोचा जा सकता है कि वे बड़े मानवीय हैं, लेकिन बात ऐसी नहीं है । दरअसल मजदूर एक ऐसी अवस्था में पहुंच गये है, जहां ब्याज वसूलना एक अनावश्यक श्रम होगा । शुरू में उन्होंने जो कर्ज ले लिया है और उस पर जो सूद इकट्ठा होता जा रहा है उसके कारण वे हमेशा के लिए वहां बंध गये है ।

यदि यह कहा जाये कि ग्रामीण कर्जदारी ने बंधुआ मजदूरों को जन्म दिया तो गलत नहीं होगा । सरकारी आंकड़ों के अनुसार खेतिहर मजदूरों का 4·2 प्रतिशत बंधुआ मजदूर है । गैर सरकारी आंकड़े इसे

1· भारत की भूमि समस्या - प्रोफेसर राधा मुकुंद मुखर्जी - पृ· 61

5 प्रतिशत अथवा इससे अधिक बताते है । आठ विभिन्न राज्यों का अलग-अलग ब्योरा यहां प्रस्तुत है ।

राज्य	बंधुआ मजदूरों की संख्या	कुल खेतिहर मजदूरों का प्रतिशत
आंध्र प्रदेश	3,25,000	4·96
बिहार	1,11,000	1·70
गुजरात	1,71,000	9·40
कर्नाटक	1,93,000	7·60
मध्य प्रदेश	5,00,000	11·80
राजस्थान	67,000	9·40
तमिलनाडु	2,50,000	6·00
उत्तर प्रदेश	5,50,000	10·60

आंकड़ों से पता चलता है कि आठ राज्यों में बंधुआ मजदूरों की संख्या 21·7 लाख है, जो 3 करोड 70 लाख खेतिहर मजदूरों का 6·1 प्रतिशत है ।

दरअसल बंधुआ मजदूरों में सबसे ज्यादा संख्या दलितों और आदि-वासियों की है जो लगभग 84 प्रतिशत है । मालिकों में केवल 8·4 प्रतिशत दलित और आदिवासी हैं तथा 84·2 प्रतिशत सवर्ण हिन्दू है । जाति और वर्ग हमेशा से ही दमन के हथियार रहे हैं । यदि वे इस प्रथा के

1· भारत में बंधुआ मजदूर - महाश्वेता देवी - पृ· 54

विरूद्ध आवाज उठाते है, तो उन्हें जिन्दा जलाने के लिए सवर्ण मालिक नहीं हिचकते हैं ।

राष्ट्रीय एकीकरण परिषद ने जमीन जबरन जोतने, मजदूरी, बंधुआ मजदूर तथा कर्जदारीके सवाल पर 1974-77 में हुए संघर्षों के आंकड़े प्रस्तुत किये हैं । जो अपने आपमें हत्या, बलात्कार और अत्याचार की दुखद गाथा है ।

राज्य	वर्ष	घटनाओं की संख्या
उत्तर प्रदेश	1974	805
	1975	329
	1976	591
मध्य प्रदेश	1974	59
	1975	76
	1976	323
आंध्र प्रदेश	1974	44
	1975	15
	1976	48
गुजरात	1974	2
	1975	7
	1976	14
बिहार	1974	6
	1975	22
	1976	20

1. भारत में बंधुआ मजदूर - पृ. 59

अखिल भारत के स्तर पर बंधुआ मजदूरों की संख्या सबसे अधिक दलित हैं । अलग अलग वर्गों के आधार पर बंधुआ मजदूरों की स्थिति को इस प्रकार देख सकते है ।

आदिवासी	18·3 प्रतिशत
दलित	66·0 प्रतिशत
निचली जाति	8·9 प्रतिशत
मुसलमान	2·7 प्रतिशत
ईसाई	0·4 प्रतिशत
सवर्ण हिन्दू	2·7 प्रतिशत

जाति और वर्ग भेद के कारण आदिवासी और दलित ही सबसे ज्यादा उत्पीड़ित है । मालिकों की इस बात में दिलचस्पी रहती है कि उन्हें रूपये उधार देकर फंसा लिया जाय । चूंकि उन्हें निम्नतम श्रेणी में रखा गया है इसलिए उन पर ऊंची जाति के लोगों का मनोवैज्ञानिक रूप से दबदबा पहले से ही बना रहता है, जो इसका भरपूर फायदा उठाते हैं । उनकी स्थिति इतनी असुरक्षित रहती है कि उन्हें और उनके वंशजों को कोई भी थोड़े से पैसे देकर गुलाम बना सकता है ।[1]

11·3· हिंदी उपन्यासों में चित्रित बंधुआ मजदूर :

बंधुआ मजदूर कीप्रथा आज भी बरकरार है । सरकारी कानून ने इसका कुछ बिगाड़ नहीं पाया । विशेषकर भारतीय समाज में दलित वर्ग इसका सबसे अधिक शिकार हो रहे हैं । गरीबी के कारण उनके पास कोई

1· भारत में बंधुआ मजदूर - महाश्वेता देवी - पृ· 73
राधाकृष्ण प्रकाशन - दिल्ली - 1981

दूसरा विकल्प भी नहीं है । भारतीय समाज व्यवस्था ऐसी है, जहां दलितों की ओर ध्यान देने वाला कोई नहीं मिलता है । ये अपनी आवाज भी नहीं उठा सकते है । यदि इस अन्याय के विरूद्ध आवाज उठाने की कोशिश करेंगे, तो हो सकता है, हमेशा के लिए उनकी आवाज बन्द कर दी जाय, अथवा भूखे मर जायें । बंधुआ मजदूर बनने के सिवा उनके पास कोई चारा नहीं है ।

80 के दशक में लिखे गये उपन्यासों मे बंधुआ मजदूर की समस्या का सजीव वर्णन हुआ है । दलितों में व्याप्त गरीबी इसकी जड़ है । "धार" उपन्यास में ऐसे ही कुछ दलित श्रमिकों की ममांतिक पीड़ा का वर्णन हुआ है । मंगर कहता है -"यह धान दो तीन महीने से ज्यादा नहीं खींच पाता, चोरी से कोयला काटने, बेचने का काम भी पर्याप्त नहीं है, फिर दूर - दूर के ठेकेदार आते हैं, इन्हें सस्ती मजदूरी पर काम के लिए ढोर - डांगरे की तरह हांक ले जाते हैं, फिर इन्हें बंधुआ बनाकर जीवन काटना पड़ता है ।"[1]

आज हर क्षेत्र में यह दावा किया जा रहा है कि बंधुआ मजदूरी की प्रथा समाप्त की जा चुकी है । वास्तव में यह सब सरकारी प्रचारतंत्र का ढोंग है, जो अपनी अयोग्यता को छुपाने के लिए इस तरह के लोक - लुभावने प्रचार करते हैं । आज भी मजदूरी की स्थिति में कोई सुधार नहीं आया है । बड़े बड़े ठेकेदार आज भी उनसे जानवरों की तरह काम लेते है । लेकिन मजदूरी जो देते हैं वह नहीं के बराबर होता है । मंगर आगे कहता है - "ठेकेदार अब भी ढोर डांगरों की तरह उन्हें काम कराने

- -

1. धार - संजीव - पृ. 38

हांक कर ले जाते हैं और चूसकर छोड़ देते हैं.... बड़े - बड़े जोतदार अभी भी खेती में उनसे अमानुषिक श्रम कराते है और जरा-जरा सी बात पर पीटते हैं, क्या कर रही है पार्टियां ? क्या कर रही सरकार ?"[1] दलितों की निर्धनता एवं असहायता का लाभ उठाकर ये ठेकेदार उनका शोषण करते है । महाश्वेता देवी कहती है -"बंधुआ मजदूरों में दलितों की संख्या सबसे अधिक है । इसका कारण उनकी निर्धनता एवं ईमानदारी है, ये जातियां बड़े ईश्वर भीरू होते है, इसलिए जिससे कर्ज लेते हैं, उसको चुकाना अपना कर्त्तव्य समझते है । बंधुआ प्रथा बड़ी घृणित प्रथा है । यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती है । अगर बाप ने ऋण लिया है तो उसके बेटे को भी बंधुआ मजदूर बनना होगा । आदिवासियों में भी यह प्रथा प्रबल है । "गगन घटा घहरानी" में जागो एक ऐसा दलित पात्र है, जो पैदा हुआ था बंधुआ बनके । जमींदार का कर्ज चुकाने के लिए उसकी पीढ़ी-दर-पीढ़ी मजदूरी करती आ रही है । "जागो सेवकिया पैदा हुआ था, सेवकिया बनके ही मरेगा.... जागो अब सुबह अंधेरा रहते ही उठता है और अधनिंदी आंखे मलता बैलों को खीलता है । हल बैल लिए मालिक के खेत में पहुंचता, पसीना बहाता और पोंछता काम में जुटा रहता है, भूखा जागो दोपहर एक बजे तक हल जोतते हुए पसीना गिराकर उसके खेतों को सींचता है । अभी - अभी बैलों को आराम की जरूरत है..... लेकिन मनुष्य जागो को नहीं ।"[2]

भारतीय कृषि पूर्णत: मौसम पर निर्भर करता है । सिंचाई की उपयुक्त व्यवस्था न होने के कारण कभी - कभी छोटे-मोटे किसानों को

- -

1. धार - संजीव - पृ. 129

2. गगन घटा घहरानी - पृ. 4

बाढ़ एवं सूखा का सामना करना पड़ता है । अकाल की स्थिति में उनके पास जीने का एकमात्र साधन उनकी थोड़ी सी जमीन होती है । विवश होकर गांव के जमींदार के पास अपनी बची - खुची जमीन को गिरवी रखता है । लेकिन वह कभी भी उस जमीन को वापस नहीं ला सकता है । निरूपाय होकर उसे खेतिहर मजदूर बनना पड़ता है । धीरे धीरे यही खेतिहर मजदूर बंधुआ बन जाता है । जागो कहता है - "लाते की हालत कुछ बेशिये खराब है। किसी का भी खेत अपना नहीं रहा । कोई रायबहादुर के घर तो कोई सोनाहात बनिया के घर ।अब सब बंधुआ बन गये हैं ।"[1]

गांव में रोजगार न मिलने के कारण दिहाड़ी पर काम करने के लिए ग्रामीण मजदूर शहर के ठेकेदारों के पास चले जाते हैं । वहां उनका और अधिक शोषण होता है । एक बार ठेकेदार के पास पहुंचने के बाद वे उनके गुलाम बन जाते हैं । लाख कोशिश करने पर भी आजाद नहीं हो पाते है । अकाल की स्थिति में गांव के दलित रोजगार की तलाश में दल - बल के साथ गांव छोड़ के चले जाते है । जागो कहता है -"भागना पड़ेगा नहीं । भागना पड़ रहा है । लेरता देखो इतना बड़ा गांव है, लेकिन समूचे गांव में तुंको आदमी खोजने से नहीं मिलेगा । सब चले गये ईंट भट्ठा में । ईटा पाथने बंधुआ बनकर और वहां से भी क्या लाते हैं ? रूपया पैसा ? वहां सब बीमार-सीमार पड़के कुंखते-कांखते आते है । छोटे छोटे बच्चे ईंटा ढोते-ढोते मर जाते हैं ।[1]

ठेकेदार मजदूरों से भरसक काम लेते हैं, मगर मजदूरी अपने हिसाब से देते हैं । बढ़ती महंगाई के कारण मजदूरों को भरपेट भोजन भी नहीं

- -

1. गगन घटा घहरानी - पृ. 73

मिल पाता है । परिवार का देखभाल तो दूर की बात है । "छप्पर" का नायक चन्दन कहता है --"दिन रात कमरतोड़ मेहनत करके भी आदमी को दो जून की रोटी मयस्सर नहीं होती ···· बीस बीस रूपये का काम कराके मालिक छः - सात रूपये देता है"[1]····· बंधुआ मजदूर जो है ।

ग्रामीण इलाके में कुछ शोषक, लोग आज भी मौजूद है, जिनके खेत में काम करने वाला हर मजदूर बंधुआ होता है । चन्दन कहता है - "ठाकुर हरनाम सिंह के खेत में काम करने वाला हर मजदूर बंधुआ होता है ।[2]

ग्रामीण दलित कभी कभी आवश्यकता पड़ने पर गाव के सूदखोरों से ऋण लेते है । मगर एक बार जो कर्ज ले लेता है, वह उसी क्षण से बंधुआ बन जाता है । क्योंकि ब्याज की दर इतनी अधिक होती है, जिसका भुगतान कर पाना कर्जदारों की पहुंच से बाहर होता है । नयी बिसात का नायक कहता है - "मुंशी भैया हमारे बप्पा ने बीस रूपिया काढे थे महेस के बाप से । उनका सूत-दर-सूत करके हमसे रूका लिखाया सौ रूपिया का···· तो एक सौ छियासी हम ताजिनगी न पावेंगे, मुंशी भैया····· और इसका मतलब यह भया कि हम जिनगी भर उनके बंधुआ रहे, फिर हमारे बाल बच्चे ।"[3]

आर्थिक तंगी के कारण अच्छे खासे लोग भी बंधुआ बन जाते है । आकस्मिक दुर्घटना के कारण अगर परिवार की हालत बिगड़ जाती है तो, लोग बंधुआ बन जाते है । हिंदी के संवेदनशील उपन्यासकारों ने

- -

1· छप्पर - जयप्रकाश कर्दम - पृ· 15

2· -वही- पृ· 18

3· नयी बिसात - रामकुमार भ्रमर - पृ· 87

इसका बड़ा सजीव चित्रण किया है । "हजार घोडों का सवार" का एक पात्र कहता है..... "इन बच्चों के बाप के पास कभी पांच गधे थे ... पर पिछले साल वह बीमार पड़ा । एक साहूकार से कर्ज लिया । हर रोज एक रूपये पर एक एक पैसा ब्याज, ब्याज पर ब्याज । मजूरी होती नहीं थी । आखिर गधों का बेचना पड़ा । बस अब वह कर्मठाणे जाता है, चूना - ईटें ढोता है.... बंधुआ बनके जीवन गुजारना पड़ रहा है ।"।

सरकार आज बार बार यह दावा पेश कर रही है कि उसने बंधुआ मजदूर प्रथा को समाप्त कर दिया है । लेकिन सरकारी कार्यालयों में डेली-वेज पर काम करने वाले कर्मचारियों की स्थिति किसी बंधुआ मजदूर से ठीक नहीं है । एक ही परिसर में काम करते हुए भी कुछ लोग सारी सुविधायें भोगते हुए कुछ लोग इससे वंचित रहते है । जो वेतन मिलता है, परिवार का पोषण के लिए वह पर्याप्त नहीं होता है । गरीबी जहालत एवं बीमारी में जीने के लिए वह विवश होता है । "यथा प्रस्तावित" का बालेसर एक ऐसा पात्र है । जो बंधुआ मजदूर न होते हुए भी, उसकी स्थिति बंधुआ मजदूर से भी बदतर है । वह कहता है -"मैं दो साल से दैनिक वेतन पर काम कर रहा हूँ, मेरे पास न ज़मीन है, न जानवर । कुल मिलाकर यही कह सकता हूँ कि पेट पालने के लिए कोई सहारा नहीं....पता नहीं कब डोर टूट जाय और हम सब खाली पेट मुंह खोले हवा में लटक जाये... सच पूछिये तो कभी कभी रोटी की शक्ल देखना भी हम लोगों के लिए भगवान के दर्शन के समान होता है । कभी कभी बीमारी में लम्बी नागा हो जाती है तो पहला संकट रोटी पर ही आता.... पैसा नहीं मिलता तो रोटी नहीं मिलती .... डेलीवेज वर्कर होने की वजह से मेडिकल रिइम्बर्समेंट

- -

1. हजार घोड़ो का सवार - पृ. 95

भी नहीं होता । बूढ़े बाप और बीमार मां को जिन्दा रखने के लिए रोटी से ज्यादा दवा चाहिए । उन्हें पूरी दवा नहीं मिल पाती और हमें पेटरभर रोटी नहीं मिल पाती ।"[1]

80 के दशक में लिखे गये उपन्यासों में दलित जीवन की पीड़ा का यथार्थ वर्णन हुआ । संवेदनशील उपन्यासकारों ने दलितों में व्याप्त बंधुआ मजदूरी प्रथा का प्रामाणिक दस्तावेज प्रस्तुत किया है । स्वतंत्रता के पचास वर्ष बाद भी समस्यायें अपनी जगह ज्यों का त्यों है । सरकारी दावे के बावजूद दलितों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ है । निर्धनता, अशिक्षा कुपोषण एवं बीमारी के कारण आज भी वे उसी परिवेश में जी रहे है, जो उन्हें सदियों से प्राप्त है । उपन्यासकारों ने इस तथ्य को उजागर किया है कि जब तक दलितों में शिक्षा का प्रसार नहीं होता है, तब तक उनकी स्थिति में सुधार नहीं हो सकता है । शिक्षित दलितों मेंआयी चेतना के कारण वे अपनी गुलामी की जंजीर को तोड़ फेंके है । अधिक से अधिक दलित यदि शिक्षित हो तो, उनमें चेतना का प्रसार होगा और वह अपनी स्थिति स्वयं सुधार सकते है ।

11·4· हेतुवादी दृष्टिकोण - वैज्ञानिक भौतिकवाद :

भारत के प्राचीन इतिहास का अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यहां की सामाजिक एवं वैचारिक मान्यतायें दोभागों में विभक्त थी । एक विचार धारा के प्रतिनिधि थे आर्य और दूसरी के अनार्य । ये दोनों जाति समूह समसामयिक थे । आर्य समूह वैदिक धर्म का अनुयायी

1· यथा प्रस्तावित - गिरिराज किशोर - पृ· 28

था और अनार्य समूह भौतिक मान्यताओं पर विश्वास करता था । इसी लिए बहुसंख्यक वैदिक धर्मानुयायी समाज ने आर्यों को अवैदिक भी कहा है । वैदिक साहित्य के अंतिम भाग उपनिषद ग्रंथों में इन दोनों जाति समूहों के परस्पर विरोधी विचारों का व्यापक रूप से प्रतिपादन हुआ मिलता है ।

इस दृष्टि से यदि हम अथर्ववेद में निर्दिष्ट टोने टोटके और तंत्र मंत्र आदि के मूल उद्देश्यों को विचार करते है तो हमें लगता है कि वैदिक युग में ही एक ऐसे समाज का जन्म हो चुका था, जो भारतीय विचार धारा में नयी अभीप्साओं का निर्माण कर रहा था । ये विचार समाज के उस समूह के थे जो परम्पराओं तथा रूढ़ियों का विरोधी था और अनुभूत सत्य का समर्थक था । प्रत्येक पदार्थ और वस्तु की वह संभव और असंभव, इन दो दृष्टियों से परीक्षा करता था ।

वाचस्पति गैरोला लिखते है - "ऐसा संभवतः इसलिए हुआ कि उस युग में दास और स्वामी का समाज में जो वैषम्य चला आ रहा था, उसको समाप्त किया जाय । आर्य, अनार्य तथा दास - स्वामी के बीच वर्ण - विभेद सम्बन्धी जिन क्रांतिकारी विचारों का उदय हुआ, उनके मूल प्रतिनिधि थे वृहस्पति चार्वाक, कपिल, महावीर और बुद्ध ।"[1]

वैदिक युग से लेकर याज्ञवल्क्य के समय तक भारतीय विचार धारा आध्यात्म प्रधान रही । उपनिषदों के युग में भौतिकवादी विचारधारा ने अपनी स्वतंत्र सत्ता को प्रतिष्ठा की । इस प्रकार के उपनिषत्कालीन

---

1. भारतीय दर्शन - पृ. 66 - चतुर्थ संस्करण - 1983

भौतिक वादी विचारकों में प्रवाहण, जैवलि, उद्दालक, याज्ञवल्क्य सत्यकाम जावाल का नाम प्रमुख है ।

"याज्ञवल्क्य के समय ही बहुत से लोगों का कर्मकाण्ड के प्रति विश्वास कम होने लगा था । तत्कालीन क्षत्रियों को यह आशंका होने लगी थी कि यज्ञो पर अथाह निधि खर्च करने का एक मात्र कारण है पुरोहितों की सुख सम्पन्नता । यही कारण था कि पुरोहितों और कर्मचारियों के प्रति क्षत्रियों में उदासीनता व्याप्त होने लगी थी ।

अवैदिक आर्यों की विचारधारा सर्वथा भौतिक थी और उन्होंने सामाजिक जीवन की नये ढंग से व्याख्या प्रस्तुत की । समाज से जाति भेद और वर्ण भेद की विषमताओं को दूर करने के लिए इन विचारकों ने बड़ा क्रांतिकारी कार्य किया । भौतिकवादी विचार धारा के भावी विकास की यह पृष्ठभूमि थी, जिसका प्रौढ़ एवं सुथरा रूप हमें सयुग्वा रैक्व के विचारों में देखने को मिलता है । भारतीय, दर्शन के क्षेत्र में रैक्व ही ऐसे प्रथम दार्शनिक हुए, जिन्होंने इतनी निर्भीकता से पहले पहल इसी विचार धारा का समर्थ प्रतिनिधित्व किया वृहस्पति, चार्वाक और कपिल ने ।

भारतीय दर्शन में नास्तिक सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता आचार्य वृहस्पति हुए हैं । उनके विचार धारा इस प्रकार है - §1§ पृथ्वी जल, तेज, वायु ये चार तत्व है §2§ इन्हीं भूतों के संघटन को शरीर इन्द्रिय तथा विषय नाम दिया गया है । §3§ इन्हीं भूतों के संघटन से चैतन्य उत्पन्न हुआ है §4§ जिस प्रकार किण्व आदि अन्न के संघटन से मादक

शक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार इन भूतों के संघटन से चैतन्य उत्पन्न होता है ॥5॥ भूत ही चैतन्य को उत्पन्न करता है । ॥6॥ जल के ऊपर जैसे बुलबुले दिखाई देते है और तत्काल ही अपने आप मिट जाते है, उसी प्रकार जीव की स्थिति परलोक में रहने वाला कोई नहीं है । ॥9॥ मरण ही मोक्ष है ॥10॥ स्वर्ग का सुख धूर्तों के प्रलापजन्य सुख से भिन्न नहीं है ॥11॥ प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है ।

आचार्य चार्वाक मूलत: प्रत्यक्षवादी विचारक थे । उनके अनुसार सृष्टि के निर्माण में चार प्रकार के तत्वों का हाथ है, जिनके नाम है : पृथ्वी, जल, तेज और वायु । पांचवे आकाश तत्व की उन्होंने आवश्यकता नहीं समझी ।

चार्वाक दर्शन में प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना गया है ॥प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्॥ । पृथ्वी जल, तेज वायु इन चार तत्वों का प्रमाण से ही प्राप्त किया जा सकता है । चार्वाक के अनुसार अनुमान प्रमाण नहीं है । चार्वाक दर्शन में शब्द को भी अप्रमाणिक माना गया है, वहां कहा गया है कि विश्वसनीय व्यक्तियों के द्वारा कहे गये वे ही शब्द प्रमाण है, जो प्रत्यक्ष देखे जा सकते है । वेदों को प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनका प्रत्यक्ष नहीं होता । ब्राह्मण ग्रंथों के धूर्त्त पुरोहितों की अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए वेदों को प्रमाण मानने की झूठी कल्पना केवल प्रलाप मात्र है । चार्वाक के मत से परलोक का भय मानकर यज्ञों का अनुष्ठान करना सब व्यर्थ है । जिन वेदों में ये बातें लिखी है वे उन धूर्तों एवं स्वार्थियों की रचनाएं है, जिन्होंने लोगों से धनोपार्जन के लिए उनको अपना एक जरिया बनाया ।[1]

- -

1. भारतीय दर्शन - वाचस्पति गैरोला - पृ. 71

इसी से आगे चलकर जड़वाद एवं अनीश्वर वाद का उदय हुआ ।

11.5 जड़वाद :

जिसको यथार्थवादी और भौतिकवादी दृष्टि से जड़वाद कहा गया है, उसको आधुनिक विज्ञान वैज्ञानिक भौतिकवाद के नाम से कहना उपयुक्त समझते है । चार्वाक के अनुसार देखना ही विश्वास करना है । इस आधार पर जड़वस्तु ही विश्वसनीय है, क्योंकि वह देखी जा सकती है, आत्मा, ईश्वर, पुनर्जन्म, परलोक, भविष्य, स्वर्ग, नरक आदि आस्तिक दर्शनों के जितने भी तत्व है, वे दिखायी नहीं देते । अत: वे विश्वसनीय नहीं है और इसीलिए उनके प्रति जिज्ञासा का होना प्रलाप तथा मूर्खता के सिवा कुछ नहीं ।

11.6. जैन दर्शन :

जैनमत दार्शनिक दृष्टि से वस्तुवादी तथा बहुसत्तावादी है । इसके अनुसार जितने द्रव्यों को हम देख सकते हैं, सभी सत्य है । संसार में दो तरह के द्रव्य हैं - जीवन और अजीव । प्रत्येक सजीव द्रव्य में, चाहे उसका शरीर किसी भी श्रेणी का क्यों न हो, जीव अवश्य रहता है । इसलिए जैन अहिंसा सिद्धांत को अत्यधिक महत्त्व देता है । अन्य मतों के प्रति जैनों का समादर भाव है । इसका कारण जैनमत का अनेकांतवाद तथा स्यादवाद । अनेकांतवाद के अनुसार किसी भी वस्तु में अनेक प्रकार के धर्म पाए जाते हैं । स्यादवाद के अनुसार कोई भी विचार

निरपेक्ष नहीं होता । एक ही वस्तु के संबंध में दृष्टि, अवस्था, आदि भेदों के कारण भिन्न - भिन्न विचार सत्य हो सकते है ।

जैन धर्म अनीश्वरवादी है । जैनों का अनीश्वरवाद निम्नलिखित युक्तियों पर अवलंबित है ।

1. प्रत्यक्ष के द्वारा ईश्वर का ज्ञान नहीं मिलता । उसका अस्तित्व युक्तियों के द्वारा प्रमाणित होता है । न्याय - दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए निम्न प्रकार की युक्ति दी गई है । प्रत्येक कार्य के लिए कर्त्ता की आवश्यकता है । गृह एक कार्य है अर्थात् एक निर्मित वस्तु है । उसको किसी कर्त्ता ने बनाया है, नहीं तो उसका अस्तित्व संभव नहीं हो सकता है । उसी प्रकार यह संसार एक कार्य है, अत: इसके लिए भी एक कर्त्ता की आवश्यकता है, वह कर्त्ता ईश्वर है । यद्यपि जैन धर्मावलंबी किसी जगत सृष्टा ईश्वर को नहीं मानते है, फिर भी वे सिद्धों की आराधना आवश्यक समझते हैं ।

11.7. बौद्ध दर्शन :

बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक गौतम बुद्ध के उपदेशों से बौद्ध दर्शन की उत्पत्ति हुई है । गौतम बुद्ध मनुष्य के रोग, जरा, मृत्यु तथा अन्यान्य दु:खों को देखकर अत्यंत पीड़ित हुए थे । जीव के दु:खों के कारण को समझने के लिए तथा उनको दूर करने के उपायों को जानने के लिए उन्होंने वर्षों तक अध्ययन, तप और चिंतन किया । अंत में उन्होंने बोधि या ज्ञान प्राप्त किया, जिसका सार उनके चार आर्य सत्यों में पाया जाता है ।

वे सत्य है - दु:ख है {2} दु:ख का कारण है {3} दु:ख का अंत है, {4} दु:ख दूर करने का उपाय है ।

गौतम बुद्ध के दार्शनिक विचार बड़े ओजस्वी है । प्राचीन बौद्ध ग्रंथों से भी पता चलता है कि महात्मा बुद्ध ने ही निम्नोक्त दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है ।

1. सभी विषयों का कारण है अर्थात् कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो स्वयंभू हो ।

2. सभी वस्तुएं परिवर्तनशील है । ज्यों ज्यों उनके कारणों में परिवर्तन आता जाता है, त्यों त्यों उन वस्तुओं में भी परिवर्तन होता जाता है । कुछ भी नित्य नहीं है ।

3. अत: इन परिवर्तनशील धर्मों के अतिरिक्त किसी द्रव्य के अस्तित्व का प्रमाण नहीं है ।

4. किन्तु वर्तमान जीवन का क्रम चलता रहता है । वर्तमान जीवन से कर्म के अनुसार आगामी जीवन की उत्पत्ति होती है । जिस तरह एक वृक्ष अपने बीज के द्वारा दूसरे को उत्पादित करता है स्वयं सूख जाता है, किन्तु दूसरा कायम रहता है, उसी तरह एक जीवन के कर्म के द्वारा दूसरे जीवन की उत्पत्ति होती है । इस प्रकारजन्म मृत्यु और पुनर्जन्म का अविरत प्रवाह चलता रहता है ।

बुद्ध ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे । वह जनता के जीवन और भाग्य का सृजन और नियंत्रण करने वाली किसी सर्वशक्तिमान आलौकिक शक्ति के अस्तित्व सेइन्कार करते थे । डा0 केवल खंडनात्मक इच्छा को

लेकर नहीं प्रारंभ किया । पक्षपात को उन्होंने स्थान नहीं दिया, बुद्ध तो इस अर्थ में हेतुवादी थे जो यथार्थ सत्ता और अनुभव के बिना किसी अलौकिक ईश्वर प्रेरणा को स्वीकार करना चाहते थे । इस विषय में वे आधुनिक वैज्ञानिकों के साथ है ।"[1]

बुद्ध ईश्वर को सब चीजों के कारण नहीं मानते थे, क्योंकि संसार में उत्पन्न हुई वस्तुएं किसी न किसी कारण से उत्पन्न हुई है । बुद्ध का कहना था --"कहा जाता है कि उस परम ने हमारी सृष्टि की है । परन्तु जो परम है, वह कारण नहीं बन सकता है । हमारे चारों ओर जो वस्तुएं है, वे एक न एक कारण से उत्पन्न हुई है । जैसे वृक्ष बीज से उत्पन्न होता है । परन्तु परम कैसे समान रूप से सब चीजों का कारण हो सकता है । यदि वह इन सब में व्याप्त है तो निश्चय ही वह इनका सृजन नहीं करता है ।"[2]

बुद्ध का जीवन रूढ़िवादियों के इस सिद्धांत का, कि ईश्वर में विश्वास न करने वाला कोई व्यक्ति उदात्त एवं श्रेष्ठ जीवन बिता सकता है, इसका पूरी दृढ़ता से खंडन करता है । इसके विपरीत उनका तर्क था कि ईश्वर में विश्वास प्रायः ही श्रेष्ठ जीवन बिताने में व्यवधान उत्पन्न करता है । तथा ईश्वर के संबंध में चिंतन प्रायः निष्क्रियता को जन्म देता है ।

वर्णाश्रम नियमों को दैवी विधान माना जाता था क्योंकि उनकी उत्पत्ति वेदों से थी, जिन्हें दैवी प्रामाणिकता प्राप्त थी । अतः बुद्ध

- -

1. भारतीय दर्शन -डा० राधाकृष्णनन - पृ. 359

2. The Gospel of Budha - Quarus - P.23

ने वेदों की पवित्रता और प्रामाणिकता को चुनौती दी । उन्होंने वैदिक देवी - देवताओं को मानने से इनकार कर दिया । अपने अनुयायियों को उपदेश दिया कि वे किसी भी ऐसी चीज को स्वीकार न करें जो तर्क संगत न हो । वर्णों के संबंध में वैदिक पुरूष सूक्त जो सिद्धांत था उसके अनुसार ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए थे, क्षत्रिय बाहुओं से वैश्य जंघाओं से और शूद्र पैरों से, परिणामस्वरूप ब्राह्मणों को समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो गया था । बुद्ध ने इस बात को नकारा था । उन्होंने शिक्षा दी थी कि मनुष्य को उसके जन्म से नहीं अर्थात् उसके वर्ण से नहीं बल्कि जीवन में उसके क्रिया कलापों से परखा जाना चाहिए । डा० अम्बेडकर के अनुसार -"भारतीय हेतुवादी दर्शन के इतिहास में बुद्ध ऐसे प्रथम दार्शनिक है, जिन्होंने दर्शन के साथ साथ दलितोद्धार की सामाजिक जिम्मेदारी भी संभाल लिया था ।"[1]

11.8. मार्क्स और एंगेल्स का भौतिकवादी चिंतन :

मार्क्स और एंगेल्स के चिन्तन का सबसे महत्वपूर्ण अंश यह है कि उन्होंने यांत्रिकी की सीमाओं से निकलकर इस दर्शन को नया अर्थ एवं नयी प्राणवत्ता दी । भौतिकवाद का जो रूप सामने नहीं आ सकता था, अंधेरे में इधर उधर बिखरा पड़ा था और हमारे लिए रहस्य का विषय था, उसे मार्क्सवादियोंने एक स्पष्ट और वैज्ञानिक आकृति दी, जिससे हमारे सामने भौतिकवाद के उलझे हुए मुद्दे बिल्कुल स्पष्ट हो गए ।

- -

1. भारतीय समाज एवं विचार धाराएं - डी.आर जाटव - पृ. 129

इनके सिद्धात में सबसे पहले पदार्थ या भूत की चर्चा होती है । पदार्थ या भूत से उनका आशय उस वस्तुगत सत्ता से है जो हमारी इच्छा-शक्ति से एकदम मुक्त अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है, जो सतत गतिशील है और जिसका विकास स्वयं उसी में अंतर्निहित कारणों से होता है । इस भूत या पदार्थ का ज्ञान हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त करते है । पदार्थ के संबंध में यहजो विचार प्रकट किया गया है, उससे एक बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि इसी बाह्य जगत का प्रतिबिम्ब हमारी चेतना है । पदार्थ की वस्तुगत सत्ता का न तो कोई आदि है न अंत है ।इसकी सबसे महत्वपूर्ण या मूलभूत विशेषता है कि वह कभी स्थिर नहीं होता है । गत्यात्मकता के इस गुण के कारण वह विकास की किसी न किसी प्रक्रिया से अवश्य गुजरता है । पदार्थ या भूत के संबंध में यह विचार, जिसे उन्होंने सामने रखा वह अनेकता को स्वीकार करता है और इस अनेकता के केन्द्र भौतिक जगत कीएकता को प्रमाणित करता है । एंगेल्स का कथन है कि - संसार की वास्तविक एकता का आधार और कुछ नहीं उसकी भौतिकता है । "मार्क्स और एंगेल्स के सिद्धात द्वारा इस बात का खण्डन हो जाता है कि इस वस्तु जगत के अतिरिक्त भी कोई अन्य संसार है ।"[1]

सिद्धात में दूसरी जो बात महत्वपूर्ण आती है, वह है - पदार्थ की गतिशीलता । एंगेल्स ने लिखा है कि गति के बिना पदार्थ की स्थिति संभव नहीं हो सकती है । पदार्थ की गति ही उसके अस्तित्व को संभव बनाती है । इसी तरह गति का अस्तित्व भी पदार्थ के अभाव में नहीं रह सकता है । यह आवश्यक नहीं है कि गति किसी एक ही

- -

1. एंगेल्स - एंटी ड्यूहरिंग

दिशा में हो । परिवर्तन के क्रम में, विकास की अनेक प्रक्रियाओं से गुजरते हुए वह कोई रूप धारण कर सकता है ।

इस संदर्भ का तीसरा तथ्य यह है कि गति के समान ही दिक् या देश भी पदार्थ के अस्तित्व का एक सार्वभौमिक तत्व है । पदार्थ की अनेक अवस्थाओं से गुजरते हुए भी पदार्थ दिक् में अपना एक निश्चित स्थान बनाये रखता है । इस विवेचन से एक महत्वपूर्ण बात सामने आती है कि मार्क्स तथा एंगेल्स पदार्थ तत्व को चेतना की अपेक्षा अधिक प्राथमिकता देते है । वे मानते है कि चेतना का स्थान गौण है । ऐसा उन्होंने इस-लिए लिखा है कि चेतना को पदार्थ का ही गुण मानते हैं । भौतिकवादी दार्शनिक इस मत से सहमत होते हुए कहते है --"जब वस्तु जगत का मानव चेतना से स्वतंत्र अस्तित्व संभव है तो इसमें कोई आश्चर्यजनक चमत्कार नहीं है कि दिक या काल का भी मानव चेतना से स्वतंत्र अपना वस्तुगत अस्तित्व हो ।"[1] इस स्थापना से यह निष्कर्ष निकलता है कि "भूत जगत से बाहर किसी भी ऐसे कर्ता का अस्तित्व नहीं है । भूत जगत से बाहर किसी भी ऐसे कर्ता का अस्तित्व संभव नहीं जिसे धर्मशास्त्र ईश्वर का नाम देता है ।

11.1.द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद :

सृष्टि का मूल स्वरूप मनुष्य के लिए हमेशा से रहस्य का केन्द्र बना रहा है । पश्चिम में सर्वप्रथम यूनानी विचारकों ने सृष्टि पर चिंतन करना आरंभ किया था । किन्तु प्लेटो और अरस्तू के बाद की विचार-

1. मार्क्सवादी दर्शन - वि.अफनास्येव - पृ. 70

धारा, जिसका रूप हीगेल में दिखाई पड़ता है, भाववादी या आदर्श थी। दूसरी ओर ईसा पूर्व छठी - सातवीं शताब्दी में आयोनियम दार्शनिक थेल ने वस्तुवादी दर्शन की परंपरा की शुरूआत की थी, जिसका प्रौढ़तम रूप मार्क्स के दर्शन में स्पष्ट होता है।

दार्शनिकों ने अनेक प्रकार से सृष्टि को, उसके परिवर्तन को समझने का प्रयास किया था। लेकिन सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि उसे परिवर्तित कैसे किया जाय। मार्क्स ने इस परिवर्तन को क्रियात्मक रूप देने का प्रयास किया था। जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के रूप में प्रकट होता है। सम्पूर्ण मार्क्सवादी सिद्धांत का दार्शनिक आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है।

द्वन्द्वात्मक अंग्रेजी के डायलिगों से बना है। इस शब्द के पीछे वार्तालाप एवं वाद-विवाद का अर्थ छिपा हुआ है।[1]

स्पष्टता "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का दार्शनिक स्वरूप भौतिक जगत के विकास और उसमें रहने वाले प्राणियों के विचारों के रूपान्तर को स्पष्ट करता है। यह एक ऐसी दार्शनिक प्रणाली है जो दृश्य जगत की गति के नियमों की व्याख्या करती है।[2]

जहां हीगेल के आदर्शवाद में प्रकृति उपेक्षित सी रही, वहां मार्क्स ने अपने सिद्धांत के प्रकृति को ही प्राथमिकता दी है। "द्वन्द्वात्मक की

- -

1. J.V.Stalin - Dialectical and Historical Materialism - P-5.

2. आचार्य नरेन्द्र देव - राष्ट्रीयता और समाजवाद - पृ. 87

कसौटी प्रकृति है और यह मानना होगा कि आधुनिक प्रकृति विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि अंततोगत्वा प्रकृति की क्रियायें द्वन्द्ववादी है, न कि अतिभूतवादी । मार्क्स का विचार है कि विरोधी तत्वों के संघर्ष के द्वारा ही सत्य की प्रतिष्ठा होती है ।[1]

11·10 डा0 अम्बेडकर के हेतुवादी विचार :

भारत रत्न डा0 बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर आधुनिक हेतुवादी दर्शन के पुरोधा थे । गौतमबुद्ध के बाद भारतीय समाज को ब्राह्मणवादी वर्चस्व से मुक्ति दिलाने वालों में, उनका नाम गौरव के साथ लिया जाता है । डा0 अम्बेडकर हिन्दू ब्राह्मणवादी संस्कृति के प्रखर आलोचक थे । उनका कहना है -"हिन्दू धर्म शोषण पर आधारित धर्म है, जहां तर्क के लिए कोई स्थान नहीं है । जो तर्क नहीं होगा, वहां विकास भी संभव नहीं है । भारतीय समाज की दीन-हीन दशा के लिए शाश्वत एवं चिरंतनवादी हिन्दू धर्म ही उत्तरदायी है । ईश्वर की परिकल्पना ब्राह्मणों ने की है । अपने शोषण को आधार प्रदान करने के लिए ब्राह्मणीय संस्कृति द्वारा रचा गया यह एक षडयंत्र है । जब तक इस षडयंत्र का पर्दाफाश नहीं होगा, तब तक दलितों की मुक्ति संभव नहीं है । आगे अंबेडकर कहते है - "अस्पृश्यता का बड़े पैमाने पर अस्तित्व ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म के टकराव की उत्पत्ति है । वे मानते है कि समाज के वे लोग, जो हालात से टूटे हुए थे या जिन्होंने गोमांस खाना नहीं छोड़ा, ब्राह्मण धर्म के पुनरूदय के साथ अस्पृश्य होते चले

---

1. वी·आई· लेनिन - मार्क्सवाद के विकास की कुछ विशेषताएं - पृ· 39

गये । शायद इसीलिए अम्बेडकर अस्पृश्यता से मुक्ति का मार्ग बौद्धधर्म में ही देखते है । अंत में अंबडेकर ने स्वयं बौद्धधर्म को अपनाया ।"[1]

अंबेडकर के इस फैसले ने हिन्दू समाज को सभी बड़े नेताओं को झकझोर दिया । उन्होंने 13 अक्टूबर, 1956 को नागपुर में विजय दशमी के दिन बौद्ध धर्म ग्रहण किया । उस मौके पर उनके साथ एक लाख लोगों ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली । बाद में 20 दिसम्बर 1927 को महाड में ही डा० अम्बेडकर ने भरी जनसभा के बीच "मनुस्मृति को जलाकर शास्त्रों की पवित्रता में लोगों का विश्वास को तोड़ा."। यह एक महान सामाजिक क्रांति थी, जिसने बुद्ध के बाद पहली बार भारत को समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के शब्द दिये थे । इसलिए डा० अम्बेडकर ने फ्रांस की राज्य क्रांति से इसकी तुलना की थी । 1930 में डा० अम्बेडकर ने काला राम मन्दिर में दलितों के प्रवेश के लिए धर्म सत्याग्रह चलाया । इसका कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि मंदिर आन्दोलन इसलिए नहीं किया गया था कि मंदिर में बैठे हुए भगवान अछूतों का कष्ट दूर कर देंगे । यह आन्दोलन इसलिए आरंभ किया गया था कि उन्होंने अनुभव किया था कि वह दलित वर्गों को ऊर्जा देने और उन्हें उनकी वास्तविक स्थिति काबोध करने का बेहतर मार्ग था ।[3] उपर्युक्त आन्दोलनों से डा० अम्बेडकर के हेतुवादी दृष्टिकोण का पता चलता है ।

11·11 हिन्दी उपन्यासों में हेतुवादी दृष्टि :

80 के दशक में लिखे गये हिंदी उपन्यासों में हेतुवादी दृष्टिकोण

---

1. हरिजन से दलित - अरुण त्रिपाठी का लेख - पृ. 54
2. हरिजन से दलित - पृ. 56
3. -वही- पृ. 68-69

को अपनाया गया है । उनके लिए कुछ भी शाश्वत या चिरंतन नहीं था । संसार में जो कुछ हो रहा है, उसके पीछे कारण की तलाश करते है । बिना कारण के पता नहीं हिलतन है । ईश्वर, भगवान आदि ब्राह्मणवादी संस्कृति की परिकल्पना है । भोले - भोले दलितों को ठगने के लिए ब्राह्मणों ने पाप - पुण्य, भगवान आदि धारणा की सृष्टि की थी । आज के हेतुवादी विचारक इन ब्राह्मणवादी मान्यताओं का खंडन करते हैं । आज तक लिखे गये वेद, उपनिषद मनुस्मृति आदि ग्रंथों के आगे प्रश्न चिन्ह लगा दिया है । यही ग्रंथ है, जिसके सहारे आज तक वर्ण व्यवस्था को कायम रखा गया एवं इसी वर्ण व्यवस्था के आड़ में दलितों का शोषण होता रहता है । देवताओं को खुश करने के लिए यज्ञ, हवन, पूजा एवं मनौती आदि प्रथायें लोगों को लूटने का माध्यम है । वर्षा अगर नहीं होती है तो गांव का ब्राह्मण यज्ञ करने की सलाह देता है । यज्ञ के नाम पर वह अपना उल्लू सीधा करता है । यदि कोई उनसे प्रश्न करें, तो उसे नास्तिक करार दिया जाता है एवं उसका अपमान किया जाता है । उसे नर्क में जाने का भय दिखाया जाता है । बेचारी भोली भाली जनता इन साजिशों को समझती नहीं है, इसलिए ब्राह्मणों के बहकावे में आकर अपना धन बर्बाद करती है और उनके धन से एक निठल्ला वर्ग ऐशों आराम का जीवन बिताता है । इस देश की विडम्बना देखिये, जहां मेहनत करने वालों को दो जून की रोटी मयस्सर नहीं है, वहीं एक आलसी वर्ग बिना कुछ किये भगवान का नाम लेकर आडम्बर पूर्ण जीवन जीता है ।

हिंदी के हेतुवादी रचनाकार इसका विरोध करते है । साथ ही साथ जनता को शिक्षित करने की कोशिश भी करते है । "छप्पर"

उपन्यास का नायक चन्दन एक प्रगतिशील पात्र, उसका कहना है - "यह इन्द्र प्रसन्न होंगे और तब वर्षा होगी । वर्षा होगी मानसून के आने से । अभी मानसून नहीं आया है इसलिए वर्षा नहीं हो रही है, इसीलिए मेरा कहना है कि यज्ञ - वज्ञ से कुछ होने वाला नहीं है । दुनिया में ऐसा कोई देवता या भगवान नहीं है, इसलिए उनके द्वारा वर्षा कराएं जाने की काई संभावना नहीं है । भोली - भाली दलित जनता को ठगने के लिए ब्राह्मणों ने भगवान की परिकल्पना की है । भगवान के नाम पर ये अपनी तिजोरी भरते है । वैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रमाणित हो चुका है कि सब पदार्थों के गुण से सृष्टि हुई है । किसी भगवान ने इस सृष्टि का निर्माण नहीं किया है । भारत के अनीश्वरवादी दार्शनिक, विचारक इन मान्यताओं का खंडन करते आ रहे है, कि संसार ईश्वर की सृष्टि है । ईश्वर शाश्वत है, अनादि एवं चिरतंन है । वे सिर्फ पुण्यात्माओं को दर्शन देते हैं । हमारे समाज में पुण्यात्मा बनने का ठेका सिर्फ ब्राह्मणों ने ले रखा है । ब्राह्मणवादी संस्कृति के वर्चस्व को कायम रखने के लिए इस तरह ईश्वर को खड़ा किया गया है ।

छप्पर का चन्दन कहता है - "दुनिया में ऐसा कोई भगवान, ईश्वर या परमात्मा नहीं है जो सर्वशक्तिमान है और सर्वव्यापी है । जो सबको पैदा करने वाला, पालन करने वाला और संहार करने वाला है । जो शाश्वत और चैतन्य है । जो जगत का नियामक तथा अनादि और अनंत है । यह मान्यता असत्य है, भ्रामक तथा वैज्ञानिकता से परे हैं । यदि तुम लोग इस बात को मानते हो तो यह तुम लोगों की भूल है । सच्चाई यह है कि दुनिया में आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्मा, भगवान या

इस तरह की किसी सत्ता का कोई अस्तित्व नहीं है । मनुष्य सबसे बड़ी सत्ता है, दुनिया में मनुष्य से बढ़कर कोई चीज नहीं है । आत्मा, परमात्मा ईश्वर ब्रह्मा और भगवान, इनमें से कोई भी वास्तविक नहीं है । ये सब मिथक है, काल्पनिक है तथा भोले भाले लोगों को बेवकूफ बनाकर अपने स्वार्थ सिद्ध करने के उद्देश्य से चालाक लोगों द्वारा ईजाद किए गए है ।"[1]

किन्तु दलितों के मन में पहले से ईश्वर भय की जड़ जम चुकी है, उसे उखाड़ फेंकना इतना सरल काम नहीं है । उल्टे वे अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हैं । अतः यह आवश्यक है कि लोगों को शिक्षित किया जाय, उनको वास्तविक कारणों से परिचित किया जाय । छप्पर का चन्दन कहता है - प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है, बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता है । देवी - देवताओं की पूजा अर्चना तथा उनके लिए यज्ञ और हवन आदि अनुष्ठानों की परम्परा के पीछे एक ही उद्देश्य है और वह है समाज को दिव्य शक्तियों से भयभीत रखकर धर्म विशेष को जीवित रखना "यज्ञ आदि अनुष्ठानों के पीछे यही कारण है और भारतीय समाज की यह एक त्रासदी है कि किसी भी आपदा के समय उससे निपटने के उपाय खोजने की बजाय, देवी - देवताओं की पूजा अर्चना की जाती है, तरह तरह के अनुष्ठान किये जाते हैं । तुम लोगों को भी यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि पत्थर के इन देवताओं या भगवानों की पूजा अर्चना करने या उनको भेंट चढ़ाने से कुछ भी होने वाला नहीं है ।"[2]

- -

1. छप्पर - पृ. 22

2. छप्पर - पृ. 22

जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता है, उसे नास्तिक कहा जाता है । ब्राह्मणों द्वारा कायम की गयी व्यवस्था में ईश्वर पर विश्वास न करने वाले को तरह - तरह से अपमानित होना पड़ता है । नर्क जाने का भय दिखाकर उसके मनोबल को तोड़ा जाता है । परन्तु, जो शिक्षित व्यक्ति होगा, इन अंधविश्वासों के बहकावे में नहीं आएगा । "छप्पर" का चन्दन खुलेआम घोषणा करता है कि वह नास्तिक है । वह कहता है - यदि ईश्वर या भगवान की सत्ता को मानना, न मानना ही आस्तिक या नास्तिक होने का आधार है तो निश्चित रूप से मैं नास्तिक हूँ । मैं किसी आत्मा, परमात्मा, ईश्वर या भगवान की सत्ता को स्वीकार नहीं करता ।"[1] आने वाली पीढ़ी में अगर चेतना को जगाया जायेगा, तभी समाज में कोई परिवर्तन आ सकेगा । सदियों से लोगों के मन में जो कुसंस्कार डाल दिया गया है, उसे बदल पाना सरल कार्य नहीं है । इसलिए वैज्ञानिक तर्क का सहारा लेना होगा । शोषण के कारणों से उनको परिचित कराना होगा । यही काम "छप्पर" का चन्दन करता है, वह कहता है -"तुम्हारी जो दीन-हीन हालत है, तुम जो रोजी-रोटी के लिए दूसरों के मुँहताज हो और तुमको नीच, अछूत या हेयमानकर दूसरे लोग तुमसे जो घृणा और उपेक्षा का व्यवहार करते हैं, तुम जो शोषण, अपमान और अत्याचार के शिकार हो, इस सबका कारण ईश्वर है, वहीं तुम्हारी यह दुर्दशा कर रहा है ।"[2]

एक तरफ तुम हो और दूसरी ओर वे लोग हैं, जो किसी जाति में जन्म लेने मात्र से श्रेष्ठ समझे जाते हैं, चाहे वे कुरूप तथा आचरण से

- -

1. छप्पर - पृ. 22

2. छप्पर - पृ. 22

गिरे हुए हो । वे लोग जो कोठियों और बंगलों में रहते है, कारों में घूमते है, जिनकी तिजोरियां नोटों से भरी हैं । जो तुम्हारी कमर तोड़ मेहनत के बदले तुम्हें उचित मजदूरी तक नहीं देते, तुम्हारा शोषण करते हैं । यह सब भी ईश्वर करता है, है न ?"[1]

80 के बाद के उपन्यासकार इसलिए चाहते हैं कि लोग अधिक से अधिक शिक्षित होकर सकारात्मक दिशा में सोचना शुरू करे । अपने अधिकारों को पाने के लिए सही दिशा में कोशिश करें । धर्म के नाम पर जो धन फिजूल गवां रहे हैं, उसी धन को किसी अच्छे कार्य में लगाये । लोग भावुक कम होकर ज्यादा व्यवहारिक बने । "छप्पर" का चन्दन इसलिए लोगों को धन का सदुपयोग करने की सलाह देता है । वह कहता है - "इसीलिए मैं कहता हूँ कि तुम लोग सच्चाई को जानो और समझो तथा ऐसे काम करो जिनसे तुम्हारा भला हो सके । इन यज्ञ अनुष्ठानों पर किया गया खर्च कहां लगेगा ? उसका क्या लाभ होगा ? बेहतर हो की इतना पैसा समाज सुधार के दूसरे कार्यों पर खर्च किया जाय । तुम्हारे बच्चे दिन भर रेत - मिट्टी में खेलते-फिरते है । उनका भविष्य बनाने की ओर ध्यान दिया जाए, उनके लिए स्कूल खोले जाए ।"[2]

अतः हमने देखा कि अस्सी के बाद लिखे गये अधिकतर उपन्यासों में लेखकों ने हेतुवादी दृष्टिकोण को अपनाया है । क्योंकि भारतीय समाज को अज्ञानता के अंधकार से मुक्ति दिलाने के लिए यही एक उत्तम मार्ग है, क्योंकि ब्राह्मणवादी हिन्दू धर्म तर्क में विश्वास नहीं करता है । उसके लिए ईश्वर शाश्वत एवं चिरंतन है । उनके लिए विश्वास भगवान को पाने की एकमात्र कसौटी है । भगवान पर विश्वास न करने वाला पापी एवं नास्तिक माना जाता है । उपन्यासकारों ने इसकी नब्ज को पकड़ा है ।

---

1. छप्पर - पृ. 23
2. छप्पर - पृ. 23

पंचम अध्याय

हिंदी उपन्यास चेतनापरक संभावनाएं और दिशाएं

5·1 भूमिका

5·2 सवर्णवादी सुधारों से मोहभंग

5·3 हिंदी उपन्यास की चेतना परक दिशायें

5·3·1 दलित चेतना की सशक्त गूंज - "हजार घोड़ों का सवार"

5·3·2 सामंती व्यवस्था से विद्रोह - "लोहे के पंख"

5·3·3 दलित चेतना का अंकुरोदन - "मकान दर मकान"

5·3·4 दलित नारी का नया आयाम - "एक अकेला"

5·3·5 आदिवासियों में नवीन मोड़ - "नदी के मोड़ पर"

5·3·6 दलितों में व्याप्त हीनभावना - "अभिशाप"

5·3·7 घिनौनी समाज व्यवस्था के प्रति विद्रोह - "मोतिया"

5·3·8 दलित एवं सर्वहाराओं का साझा स्वर - "नयी बिसात"

5·3·9 लाल फिताशाही की जकड़ में दलित - "यथा प्रस्तावित"

5·3·10 वर्ण और वर्ग के अंतर्विरोधों की कहानी - "परिशिष्ट"

5·3·11 दलित उत्पीड़न का रचनात्मक प्रतिफल - "छप्पर"

5·3·12 सवर्ण वर्चस्व को चुनौती - "सर्पगंधा"

5·3·13 दलित चेतना का आक्रामक तेवर - "मिट्टी की सौगंध"

5·3·14 वनवासियों में नयी चेतना - "गगन घटा घहरानी"

5·3·15 दलित संवेदना और चेतना का वाहक - "धार"

5·4 दलित उपन्यास की संभावनायें

पंचम अध्याय

हिंदी उपन्यास चेतना परक संभावनाएं और दिशाएं

1• भूमिका :

दलित वर्ग की सक्रिय हिस्सेदारी ने समकालीन दलित आन्दोलन को नयी दिशा एवं गति प्रदान की है । प्रगतिशील दलित वर्ग ने आज यह सिद्ध कर दिया है कि वह केवल शोषित अथवा शासित होने के लिए अभिशाप्त नहीं है, बल्कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया में भाग लेकर राष्ट्र को दिशा देने की क्षमता उसमें भी वर्तमान है । प्रवहमान काल से चला आ रहा शोषण का अंत करने हेतु, वह आज स्वयं कटिबद्ध हो विकास की लगाम को थाम लिया है । सदियों से चली आ रही मनुवादी एवं सामंती व्यवस्था को तहस - नहस करने की विस्फोट का परिणाम नहीं है बल्कि उसके पीछे सदियों से चले आ रहे दलित मुक्ति आन्दोलनों का इतिहास मौजूद है ।

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान ही भारत के दलितों में सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के प्रयास शुरू हो गये थे । दलितों के लिए समान मानवाधिकारों की सबसे मुखर लड़ाई, 19वीं शताब्दी में महात्मा ज्योतिबाफुले ने लड़ी, किन्तु उसे सफलता के सोपान तक 20वीं शताब्दी में भारत रत्न डा0 भीमराव अम्बेडकर ने पहुंचाया । इसके अतिरिक्त छत्रपति शाहजी महाराज, पेरियर रामस्वामी नायर, नारायण गुरू, बिरसा मुंडा एवं डा0 जेपाल सिंह आदि चिंतकों द्वारा ब्राह्मण-वादी संस्कृति के विरूद्ध चलाये गये आन्दोलन ने दलितों के जीवन में एक नई चेतना का संचार किया । यही नई चेतना आगे चलकर दलित समाज में परिवर्तन का आधार बनी । दलितों में आए इस नवजागरण ने उनके जीवन के कई पहलुओं को प्रभावित किया । इसी नवजागरण के चलते दलित समाज सामाजिक बुराईयों से मुक्ति के साथ साथ सांस्कृतिक गुलामी से मुक्ति की ओर अग्रसर हुआ ।

दलितों में आगे इस नयी चेतना का तेवर साहित्य में भी परिलक्षित होने लगा । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में लिखा -"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता जाता है ।"[1]

आधुनिक युग को गद्यकाल कहा जाता है । मगर आज भी कोई चेतना की झलक पहले कविता मे देखने को मिलती है । कविता से होती यह चेतना गद्य में प्रवेश करती है । गद्य का यह रूप उसे सशक्त वाणी

---

1. हिंदी साहित्य इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - भूमिका पृ. 2

प्रदान करने में समर्थ हो जाता है । डा० एन सिंह लिखते है -"किसी भी प्रकार की नूतन चेतना अब साहित्य में अभिव्यक्ति पाती है तो उसका स्वभाविक स्वरूप कविता ही होती है । लेकिन उसकी चरम परिणति उपन्यास में होती है । हिंदी में दलित चेतना की अभिव्यक्ति भी पहले कविता में हुई । इसे चाहे रैदास स माने, चाहे उससे पूर्व से । जो हीरा डोम से होती हुई, वर्तमान समय तक आती है । हिंदी साहित्य के आधुनिक काल के साथ ही कथा साहित्य में भी दलित चेतना की अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर होने लगी । सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के दो लघु उपन्यास -"बिल्लेसा बकरीया," तथा "चतुरी चमार" प्रेमचन्द्र की कुछ कहानियां -'सद्गति', 'ठाकुर का कुंआ', 'घासवाली', 'मंत्र', 'मंदिर और बाबा का भोग' आदि । अमृतलाल नागर का उपन्यास 'नाच्यौ बहुत गोपाल', गिरिराज किशोर के दो उपन्यास 'परिशिष्ट' तथा 'यथा प्रस्तावित' के अतिरिक्त हरिसुमन बिष्ट का उपन्यास 'आसमान झुक रहा है', में बाकायदा दलित, उत्पीडन शोषण तो अभिव्यक्ति हुआ ही है, दलितों के सामाजिक, आर्थिक एवं मानसिक शोषण के भी कई सजीव चित्र यहां उपस्थित है ।"[1]

अस्सी के बाद लिखे गये ऐसे कई उपन्यासों में चेतना के इस नये तेवर को हम देख सकते है । 'हजार घोड़ों का सवार", "अभिशाप", "यथा प्रस्तावित", "परिशिष्ट", "मोतिया", 'मिट्टी की सौगंध,' 'धार', 'गगन घटा कहरानी,' 'नयी विसात,' 'सर्पगंधा', "छप्पर", "बसंती" "मौसी" आदि उपन्यासों में चेतना के इस स्वरूप को उपन्यासकारों ने बड़े ही जीवंत एवं प्रामाणिक ढंगों से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

---

1. अंगुत्तर - अप्रैल - जून - 1995 - पृ. 61 में प्रकाशित -डा० एन. सिंह का लेख

सदियों से चले आ रहे शोषण को अंत करने की इस पहल के पीछे सवर्ण द्वारा चलाये गये सुधारवादी आन्दोलनों के प्रति आस्था का लोप है ।

2• सवर्णवादी सुधारों से मोहभंग :

आज दलित वर्ग से उभरे नेताओं ने अपने आन्दोलन की बागडोर स्वयं संभाल ली है । सवर्ण नेताओं की सुधारवादी एवं तुष्टिकरण की राजनीति से उनकी आस्था टूट चुकी है । क्योंकि सदियों से अनेक महा-पुरूष, राष्ट्रीय नेता और संत महात्मा आज तक जाविवाद को समाप्त करने के काम में जुटे हुए है । किन्तु देश में आज तक सामाजिक एकता स्थापित न हो सकी । न ही जाविवाद समाप्त हो सका । इसके विपरीत जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कटुता, ईर्ष्या, द्वेष और शत्रुता की भावना का ही बल मिला है । भेदभाव बढ़े है और जातिवाद की तीव्रता में वृद्धि हुई है । आज भी कई राजनेता ऐसे है जो जातिप्रथा को ईश्वर के बनाये नियम मानकर चलते है । "परिशिष्ट" उपन्यास का राजेन्द्र सिंह कहता है -"भगवान की रेटी - मेटी तो नहीं जा सकती । तख्ती पर कच्ची स्याही से लिखी इबारत तो है नहीं कि धोओ, पोतो और फिर लिख लो । जो जहां है वो वही रहेगा । जरूरत पड़ी तो मैं प्रधान मंत्री से भी कह दूंगा कि मैडम, मानसिक स्तर उठाइये । अपने पैरों पर खड़े होने दीजिए । इनके हाथों में ऊंची-ऊंची बैसाखियां पकड़ाकर दूसरों को बौना न बनाइए ।

1• परिशिष्ट - गिरिराज किशोर - पृ• 38

'मोतिया' उपन्यास का सरपंच जो समानता एवं भाईचारा का उपदेश देते हुए थकता नहीं है, जब उसकीबेटी का हाथ मांगने एक दलित युवक आता है, ता वह बोखला उठता है । उसके अन्दर के सुप्त सामंती अहंकार एवं घृणा पलभर में जाग उठते है । दलितों के प्रति उसका गुस्सा इस प्रकार प्रकट होता है -"जात ? राम आसरे बिगड़े थे, मैं बतलाता हूं जात । वह नीच जात है, स्साला, हरिजन ।"[1]

राम आसरे की बेटी बिन्दी को लगता है, उसके पिता कितने ढोंगी है, जो हमेशा दलितों के उद्धार की बात करते है, मगर उनके मन में इस वर्ग के प्रति कितनी घृणा है । "बिन्दीको लगा उसके पिता ज्यादा गिरे हुए है, जो बार बार गांधीका नाम लेकर भाषणों में आदमी - आदमी एक होने की बात करते है, छुआछूत को ढोंग बतलाते है...... और आज वो ही मोतिया को नीच जात, हरिजन और न जाने क्या क्या कह रहे हैं ।"[2]

उपन्यासकार ने उच्च वर्ग के लोगों की इस चोंचले को बेनकाब करके पंडित रामआसरे जैसे लोगों के चरित्र को बखूबी से चित्रण किया है । राम आसरे घोषित रूप से तब तक दलित हित की बात करता है, जब तक उसके स्वार्थ में कोई बाधा न आयी हो । रामआसरा कहता है, "मैंने इस गांव से ही नहीं, पूरे परगने से, जिले से और देश से छुआछूत, जाति-पांति मिटाने की शपथ उठाई है । मैं गांधी महात्मा के कहने पर चलता हूं और चलता रहूंगा, मुझे तब तक चैन नहीं मिलेगा, जब तक मैं ब्राह्मण, चमार, कोली, ठाकुर आदि का नाम ही न

- -

1. मोतिया - रामकुमार भ्रमर - पृ. 97
2. मोतिया - रामकुमार भ्रमर - पृ. 97

मिटा डालूँ। मेरी कल्पना है, जैसी गांधी महात्मा की थी... सब बराबर हो जाय।"[1]

मगर वही रामआसरे जी पलभर में ही गिरगिट की तरह रंग बदलते है। जब मोतिया रामआसरे जी का भाषण सुनता है, तो उसके मन में लड्डू फूटने लगते है, उसे भरोसा हो जाता है, रामआसरे जी सचमुच महान व्यक्ति है। इसी के बल पर हिम्मत कर रामआसरे जी से उनकी बेटी का हाथ मांगता है। यह सुनते ही रामआसरे जी के अन्दर कुंडली मारे बैठे उनके सामंती संस्कार बौखला उठा। वे मोतिया को लात मारते है और कहते है --"दो पैसे का आदमी चन्द्रमा पर थूकने आया है ? पंडित राम आसरे बुदबुदाये जिस जबान से बिन्दी का नाम निकाला है, उसे कटवाकर कुत्तों के सामने फेंक दूंगा। समझा हरामजादे चमार। तेरी इतनी हिम्मत।"[2] इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि सवर्णवादी मानसिकता में परिवर्तन बड़ा कठिन कार्य है।

1935 में मंदिर प्रवेश बिल पारित हुआ। कांग्रेस ने अस्पृश्यता को कलंक घोषित किया। दलितों के लिए स्कूलों के द्वार खोले, कुंआ आदि सार्वजनिक स्थानोंके उपयोग का अधिकार मिला। ये सारी चीजें दलित स्वाधीनता की दृष्टि से महत्वपूर्ण थी। किन्तु, दुर्भाग्य से ये घोषणाएं ही साबित हुई। फिर भी दलितों की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया। हिन्दुस्तान टाइम्स का हवाला देते हुए रामसूरत भाद्वाज लिखते है -"इस संबंध में 8 मार्च, 1945 के हिन्दुस्तान

---

1. मोतिया - रामकुमार भ्रमर - पृ. 104
2. मोतिया - रामकुमार भ्रमर - पृ. 110

टाइम्स की वह रिपोर्ट विशेष उल्लेखनीय है, जिसमें मेवाड के दलितों के विषय में कहा गया है कि -"वे मन्दिरों में अब भी प्रवेश नहीं कर सकते हैं, कुएं से पानी नहीं निकाल सकते, त्योहारों तथा जुलूसों में सवर्णों के साथ शामिल नहीं हो सकते, गांव में घोड़े पर चढ़कर नहीं निकल सकते । उनकी स्त्रियां सोने - चांदी के आभूषण नहीं पहन सकती । वे शादीके अवसरों पर भी "घी मक्खन" का प्रयोग नहीं कर सकते । स्कूलों में उनके बच्चे सवर्ण हिन्दुओं के बच्चों के साथ नहीं बैठ सकते । दलितों की यह दयनीय स्थिति सम्पूर्ण देश में थी और आज भी है ।"[1] मगर आज का दलित उस स्थिति को देखकर खामोश नहीं रहता है । उसके अन्दर का आक्रोश अब प्रकाश में आने लगा है । बाबू जगजीवन राम जो एकदा दलितों के उदारवादी नेता के रूप में सवर्णों को प्रिय थे , 80 के दशक में उनका मोहभंग हुआ । उनको लगा सवर्णों के स्वार्थ प्रेरित राजनीति में उन्हें मोहरा बनाया गया है । राजकिशोर लिखते है --"80 के दशक के अंत में केन्द्रीय मंत्री जगजीवन राम के विश्वनाथ मंदिर जाने के बाद, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों ने वहां का शुद्धिकरण किया था । काशीराम जो हिन्दु धर्म के भीतर रहकर संघर्ष कर रहे हैं, शायद ही किसी सवर्ण का निश्छल सम्मान पाते हैं ।"[2]

दुर्भाग्य से भारत में जितने भी संत महात्मा और समाज सुधारक हुए हैं, उन्होंने दलितों का धर्म से जोड़ने का प्रयास किया । किसी ने उनकी मुक्ति की बात नहीं सोचा । अम्बेडकर के शब्दों में "किसी भी संत ने जाति प्रथा पर चोट नहीं की, वरन् इसके विपरीत वे

- -

1. "युद्धरत आम आदमी - अक्टूबर - दिसम्बर - 96 अंक - 36
"राम सूरत भारद्वाज का लेख - पृ. 100
2. हरिजन से दलित - राजकिशोर - पृ. 65

जातिप्रथा में दृढ़ता से विश्वास रखते थे । उनमें से अधिकांश उसी जाति के सदस्य के रूप में मृत्यु को प्राप्त हुए हैं । ज्ञानदेव को ब्राह्मणों ने बहिष्कृत कर दिया था । फिर भी उन्होंने अपने ब्राह्मणत्व को ब्राह्मण समाज के द्वारा स्वीकार किये जाने के लिए जमीन आसमान एक कर दिया था । संत एकनाथ ने अछूतों को छूने और उनके साथ भोजन करने का साहस इसलिए नहीं किया था कि वहजाति और अस्पृश्यता के विरोधी थे, बल्कि एकनाथ के अनुसार उन्होंने यह सोचा था कि, इससे उन्हें जो पाप लगेगा, वह गंगा स्नान करने से धुल जाएगा । स्वामी विवेकानन्द ने भी जो हिन्दुत्व के विश्व प्रसिद्ध प्रचारक थे और जिनके शिकागो भाषण की आजकल चर्चा है, प्राचीन धर्मशास्त्र के अनुसार चातुर्वर्ण्य समाज का समर्थन किया था । उनका सर्वाधिक जोर इस बात पर था कि हिन्दु समाज के ढांचे में कोई बुनियादी परिवर्तन किये बगैर ही दलितों के साथ आपसी व्यवहार में उच्च नैतिकता बँटती जाये । दूसरे शब्दों में उन्होंने धर्म और भक्ति की राख से सामाजिक क्रांति को दबाने का काम किया ।"1

आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती, मनु की समाज व्यवस्था के समर्थक ही नहीं थे, बल्कि उसकी सबसे ज्यादा वकालत उन्होंने ही की है । उन्होंने मनु की, जन्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था के स्थान पर गुण पर आधारित वर्ण व्यवस्था को जरूर स्वीकार किया है, परन्तु, गहराई से देखने पर वह मनु की व्यवस्था से भिन्न नहीं है ।

---

1. प्राचीन धर्मशास्त्रों का इतिहास - श्याम द्विवेदी - पृ. 113

डा० अम्बेडकर की यह आपत्ति गलत नहीं है कि आर्य समाज की चतुर्वर्ण्य व्यवस्था के अंतर्गत यदि एक व्यक्ति को उसके गुणों के आधार पर हिन्दु समाज में स्थान मिलता है, तो यह समझ में नहीं आता कि आर्य समाजी उस पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र का लेबल लगाने पर जोर क्यों देते है ? किसी भी विद्वान को ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र का नाम दिये बगैर ही सम्मानित किया जा सकता है । यदि यूरोप का समाज अपने फौजियों और सेवकों को कोई स्थायी नाम दिये बगैर ही आदर देता है, तो भारत में ऐसा क्यों संभव नहीं है ।

उपर्युक्त परिस्थितियों के मद्देनजर मध्य वर्गीय लेखकों का कोरा आदर्शवाद एवं सिद्धांतहीनता का पोल खुलने लगा । यथार्थवाद के नाम पर लिखे जाने वाले शुद्ध कल्पना आधारित रचनाओं का महत्व घटने लगा । साहित्य के पाठकों में यथार्थजीवी रचनाओं के प्रति रूचि बढ़ने लगी, शोध परक एवं तथ्यों से भरी रचनाओं का आगमन साहित्य के लिए वरदान सिद्ध हुआ । 'आठवें दशक के उपन्यास' शीर्षक अपने एक लेख में डा० कुंवर पाल सिंह ने लिखा -"प्रेमचन्द के बाद उत्पन्न शून्यता अस्सी के बाद फिर से भरने लगा । यथार्थवादी लेखकों में जो सन्नाटा छाया हुआ था, वहां फिर से हलचल शुरू होने लगी । दलित, उपेक्षित एवं पीड़ित लोगों की आवाज साहित्य में फिर से गूंजने लगी ।"[1] अब दलित एवं पीड़ित लोगों की हिमायती करने वाले कुछ दलित लेखक भी उभर कर आये । साहित्य के परिदृश्य में एक आमूल परिवर्तन सा परिलक्षित होने लगा । साहित्यकार ज्यादा से ज्यादा तथ्यों की ओर

- -

1. हिंदी उपन्यास सामाजिक चेतना - डा० कुंवरपाल सिंह - पृ० 62

ध्यान देने लगे । कोरीकल्पनाओं से भरी रचनाओं की अहमियत घटने लगी । विज्ञान की विविध मुखी विकास एवं संचार क्रांति के फलस्वरूप समाज के सबसे उपेक्षित वर्ग के लोगों में भी चेतना का संचार होने लगा । दलित आन्दोलन में नई गति आने लगी । रीढ़हीन दलित वर्ग अब अपने अधिकारों के प्रति सजग एवं सतर्क हो गये । साहित्य में ये सारी घटनायें अपने रूप में उभरकर सामने आईं । आठवें दशक के प्रारंभ में यादवेन्द्र शर्मा "चन्द्र" द्वारा लिखा गया उपन्यास "हजार घोड़ों का सवार" दलित जीवन के यथार्थ चित्रण में मील का पत्थर साबित हुआ ।

3·1· दलित चेतना की सशक्त गूंज -'हजार घोड़ों का सवार':

"हजार घोड़ों का सवार" यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र" का एक यथार्थ परक उपन्यास है, जिसमें राजस्थान के बीकानेर खण्ड की पेशे के आधार पर बनी दलित जातियों के शोषण व उत्पीड़न को चित्रित करने का सफल प्रयास किया गया है ।

चार सौ सोलह पृष्ठों में बिखरे इस उपन्यास के लिए लेखक ने अपनी ओर से कहा ····"इसमें बीकानेर के गहन गवहरों में पड़े शोषित सजीव चरित्रों व वस्तुओं को उजागर करने का मेरी ईमानदारी से प्रयास है । पेशेगत बनी हुई शोषित जातियों के उत्पीड़न एवं शोषण की मेरी समझ में यह तटस्थ गाथा है । तटस्थ इस अर्थ में कि मैंने इस उपन्यास के पात्रों को अपनी बौद्धिकता से काफी बचाया है ।"[1]

1· हजार घोड़ों का सवार - यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र - "भूमिका"

उपन्यास का नायक गीधू, जिसके इर्द - गिर्द उपन्यास की कथावस्तु घूमती है, जाति से चमार है । गीधू के पिता की आर्थिक स्थिति अच्छी थी पर पिता की मृत्यु पर किये गये मृत्यु भोज के कारण न केवल उसके गाँठ की राशि ही समाप्त हो गई वरन वह कर्जदार भी हो गया । इस कारण उसे मेहनत - मजदूरी करके अपना व अपने परिवार का पेट पालना पड़ता है ।

अलगरजिया बाबा के संपर्क में आकर उसमें आध्यात्मिक एवं राज-नैतिक चेतना जागती है । बाबा की हत्या के पश्चात विषम स्थितियों का सामना न कर पाने के कारण वह गृहस्थ जीवन से भाग खड़ा होता है और साधु बन जाता है । साधुओं व आश्रम के गर्हित जीवन का सच्चा स्वरूप सामने आने पर वह मौका पाकर साधु जीवन से भी भाग खड़ा होता है ।

घर लौटने पर गीधू समाज सेवा का कार्य हाथ में लेता है और आगे चलकर उसी के कारण संसद सदस्य बनता है । अंत में दलितों को समता का हक दिलाने के प्रयास में वह शहीद हो जाता है । डा० कृष्णा अवस्थी लिखती है --"हजार घोड़ों का सवार" यथार्थवादी उपन्यास होते हुए भी यथार्थ से दूर होने का आभास होता है । वास्तव में यह भारतीय पात्र का आकस्मिक उतार चढ़ाव है । इससे उसके संघर्षशील एवं जुझारू तेवर का पता चलता है । गीधू समाज की हर संस्था में घुसपैठ करके वहाँ के यथार्थ को सामने लाने में सक्षम होता है ।"[1]

---

1. यथार्थवादी उपन्यास के बिम्ब विधान - कृष्णा अवस्थी - पृ० 112

उपन्यास का नायक दलित वर्ग का होने के कारण उपन्यास में दलित वर्ग का चित्रण अनेक स्थलों पर हुआ है । चमारों की गरीबी, अशिक्षा, गन्दगी में जीवन यापन तथा सवर्णों द्वारा उत्पीड़ित किए जाने पर विशद चित्रण हुआ है ।

उपन्यास के पहले पचास पृष्ठों में दलित वर्ग की चमार, भंगी आदि जातियों के दीन हीन जीवन तथा उन पर सवर्णों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों का यथातथ्य चित्रण हुआ है । यह चित्रण बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल का है । "भंगिन सुनगड़ी को जमादार हमीद खां डण्डों से मात्र इसलिए बुरी तरह पीटता है कि उसने किसी ठाकुर के डेरे के पास कचरा डाल दिया था । कारण यह था कि उसकी टोकरी टूट गयी थी ।"[1]

"गुन्दली चमारन को पण्डित गजराज {डण्डे} से केवल इसलिए बुरी तरह पीट देता है कि वह पीपल के गटटे पर बैठ गयी थी ।"[2]

चमार, धानक, सांसी, भंगी, और थोरी जैसी बीकानेर क्षेत्र की दलित जातियों को उनके मानवीय अधिकारों से सर्वथा वंचित रखा गया था । इसका चित्रण इन प्रारंभिक पृष्ठों में बिखरा पड़ा है ।

नाई इन लोगों की हजामत नहीं करते थे । इनकी हजामत नट करते थे जो स्वयं दलित वर्ग से संबंधित थे । इन्हें सार्वजनिक कुओं पर पानी भरने का कोई अधिकार नहीं था । पैसे देने पर भी इन्हें माग

- -

1. हज़ार घोड़ों का सवार - पृ॰ 17
2. -वही- पृ॰ 22

कर पानी पीना पडता था । मरूस्थल होने के कारण इन लोगों को पानी के अभाव में घोर गन्दगी में जीवन यापन करना होता था ।

मजदूरी के लिए बुलाने पर किसी जोखिम वाले काम पर नियोजित करके काम लेना तो सवर्ण सामन्त जानते थे पर इस काम में अछूतों के आहत हो जाने या मर जाने तक की कोई दाद, फरियाद वे लोग नहीं सुनते थे । ऐसा ही एक प्रसंग इस उपन्यास में आया है । "जमनु नामक एक चमार बालक को लाट साहेब के बीकानेर आगमन पर एक राजकीय भवन के दुर्गम छज्जे पर दीपक लगाने के लिए विवश किया जाता है । वह छज्जे से नीचे गिर जाता है और बुरी तरह आहत हो जाता है । इस पर भीअधिकारीगण पर इस घटना का कोई असर नहीं होता । वे डाँट फटकार करके दूसरे लोगों से काम लेते रहते हैं । बालक की चिकित्सा या सहायता के लिए कोई नहीं पूछता । उसके साथ सहानुभूति दिखाने वालों को राज कर्मचारी काम चोर की संज्ञा देते है ।"[1]

सामन्ती शासन में प्रजा विशेषकर दलित वर्ग का तो कोई "धणी धोरी" था ही नहीं । इन लोगों के लिए मौलिक अधिकार नाम की कोई वस्तु थी ही नहीं ।

"प्रस्तुत उपन्यास में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात दलित वर्ग में आई चेतना का दिग्दर्शन भी लेखक ने यत्र तत्र किया है । सार्वजनिक कुएं पर पानी भरने के नागरिक अधिकारों कीप्राप्ति के लिए दलित वर्गों द्वारा किये गये प्रयत्नों का नेतृत्व करते हुए गीधू शहीद होता है ।"[2]

---

1. हजार घोडो का सवार - पृ. 38 - 39

2. हिंदी उपन्यास - डा० सुषमा धवन - पृ. 309

उपन्यास में यत्र - तत्र दलित वर्ग की चमार भंगी, नाई आदि जातियों के आर्थिक शोषण तथा उनके साथ किये जाने वाले अमानवीय व्यवहार के इतिवृत्त प्रस्तुत किये गये हैं ।

इसमें दो राय नहीं कि लेखक ने अपने अनुभवों का अच्छा उपयोग इस उपन्यास में किया है । दलित लेखन की दिशा में यह एक सफल प्रयास है ।

3·2· सामंती व्यवस्था से विद्रोह - लोहे के पंख :

हिमांशु श्रीवास्तव की गणना हिंदी के संवेदनशील एवं यथार्थवादी रचनाकारों में होती है । समाज के शोषित एवं उपेक्षित लोगों की दुर्दशा का चित्रण उन्होंने अपने कई उपन्यासों में किया है । "लोहे के पंख" इस श्रृंखला की सबसे प्रभावोत्पादक एवं लोकप्रिय रचना है । यह उपन्यास सर्वहारा वर्ग के एक व्यक्ति की आत्मकथा के रूप में लिखा गया है । सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले इस उपन्यास का नायक दलित वर्ग का है । उपन्यास का क्षेत्र सीमित होने पर भी यहां यथार्थ-वादी सामाजिक पृष्ठभूमि का सुन्दर चित्रण हुआ है । डा0 आदर्श किशोर सक्सेना के अनुसार इस उपन्यास में एक अछूत माने जाने वाले वर्ग (चमार) से संबंधित कथा है, परन्तु यह सम्पूर्ण जाति-सामाजिक शोषण या उत्पीड़न का शिकार होने का चित्रण नहीं किया गया है । शोषण कर्त्ता केवल जमींदार है, जो परिवार मात्र के प्रति क्रूरता प्रदर्शित करता है । इस प्रकार उपन्यास में कहीं भी जाति व्यवस्था के दोषों अथवा उससे उत्पन्न समस्याओं का चित्रण नहीं है ।"[1]

1· हिंदी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प विधि -डा0 आदर्श किशोर सक्सेना - पृ· 123

"उपन्यास का नायक मंगरूआ चमार अपनी संघर्षपूर्ण मार्मिक आत्मकथा लेखक को स्वयं सुनाता है । वस्तुतः यह गाथा केवल मंगरूआ की ही नहीं, अपितु उसके चार पुश्त की है, जिसके माध्यम से तीन दशक के संक्रमणकालीन भारतीय जीवन को अभिव्यक्ति दी गयी है ।"[1] अपने प्रारंभिक जीवन में मंगरूआ अपने दादा और पिता की शोषित अवस्था को निकट से देखता है । मंगरूआ का दादा सामन्तवाद से दबा निरीह किन्तु स्वामिभक्त नौकर की भावना रखता है । वह अपने जमींदार बच्चा बाबू के खेत को दूसरे हाथों में जाते नहीं देख सकता, किन्तु शोषक वर्ग की नजर में इसकी स्वामिभक्ति का कोई मूल्य नहीं है । अपना खून देकर भी दादा ने ठाकुर का खेत बचाया था और एक दिन खून के बिना दादा का बेटा अस्पताल में मर गया । दादा ने ठाकुर के बेटे के लिए चार पैसे भी नहीं दिये । यह सामंती शोषण या दास प्रथा के जीवन का मार्मिक प्रसंग ।

बच्चा बाबू शोषक वर्ग के प्रतीक है जो बल पर शोषण करना अपना दैवीय अधिकार मानते हैं । शोषित वर्ग कभी साहस करके अपने अधिकारों की मांग करते है तो उन्हें जमींदारी जुल्म का शिकार होना पडता है । जुल्म की यह प्रक्रिया गुप्तांगों में मिर्च भरने तक विस्तृत है । जमींदारी आतंक के कारण मजदूर अपने को असहाय पाते और उसके इशारे पर चलना ही अपना धर्म समझ चुप हो जाते है । वे मार खाते हैं, बेगार करते हैं, भूखे पेट सोते है । मरणासन्न बाप को छोड़कर भी मंगरू को बेगार में जुटना पड़ता है ।

---

1. हिंदी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प विधि -डा० आदर्श किशोर सक्सेना - पृ॰ 56

सामंती शासन में दलितों की जो दयनीय स्थिति थी उसका सजीव चित्र उपन्यास में मिलता है। दलित उस समय पशुओं की तरह बेगार में पकड़ लिये जाते थे।

उपन्यास का पूर्वार्द्ध खेतीहर मजदूर के जीवन की दीनता और विवशता का निरूपण करता है तो उत्तरार्द्ध मिल मजदूर के संघर्ष से भरा पूरा है। ग्राम्य जीवन छोड़के मँगरू शहरआता है और मिल मजदूर के रूप में उसके जीवन का एक नया अध्याय आरंभ होता है। उपन्यास में दलित जीवन के दु:ख दर्द को वाणी अवश्य मिली है, परन्तु कहीं कहीं यह सतही एवं अतिशयोक्तिपूर्ण नजर आती है, जैसे बच्चा बाबू के प्रति व्यक्त रोष, यह यथार्थपूर्ण नहीं लगता है। उपन्यास में मँगरू का पलायन दिखाया गया है। अत: दलित जीवन की संघर्षपूर्ण एवं जुझारू तेवर को यहाँ भोंथरा बनाने का प्रयास किया गया है। दलित वर्ग का उद्धार संघर्ष में निरंतर जुटे रहने से संभव है, पलायन से नहीं। मँगरू गाँव छोड़के शहर की ओर भागता है, उसकी स्थिति नाले से उबर कर नदी में गिरने जैसी हुई। उपन्यास की कथावस्तु में व्यवस्थित होते हुए भी यह धारदार नहीं है।

3.3. दलित चेतना का अंकुरोदन - मकान दर मकान :

समाज में व्याप्त अलगाव, अन्याय एवं शोषण पर आधारित बाला दुबे का उपन्यास 'मकान दर मकान' दलित चेतना की अभिव्यक्ति का सार्थक प्रयास है। वस्तुत: उपन्यास की कथावस्तु दलित वर्ग में आयी चेतना तथा कतिपय समाज सुधार संस्थाओं के प्रयत्नों का लेखा-जोखा भी करता है।

आर्य समाज से सर्वप्रथम अछूतों को गले लगाने का प्रयास किया । इस प्रयास से संबंधित एक घटना उपन्यास में वर्णित है ।

"हर इतवार की तरह इस इतवार को भी आर्य समाजी, धुले कपड़े पहने आए और अछूत भाई भी । उस सभामें पुराने सनातन भी कौतुकवश आए । आर्य समाजियों के इस भाषण पर कि अछूत भी आखिर मनुष्य ही है, आर्य जाति के हैं, छुआछूत नहीं करनी चाहिए । वे बोले - तब क्यूँ" नहीं नाली साफ कर रहे मदारी भंगी को बुलाकर प्रसाद बंटवाया जाय । वैसा ही किया गया ।"[1] इस पर ब्राह्मण और वैश्य में दो वर्ग बन जाते है -- हरिजन के हाथ के लड्डू खाने वाले और न खाने वाले, इस पर पंचायत बैठती है और हरिजनों के हाथ के लड्डू खा लेने वालों को "सब व्यवहार सम्बन्ध बंद" की सजा होती है । इस पर यह निर्णय देने वाले गंगा प्रसाद की ओर देखकर पंडित शम्भुदयाल भेद भरी मुस्कान बिखरते है ।

इस भेद भरी मुस्कान में जो रहस्य छिपा है । वह इस प्रकार है । शंभुदयाल जब आगरा फोर्ट स्टेशन पर पार्सल क्लर्क थे, अपना हाथ साफ करते रहते थे । एक बार उन्होंने इसी प्रकार मिठाई की पार्सल पर हाथ मारा । स्वयं ने भी खाई और परिवार वालों को भी खिलाई । पार्सल मालिक की जब शिकायत आयी तो ज्ञात हुआ कि पार्सल कर्त्ता एक हरिजन था और उसने जूठन के साबूत टुकड़ों की पार्सल अपने परिवार को भेजी थी, जिसको शंभुदयाल एवं उनके परिवार ने बड़े चाव से खाया था । पंडित गंगाप्रसाद तब उसी दफ्तर में जूनियर

- -

1. 'मकान दर मकान' - बाला दूबे

लड़के द्वारका में प्रेम हो जाता है । विवाह के लिए उनका जातीय अभिमान बीच में आ जाता है । दोनों ही जाति वाले अपनी अपनी जाति में ही विवाहकराना चाहते है । चमार कहते हैं -"भला हमारा लड़का भंगिन के साथ ब्याह करेगा ? भंगी कहते हैं, हमारी लड़की चमारों में नहीं जा सकती हैं । अपनी जाति के लड़के के साथ ही उसके हाथ पीले कराएंगे ।"[1]

किस्न और द्वारका के कानों तक यह बात पहुंच जाती है और वे भाग जाते है । इस पर दोनों जातियों में लठमार लड़ाई होती है । बाकी सभी तमाशा देखते हैं ।

महीने भर बाद पता चलता है कि दोनों शहर जाकर ईसाई बन जाते हैं और उन्हें अस्पताल में झाड़ - पोंछ की नोकरी मिल जाती है । अब वे न भंगी रहे न चमार । उनकी भी इज्जत होने लगती है, वे गिरजाघर जाते हैं और ईसा मसीह के भजन गाते हैं । फिर वे दोनों हिन्दु जाति के खोखलेपन को उजागर करने और हिन्दुओं को ईसाई बन जाने के लिए प्रेरित करते है । द्वारका कहता है -"ईसाई बन जाओ सुखों और इज्जत से रहो । सरकारी नोकरी मिलेगी । कोई जा जा बेजा काम नहीं करना पडेगा और तुम्हीं देखो, हमारे पुरखे कितने ढोंगी हैं । अरे भंगी चमार बन कर किसी के पास बेठ कर दिखाओ ता जाने । फोरन दुत्कार करके भगा दिए जाओगे । पर ईसाई बनते ही चाहे जिसकी बगल में बेठ जाओगे । वो तुम्हें पास

- -

1. मकान - दर - मकान - पृ. 122-123

बैठने देगा । बातचीत भी करेगा । फिर क्यों इस जिल्लत को ढोए जा रहे हो ?"[1]

वर्तमान समय के सत्य को उजागर करता एक प्रसंग इस प्रकार है :-

ईसुरी पंडित का लड़का "प्री मेडिकल एग्जाम" पास नहीं कर पाता है । वह दो बार फेल हो जाता है, तब ईसुरी पंडित अपने पुत्र को हरखू के छोटे भाई परभू का पुत्र बताना चाहते हैं और इस दबाव के लिए हरखू में 500 रूपए की उधारी व 300 रूपए का ब्याज आदि 800 रूपए निकालते हैं और कुड़की की धमकी देते हैं । बेचारा गरीब हाँ भर लेता और पंडित के पुत्र के पिता के नाम की जगह परभू का नाम लिखवा देता है । बड़े भाई की बात परभू टाल नहीं पाता और अनुसूचित जाति बनाकर छूट प्राप्त करवाता है ।

पंडित का पुत्र भगवानदास जब चयनित हो जाता है तो उसे पता चलता है कि उसकी तरह कितने बामन बनिए टेम्परेरी चमार धोबी बनकर डाक्टर बन रहे हैं और अपनी जाति छुपाने के चक्कर में लगे हुए हैं ।

इसके विपरीत असवर्णों में यह भावना बढ़ती जा रही है कि वे उच्च पदों पर आसीन होते हुए भी अपने को निम्न जाति बताने पर हिचकते है, क्योंकि उनमें अभी समाज से सामना करने की हिम्मत नहीं आयी है जो सच्चाई को सामने रख सके । आलोच्य उपन्यास में भी

- -

1. मकान - दर - मकान - पृ. 124

जबकि हरखू धोबी का पुत्र रामरंग पुलिस का डिप्टी बन जाता है, फिर भी पिता पुत्र को घमण्ड छू नहीं पाता है ।

इस घटना पर उन्हें एक पुरानी घटना याद आती है, जब गांधी जी के आह्वान पर भंगी, चमार, खटीक, धोबी, कोली सभी दलित वर्ग, जिन्हें नीच और अछूत कहा जाता था, एक ही झण्डे के नीचे एकत्रित हो गये । इस पर सवर्ण चौंके थे और उपहास प्रारंभ कर दिया था ।

सवर्ण और असवर्ण के बीच ऊंच - नीच की भावना को प्रदर्शित करने वाला एक प्रसंग इस प्रकार है, जिसके सभी दलित वर्ग संगठित होकर सवर्ण को आड़े हाथों लेते हैं ।

"गुल्ली डंडे के खेल में बलदेवा पंडित के लड़के मुरानी ने धन्ना चमार के लड़के राम आसरे को दो चांटे और लात घूंसे रख दिये और कहा साले "ढेढा" ? तेरी यह मजाल कीकि हमसे मुंह जोरी करे । औकात भूल गया अपनी साले ।"[1] अपनी इस विजय पर सवर्ण इतरा ही रहे थे, कि शाम को सभी चमार लड़के हाकियां व स्टिकें लेकर मुरारी पर झपटे, उसे बुरी तरह मारा ? सभी सवर्ण मुंह देखते रह गये ।

निम्न वर्ग के आपसी हितों पर चोटकरने वाली एक घटना इस प्रकार है । सुमेरा भंगी की लड़की किस्नो और स्यासिया चमार के

---

1. मकान - दर - मकान - पृ. 120

बाबू थे । रिश्तेदारों में बात बढ़ने के भय से शंभुदयाल ने गंगा प्रसाद को 100 रुपया का एक हरा नोट देकर गूंगा बना दिया और उस झिंगुरिया भंगी को 25 रुपए देकर मामला रफा-दफा कर दिया ।

तथाकथित बड़े आदमी अपनी ऐयाशी के लिए निम्न वर्ग की स्त्रियों को अपने जाल में फंसा लेते हैं किन्तु उनके द्वारा अधिकारों की मांग करने पर वे कितने निर्मम हो जाते है इसका एक उदाहरण है ।

"रतनगढ़ हाउस" के नाम से प्रसिद्ध भूतोंवाले विशाल बंगले के राजा का प्रेम बिजना नामक डोमनी से हो जाता है । बिजना जब अपने गर्भ में पल रहे राजा के पुत्र हेतु आधे राज्य की मांग करती है, तो राजा उसे जल विहार के बहाने पानी में डुबो डुबो कर मार देते हैं और मुस्करा कर कहते है --"आखिर थी तो डोमनी । हरामजादी यह भी नहीं सोचती की रानीसा के हक के लिए कितनी बड़ी बात कह दी । रानीसा हमारे खान - दान की शोभा है । वो हमारी पगड़ी की कलगी है ।"[1]

निम्न वर्ग के प्यार और गौरव को दिग्दर्शित करानेवाला एक प्रसंग इस प्रकार है -"हरखू धोबी बड़े प्रेम से जज साहब के कपड़े धोकर इस्त्री करके लाता है । वहअपने पारिश्रमिक के पैसे भी नहीं लेता और जज साहेब के पैर छूने लगता है, तब जज साहेब पीछे खिसक जाते हैं ।

---

1. मकान - दर - मकान - पृ. 109-110

ज्युडिशियल अफसर श्री मोतीलाल, जो चमार है, अपने को गडरिया बताते हैं । सभी जगह काम्पलेक्स के खेल हो रहे हैं । सीना ठोंककर यह कहने वाले कम ही मिलते हैं कि "देखिए चाय पिलाने से पहले आपको बता देना चाहूंगा कि मैं मजिस्ट्रेट तो हूं, पर जाति का चमार हूं ।"[1]

असवर्णों के अधिकारी बन जाने पर उसके प्रति सवर्ण की हीन भावना को प्रदर्शित करना एक प्रसंग है । हरखू धोबी के पुत्र रामरंग के डिप्टी बन जाने पर लोग कहते हैं --"अरे भैया, नानचन्द, डिप्टी साहब, सुने है कि धुबिया । राम - राम न जाने का लिखा है हमारे भागों में जो इन लोगन की भी जी हजूरी कर रहे है ।"[2]

बाला दूबे ने इस उपन्यास में समय के साथ सवर्णों और असवर्णों में आ रही चेतना के साथ साथ जातिगत हीनता बोध और उच्चता बोध का चित्रण किया है । एक ओर हीनता बोध से ग्रसित पढ़े लिखे असवर्ण जाति छुपाते हैं तो दूसरी ओर नौकरी पाने के लिए सवर्ण, असवर्ण जाति के बन जाते हैं । असवर्णों में भी परस्पर छुआछूत है, जिसके कारण समेरा भंगी की लड़की किस्नों और च्यासिया चमार के लड़के द्वारका परस्पर विवाह करना चाहते हैं तो दोनों जातियों में लाठी युद्ध होता है । अतः दलित चेतना को उभारने की दिशा में मकान-दर मकान एक प्रेरक एवं सार्थक स्त्रोत बनता है ।

---

1. मकान दर मकान - बाला दूबे

2. - वही -

3.4. दलित नारी का नया आयाम - "एक अकेला" :

रामकुमार "भ्रमर" अपने आदर्शवादी उपन्यासों के लिए मशहूर हैं। डा० कुंवरपाल सिंह का कहना है -"एक अकेला" भ्रमर जी की आदर्शवाद प्रमुख कृतियों की एक और कड़ी है। जिसमें लेखक रूमानी आदर्शवाद से समाज के यथार्थ को प्रतिबिम्बित करना चाहते है।"[1] इस उपन्यास में लेखक ने राजनैतिक, सामाजिक, पृष्ठभूमि पर एक ऐसे चरित्र की सृष्टि की है, जो वर्तमान समय में देश और समाज के लिए प्रेरणा का स्त्रोत बन सकता है। उपन्यास की पृष्ठभूमि आदर्शवाद पर आधारित हैं।

उपन्यास के नायक जौदोराम मास्टर समाज में अकेले हैं, किन्तु अपने संघर्ष, नैतिकता और चरित्र के उज्जवल गुणों से अपने आस पास के सम्पूर्ण समाज को प्रभावित करते हैं। दोषपूर्ण समाज व्यवस्था उनके आदर्शों पर निरन्तर प्रहार करती है, किन्तु वे उससे थकते नहीं है, निरन्तर जूझते हैं। धन, शक्ति व साधनों में हर दृष्टि से वे कमजोर हैं किन्तु उसके पास चरित्र और विचारों की शक्ति है जो उन्हें बल देती है। मास्टर जी की हर पराजय उनके आदर्शों की विजय है।

इस उपन्यास में सामाजिक विषमता और जातिगत दुराग्रह का नग्न स्वरूप भी मिलता है। सरबती देवी नामक एक निम्न जाति की महिला जब जिलाधीश बनकर आती है तो गाव के ठाकुर जो

---

1. हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना - डा० कुंवर पाल सिंह पृ० 87

स्वयं जाहिल और गंवार है एक उच्च शिक्षित और प्रशासनिक सेवारत महिला के प्रति भी अपमान जनक शब्द का व्यवहार करते हैं । उनका वार्तालाप इस प्रकार है - "सुना है चमट्टी है ।"[1]

"....चमट्टी भले ही हो, है तो कलक्टर......"

"यों समझो के सुअरनी के शरीर पर सुरसति की फोटो चिपकी है ।"[2]

ठाकुर का यह कथन उसके मानस में संचित उस कुण्ठा को प्रकट करता है । यह कुण्ठा ऊंच नीच का मिथ्या दम्भ के कारण भारतीय समाज के मानस में आज भी जमी हुई है ।

आज तक दलित नारी को उपेक्षित एवं शोषित के रूप में चित्रित कर रचनाकारों ने दलित नारी में छिपी संभावनाओं की अनदेखी की थी ? प्रस्तुत कृति में सरबती को एक प्रशासनिक अफसर के रूप में दिखाकर दलित नारी को एक नया आयाम प्रदान किया गया है ।

वर्णित उपन्यास में चरितनायक जादोराम का प्रमुख सहयोगी धन्ना , हरिजन है, जो आरंभ से अंत तक उसका सहयोग करता है किन्तु अंत में प्रतिपक्षियों के छल-छद्म का शिकार होकर उसे जादोराम का साथ छोड़ देना पड़ता है । मगर उपन्यास की केन्द्रीय कथावस्तु जादोराम के इर्द-गिर्द मंडराती रही । दलित नारी का प्रसंग इसकी मुख्य उपलब्धि है ।

---

1. एक अकेला - पृ. 22
2. एक अकेला - पृ. 23

3.5. आदिवासियों में नवीन मोड़ - "नदी के मोड़ पर" :

"नदी के मोड़ पर" उपन्यास मध्य प्रदेश के भील आदिवासियों को लेकर लिखा गया है । डा० महावीर मल लोदा लिखते हैं -"उपन्यास में उभरती हुई प्रगतिशील चेतना को अभिव्यक्त किया गया है, जिसके आधार पर इसको समाजवादी रचनाओं की कोटि में रखा जा सकता है । लेखक ने इस उपन्यास के माध्यम से भीलों की चारित्रिक एवं जातिगत विशेषताओं के अंकन के साथ साथ व्यवसायियों व पुलिस द्वारा किये जाने वाले शोषण का चित्रण किया है । समय के साथ आदिवासियों में आई आर्थिक व राजनैतिक चेतना की झांकी भी लेखक ने इस उपन्यास में चित्रित की है ।

भीलों के निर्द्वन्द्व एवं स्वच्छन्द जीवन के कई चित्र लेखक ने उपन्यास में उकेरे हैं । भीलों में होने वाले स्वच्छन्द यौन संबंधों से आरंभ होती है । अमली पुलिस के बर्बर बलात्कार का शिकार होती है । उसका बदला उसका भतीजा रामसिंह लेता है । वह भीलों में आर्थिक विकास के प्रति चेतना भी लाता है ।

भील आदिवासियों का जीवन अभावों व कष्टों काजीवन है । जिसे वे हंसते मुस्कराते जीते हैं । नाच-गान में आकण्ठ डूबकर वे सब कुछ भूल जाते हैं । उनके चेहरों पर मुस्कान थिरकती रहती है । कष्ट व अभावों कीछाया भी वहां नहीं दिखती । किन्तु उनकी इस सहनशीलता भाग्यवाद और हर हाल में सन्तुष्ट रहने की प्रवृत्ति का अन्य लोग अनुचित लाभ उठाते हैं । उनका हर प्रकार से शोषण करते हैं । इन तथ्यों का निरूपण लेखक ने इस उपन्यास में किया हैं ।

---

1. हिंदी उपन्यास शास्त्रीय विवेचन - डा० महावीर मल लोदा पृ. 91

अमली मन से तो नरसू से प्यार करती है, पर पुत्रवती होने के लिए मनकू ओझा की अंकशायिनी बनने में उसे कोई दोष नहीं दिखता है और वह निःसंकोच ऐसा करती है ।

अमली के साथ पुलिस द्वारा किये गये दुर्व्यवहार का बदला लेने के लिए सारे भील संगठित होते है । रामसिंह जब बदला लेने के लिए अमली से उन दुष्टों के नाम पूछता है, जिन्होंने वह कुकर्म किया था, तो अमली कहती है कि उनको भगवान ने सजा दे दी है - अब उन्हें सज़ा देने की आवश्यकता नहीं है ।

राम सिंह जैसे पात्रों की सृष्टि लेखक ने भील आदिवासियों में पनप रही विकास व प्रगति की चेतना तथाअमली को उनके परम्परा-गत मूल्यों व विशेषताओं को रूपायित करने के लिए की है । अमली हर बात को पारस्परिक तरीके से सोचती है व करती है, तो रामसिंह नयी रोशनी के उजाले में अपनी जाति को देखकर उन्नति के प्रयास करता है ।

रामसिंह ग्राम सुधार में जुट जाता है । वह सभी को मिलकर खेतीकरने की सलाह देता है ।

एक बार गाव में भयंकर सूखा पडता है । निरीक्षण दल आते है और आश्वासन देकर चले जाते हैं । रामसिंह रात दिन गाव वालों की सेवा में लगा रहता है । यह चाहता था कि सब मिलकर काम करें और पैसा बचाए तब नगर से अनाज मंगवाएं । आदिवासी को दो दिन का अनाज हो तो अपने को अमीर ही मानते हैं । जंगल की खुली

की खुली हवाओं में सांस लेने वाले, चिड़िया जैसी उन्मुक्त जिन्दगी जीने वाले, खुले आसमान के नीचे सोने वाले ऐसे भयंकर सूखे में भी मर्द और औरत एक दूसरे के गले में बाहें डालकर मस्ती से नाचते हैं ।

रामसिंह का स्वास्थ्य गिरने लगता है । काकी अमली द्वारा आराम करने की सलाह देने पर वह कहता है - "सुख की बात करती है काकी । आदिवासी के जीवन में सुख कहां ?"[1]

रामसिंह से यह कहलाकर लेखक ने आदिवासी के मर्म को भेद डाला है, किन्तु काकी इस जीवन से सन्तुष्ट है । वह कहती है- "बहुत सुख है रे, ऐसा सुख जो धनी - मानी लोगों के नसीब में नहीं होता । हम लोग खुली हवाओं में रहते हैं । थोड़े से आटे और प्याज के टुकड़ों से खूब मजे से नाचते गाते अपनी जिन्दगी गुजार देते हैं ।"[2]

हलकैया नामक भील की पत्नी का बदन हवा से थर थर कांपने लगता है, तो अमली कहती है - "दारी इतनी सी हवा से कांप रही है, तू आदिवासी कीऔलाद नहीं है । जानती है आदिवासी की औरतें कैसी होती है । .... वह किसी भी जंगल, पहाड़ में बच्चा जन देती है, नाल गाड़ देती है और मोली इकट्ठा करने में लग जाती है ।"[3]

काकी जब रामसिंह से शादी करने को कहती है, वह कहता है -"काकी मेरी शादी जनता से हुई है । तू जानती है अपनी बिरादरी का क्या हालत है ।"[4]

---

1. नदी के मोड़ पर - पृ. 126
2. -वही- पृ. 126
3. -वही- पृ. 192
4. -वही- पृ. 192

'एक बार जब गांव में बाढ आने पर रामसिंह अपनी जान की परवाह किए बिना दिन रात जगकर लोगों व ढोरों को बचाता है। इस पर काकी उसके बीमार हो जाने का भय दिखाती है, फिर भी वह नहीं रूकता है, कहता है, किसी भी हालत में लोगों को भूखे नहीं मरने दूंगा।'[1]

बाढ की चपेट में एक भी व्यक्ति मरने नहीं पाया न कोई भूख से तड़पा। सुन्दरी व उसकी मां सौ-सौ आदमियों का खाना बनाती थी। सुन्दरी में अपनी काकी के गुण देख रामसिंह ने उसे अपना जीवन साथी बनाना तय कर लिया। इस प्रकार आदिवासी जीवन का सजीव चित्र नदी के मोड़ पर देखने को मिलता है।

3.6. दलितों में व्याप्त हीन भावना - "अभिशाप" :

डा० आरिगपूडि का "अभिशाप" अपने आप में एक नवीनतम कृति है। हिंदी उपन्यास विवेचन में डा० सत्येन्द्र लिखते हैं -"यह उपन्यास भारतीय समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है और लेखक का यह नया प्रयत्न माना जा सकता है।"[1] इस उपन्यास में भारतीय समाज के जातीय संबंधों का विस्फोटक चित्रण है। साथ ही साथ आज सरकार द्वारा समाज कल्याण के जो कार्य चलाये जा रहे है, उनमें व्याप्त भ्रष्टाचार तथा पाखण्ड का बेलाग वर्णन है।

---

1. नदी के मोड़ पर - पृ. 192

2. हिंदी उपन्यास विवेचन - डा० सत्येन्द्र - पृ. 102

दक्षिण भारतीय समाज और जातीय व्यवस्था की पृष्ठभूमि पर रचित उपन्यास हिंदी साहित्य में बहुत कम है जबकि जातिगत भेदभाव दक्षिण भारतीय समाज में अधिक है ।

अभिशाप का कथानायक पद्मनाभ स्वयं जाति से अछूत है । अपनी लगन, मेहनत चतुराई और अवसरवादिता के बल पर धीरे धीरे उन्नति की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए वहआई ए एस बन जाता है । फिर भी वह जिस जमीन से उठता है, उस जमीन को हमेशा हमेशा के लिए भुलाए रहता है । अपने बन्धु बान्धवों से मिलने में कतराता है । उसके अन्दर की हीन भावना उसे घेरने लगती है । इसी कारण वह कभी आत्मसंतोष नहीं पाता, सदैव तनाव ग्रस्त ही रहता है । वह कभी तटस्थ होकर न तो आत्म निरीक्षण कर पाता न उसकी पत्नी स्नेहा को और उसकी महानता को समझ पाता । उसका अन्त भी उतना दुःखद होता है, जितना उसके जीवन का आरंभ था । जीवन के अन्तिम समय में उसे अपने बन्धु बान्धवों से भी घृणित और नारकीय जीवन जीने को विवश होना पड़ता है, जिन्हें वह अपने उच्च पद के बल पर नीची नजरों से देखता था, उन्हें हर समय अपमानित करता रहता था ।

इस उपन्यास में डा० आरिगपुडि ने अछूत कहे जाने वाले दलितों में समय के साथ आई जागृति का सुन्दर ढंग से चित्रण किया है । यह चित्रण पूरी सहानुभूति एवं संवेदना के साथ होने के कारण कहीं कृत्रिम नजर नहीं आता है । इनकी विवशताओं का वर्णन करने के साथ ही साथ इनकी विशेषताओं का चित्रण भी लेखक ने पूरी सहृदयता से किया है, जो उपन्यास के कथ्य को सन्तुलित बनाता है ।

नायक पद्मनाभन के माध्यम से उपन्यासकार ने पढ़े लिखे अछूत के मन में पैदा हुई उन ग्रन्थियों का कथाक्रम में अच्छा चित्रण किया है जो उसे अपने कई जाने वाले लोगों से जुड़ने नहीं देती । सवर्णों से जुड़ना तो संभव भी नहीं है । पद्मनाभन के मुंह से लेखक ने स्वगत कथन के रूप में उपन्यास का आरंभ ही इन शब्दों से किया है --"उनको मुझ से किसी मदद कीउम्मीद नहीं करनी चाहिए । किसी ने कभी मेरी मदद नहीं की । मैं भला क्यों करूँ ?"[1] पद्मनाभन का यह स्वगत कथन आज के उसी जैसे पढ़े लिखे एवं उच्च पद पर पदस्थ नब्बे प्रतिशत दलित जाति के व्यक्तियों की मानसिकता को रेखांकित करता है । यदि वे यहसमझ पाते कि भले ही उन्हें किसी स्वजन परिजन की मदद नहीं मिली किन्तु वे इस योग्य है, उनकी मदद कर सके तो उन्हें करनी चाहिए । यदि वे लोग ऐसा करते हैं, तो उनकी जाति का ही नहीं समग्र भारतीय समाज के जातिगत उत्थान के कई सोपान पूरे हो जाते है । पद्मनाभन की पत्नी स्नेहा की मानसिकता इसी प्रकार की है । इसी कारण उसे पति के पतन की पराकाष्ठा के बावजूद भी जीवन की वास्तविकता को स्वीकार कर विषम परिस्थितियों में भी सृजन और सेवा के बल पर आत्मिक सुख संतोष की प्राप्ति होती है ।

लेखक ने दलित एवं दलितों में आई चेतना को उपन्यास का मूल वर्ण्य विषय बनाया है । अत: इस पर विस्तार से विवेचन की आवश्यकता है ।

पद्मनाभन के संबंध में लेखक ने लिखा है"..... जब कभी वे अकेले होते और खराब मूड में होते तो अपनी जिन्दगी के बारे में सोचते है ।

---

1. अभिशाप - पृ. 5

गुजरे दिनों की जुगाली करते और अपनी वर्तमान स्थिति को एक असाधारण उपलब्धि मानते है ।..."[1]

"उनका मन बचपन की ओर लुढ़कने लगा, उस बचपन की ओर जिसे वे याद नहीं करना चाहते थे ।"[2]

"पद्मनाभन अपने परिवार से कट चुके थे । क्या वे कट सकते थे ? क्या कोई कट सकता है, ये बातें ऐसी है, जिनके बारे में हमेशा युक्ति-संगत होना भी संभव नहीं है ।"[3]

वे कहा करते थे कि "क्लब की मेम्बरी उनको वह हैसियत देती थी, जो अफसरी नहीं दे पाती थी । वे क्लब का बैज भी लगाते थे । एक प्रकार की उनमें हीनभावना थी, जो हमेशा उनको दूसरों को यह जताने के लिए बाध्य करती थी कि वे कितने बड़े है ।"[4]

इससे तो यही साबित होगा कि उनका पति कमीना है, जो अपनी माता को भी देखने न आया । वह मुझ पर ही चोट कर रही है, अगर वह इतनी अच्छी है तो दुनिया की नजर में मुझे बुरा बनाने की क्या जरूरत है ? और वह भी उन लोगों में जहाँ मैंने बचपन काटा था ।...[5]

- -

1. अभिशाप - पृ. 5 - 6
2. -वही- पृ. 6
3. -वही- पृ. 9
4 -वही- पृ. 13
5. -वही- पृ. 22

पद्मनाभन कुछ ऐसे थे कि जब कोई बात उनको सता रही होती तो वे शराब की खुमारी में स्त्रियों की सोहबत के लिए तरसते है ।"[1]

'पद्मनाभन बड़े ढीठ आदमी समझे जाते थे, जो अपनी असफलता को बड़ी गंभीरता से देखते थे । वे अछूतों कीबस्ती के एक झोपडी से बहुत दूर चले आए थे ।

वे हमेशा किसी न किसी चीज के लिए संघर्ष करते आए थे - अगर कभी यह अपनी तरक्की के लिए थी तो कभी अपने भोग विलास के लिए ।"[2]

एक बात से दूसरी बात निकली और इस तेजी से निकली कि अच्छा खासा चित्रण ही बन गया और पद्मनाभन को उनके पद से हटा दिया गया और वे उस प्रभाव और सुविधाओं से वंचित कर दिये गये जो पद के आधार पर उनको मिली हुई थी । जब अदालत ने उनको सजा दी तो उनको नौकरी से भी निकाल दिया गया । जहां और इल्जाम थे, उन पर यह भी एक इल्जाम था कि उन्होंने तूफान पीड़ितों से घूस ली । जब स्पेशल अफसर के तौर पर सहायता कार्य के लिए नियुक्त हुए थे, तब काफी कुछ गवाही उनके खिलाफ जमा कर ली थी । उन्होंने फिर आत्महत्या करने की कोशिश की, पर मौत तब भी न आयी । उनमें न मरने का साहस था न जीने का आत्मविश्वास और धैर्यहीन हो वे दिशाहीन हो गये ।

- -

1. अभिशाप - पृ. 33
2. -वही- पृ. 11

इस उपन्यास के लेखक ने दलित वर्ग में आयी चेतना और तज्जनित उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि का यत्र - तत्र अच्छा चित्रण किया है । घोर गरीबी और दुरावस्था के साथ - साथ उससे उबर कर सम्मानित स्थिति पाने और उसके लिए संघर्ष करने के जो चित्र लेखक ने प्रस्तुत किए हैं वे चित्रण को विस्तृत फलक प्रदान करते हैं ।

पद्मनाभन के पिता की अन्त्येष्टि के प्रसंग में हरिजनों की मार्मिक दुरावस्था का एक चित्र प्रस्तुत होता है । लेखक ने इसे पद्मनाभन के संवाद के माध्यम से प्रस्तुत किया है ।

"जिस दिन वे गुजरे थे, उस दिन जबरदस्त तूफान आया । दो चार दिन तूफान गरजता रहा । मुझे अब भी याद है, क्यामत थी । खेतों में पानी भर गया । कीचड़ ही कीचड़ घरों की छतें उड़ गयी । पेड़ उखड़ गये । जहां कहीं भी रास्ते थे वहां नाले बह रहे थे । मवेशी भी मर-मरा गये ।हमार श्मशान बहुत छोटीजगह है - बंजर । वही हरिजनों की लाशें जलाई जाती थी । श्मशान में पानी भरा था घुटनों तक । कहीं कोई सूखी जगह नहीं । न उनकी लाश हम जला सके, न घर में ही रख सके । उसमें भी पानी था, लाश सड़ने लगी थी । बदबू आ रही थी । जब बारिश कुछ कम हुई तो हमारे रिश्तेदार लाश को गांव के परले छोर पर ले गये, वहां ऊंचीजाति के मुरदे जलाये जाते थे । कुछ बूंदा - बांदी तब भी थी पर लाश को जैसे तैसे आग दे दी गयी । वह पूरीतरह जल भी न , सकी । गीदड़, लोमड़ी, लकडबग्धे उनको खा गए ।"[1]

---

1. अभिशाप - पृ. 42

जब वे जिन्दा थे, तब भी ऊँची जाति वालों के सिरदर्द थे। मरने के बाद भी वे एक समस्या हो गये। किसी को कोई एतराज नहीं होना चाहिए था। उनको उस जगह भी नहीं जलाया गया, जहाँ उनके मुर्दे जलाए जाते थे। हाँ, उस जगह के आस पास जरूर जलाया गया था, पर यह भी उनको बर्दाश्त न था।

"उन्होंने हमारा गाँव ही मिट्टी का तेल डालकर राख कर दिया और कहा गया कि जलते मुर्दे से कोई चिंगारा आया था और उससे आग लग गयी। असंभव।"[1]

पद्मनाभन के पिता की अन्त्येष्टि को लेकर सवर्णों ने समूची हरिजन बस्ती को इस दुर्भावना के कारण जलाया ताकि हरिजन आतंक ग्रस्त रहे और पद्मनाभन के पिता की तरह कोई अपने अधिकारों के लिए लड़ने का साहस न जुटा सके। यह घटना ऊँच नीच की अमानवीयता को आतंक के बल पर लागू रखने के सामाजिक दुराग्रह को रेखांकित करती है।

और समय के साथ स्थितियाँ बदलती है। "वक्त बदल गया है, अब हम भैंस पालते हैं, दूध बेचते हैं और हरिजन घरों का दूध उतना ही अच्छा है, जितना सवर्णों के घर का।"[2]

अछूतों में आई इस जागृति का अंकन अगले पृष्ठों पर हुआ है, उसके अंश उद्धृत है -

- -

1. अभिशाप - पृ. 42

2. -वही- पृ. 43

"एक शाम जब गाँव के मुखिया का साला गाँव आ रहा था तो उसको अछूतों ने पीटा । वह बड़ा दबंग, दुष्ट, गुण्डानुमा आदमी है, जब वह गाँव में होता है, हर अछूत लड़की की इज्जत खतरे में रहती है और उन लोगों ने उसकी खूब मरम्मत की,' जिनकी छाया से भी वह दूर रहता था । "[1] 'गरीबी बुरी है और गरीबी के साथ अगर छुआछूत भी हो तो उससे बड़ा कोई अभिशाप नहीं है । एक तो इन्सान का जन्म लो और जानवर की तरह देखे जाओ और ऊपर से यह सब धर्म सम्मत भी हो.....' यह एक ऐसी बात है जो सोचने समझने वाला आदमी बर्दाश्त नहीं कर सकता ।"[2]

गाँव के मुखिया द्वारा देवराजन का मुखिया के साले कीहत्या के झूठे आरोप में फंसा देने के कारण सदियों से दलित शोषित हरिजन वर्ग का आक्रोश हिंसक वारदातों के रूप में फूट पड़ता है । .... खेती का काम ठप्प था । हरिजन खेतों से फसले चुरा रहे थे । मजदूर जब मर्जी काम पर आते और मनमानी मजदूरी मांगते । जमींदारों और किसानों के लिए भी खेती करना मुश्किल हो रहा था । यही नहीं, अछूत इस तरह पेश आ रहे थे । जैसे वे खुद जमीन के मालिक हो...... । एक तरह की छोटी - मोटी बगावत हो रही थी । इन घटनाओं के कारण उच्च जातियों में भय छाया हुआ था ।

इस तरह हम देखते है "अभिशाप" उपन्यास में दलित वर्ग की हर स्थिति का बड़ा ही यथार्थ वर्णन हुआ है ।

---

1. अभिशाप - पृ. 131
2. -वही- पृ. 165

3.7. घिनौनी समाज व्यवस्था के प्रति विद्रोह - मोतिया :

'मोतिया' रामकुमार भ्रमर का चर्चित उपन्यास है । जिसमें लेखक ने समकालीन समाज की दुरावस्था का चित्र खींचा है, जिसके कारण दलित व असहाय युवक को मजबूरन अपराधी वृत्ति अपनानी पडती है । समाज में पनपी हुई जाति पाति और उंच - नीच की व्यवस्थाओं के सामने आदमी कितना असहाय हो जाता है । ये व्यवस्थायें चाहे प्राण घातक ही क्यों न हो । महावीर मल लोढा लिखते हैं -"रामकुमार भ्रमर समाजवादी लेखक है । भारतीय सामज की मूलभूत संरचना को समझने की शक्ति उनकी विशेषता है । मोतिया इस दृष्टि से एक सफल उपन्यास है ।"[1]

विवेच्य उपन्यास का नायकमोतिया एक हरिजन पात्र है, जो ब्राह्मण पात्र पंडित राम आसरे की पुत्री से प्यार करता है । बिन्दी भी उसे बेहद चाहती है, किन्तु बिन्दी के घरवालों तथा समाज को यह फूटी आंख भी नहीं सुहाता, बिन्दी मोतिया के साथ भागने के प्रयास में गांव वालों द्वारा रास्ते में ही पकड़ ली जाती है । मोतिया को इतना मारा जाता कि उसकी हड्डी पसली एक हो जाती है । विवाह की अनुमति न बिन्दी के जाति वाले उच्च वर्ग के होने के नाते मोतिया चमार को बेटी देने से कतराते हैं और मोतिया के जातिवाले परम्पराओं से बंधे उच्च वर्ग की जी हजूरी में ही अपना जीवन धन्य मानते है । वे इतना साहस नहीं जुटा पाते कि बिन्दी को ब्याह कर

---

1. हिंदी उपन्यास का शास्त्रीय विवेचन - डा० महावीर मल लोढ़ा - पृ. 75

घर ले आवें । मोतिया के जाति वाले उसकी इस करतूतपर कन्नी काट गए । इस तरह मोतिया बिल्कुल अकेला हो जाता है ।

मोतिया के मन में इस घिनौनी समाज व्यवस्था के प्रति विद्रोह की आग उठने लगती है । वहअपने पड़ोसी रजुआ कुम्हार की बात याद करता है । "ठीक ही कहा था रजुआ ने - समरथ को नहीं दोष गुसाई ...."[1] मोतिया अपने आप से कहता है -"मोतिया समरथ बनेगा"[2] और इस समरथ बनने का रास्ता वह चुनता है - डाकू जगमोहन सिंह की गैंग में मिलकर समाज से बदला लेने का ।

मोतिया के माध्यम से लेखक ने वर्तमान समाज का सही चित्रण किया है । आज भी कई युवक मोतिया की तरह डाकू बनकर अपराधी जीवन जीने को विवश हो रहे हैं ।

बिन्दी के साथ मोतिया को प्यार करते देख दलित पात्र रजुआ कुम्हार कहता है --"सच्चा गाँधी जी वाला कार्य तो वही कर रहा है । बड़ी नाक लगाते है बाम्हन छत्री । मोतिया उनका दामाद बनकर वह चोट देगा कि धरती में लोटते नजर आएँगे । स्साले आदमी को आदमी नहीं समझते । "[3]

साथ ही सदियों से दबी कुचली मानसिकता रजुआ के दिमाग पर हावी हो जाती है । वह कहता है "यह अधरम भीहै । मोतिया छोटी जात का आदमी । अपने अपने पुन्न पाप से आदमी छोटा बड़ा

---

1. मोतिया - पृ. 119
2. -वही- पृ. 119
3. -वही- पृ. 46

होता है, पर ब्राह्मण की बिटिया को फुसलाकर स्साला ऐसा पाप मोल ले रहा है, जिसके एवज में कई जन्म इन्सान की जौन ही नहीं मिल सकेगी, नरक में सड़ना होगा। पर किसने जाने है, सुरग नरक ? इस समय तो सुरग में ही जा रहा है मोतिया। और गांव ?"[1]

रजुआ मोतिया को समझाता हुआ कहता है....."होस की बात कर। वे बडे लोग हैं, अपुन छोटे। ....अपना उनका कोई मुकाबला नहीं है। औकात में रह भइया, अभीबात दबी मुन्दीहै, अगर किसी को मालूम हो गया तो सही कहता हूं, ऐसे बेभाव पड़ेंगे कि तेरा जीना मरना दूभर हो जाएगा। तुझ से उमर में बड़ा हूं इसलिए तेरे भले की बात कहता हूं। राम आसरे महाराज समरथ है। समरथ को नहीं दोस गौसाई होता है तो बिनको कोई दोस नहीं। तेरे लत्ते ले डालेंगे। गांव छोड़कर भागना पडेगा तुझे लड़की, लड़की ही ठहरी। घर पर रहेगी।"[2]

एक बार मोतिया डाकू जगमोहन सिंह को माल आपूर्ति करने के अपराध में पकड़ा जाता है। थाने में उसकी बहुत पिटाई की जाती है। अन्त में थानेदार मोतिया की इस बात पर रिहाई कर देता है कि वह पुलिस की मुखबीरी करता रहेगा और जगमोहन को भी उसी प्रकार सामान पहुंचाता रहेगा।

---

1. मोतिया - पृ. 46

2. -वही- पृ. 51

बिन्दी के पिता रामआसरे चुनाव के समय एक भाषण में समाजवाद लाने औरजिले से, देश से छुआछूत, जाति - पाँति मिटाने की शपथ लेता है । वे कहते है -"मुझे तब तक चैन नहीं मिलेगा जब तक मै ब्राह्मण, भंगी, चमार, ठाकुर का नाम ही न मिटा दूं.... सब बराबर हो जाए । मैं आपकी बेटी लूँ और आप मेरी .....।"[1]

राम आसरे के इस भाषण के पश्चात मोतिया हिम्मत करके उनके घर जाता है बिन्दी का हाथ मांगता है । कथनी और करनी के अंतर को अमली जामा पहनाते हुए वह मोतिया को मार पीट कर बाहर निकाल देते है । मोतिया सोचता रह जाता है," ....ढोंगी स्साला । ठीक कहती थी बिन्दिया । जो बाहर बोलता है, वह पण्डित राम आसरे नहीं । भिखारी है..... जिसे किसी तरह झूठ बोलकर लोगों के वोट चाहिए । ठग ।"[2]

परिणाम स्वरूप मोतिया डाकू बन जाता है । जिसकी जिम्मेदार अमानवीय जाति व्यवस्था है । वह आदमी की जिन्दगी न जीकर आक्रोश भरा अपराधी जीवन जीने को विवश कर दिया जाता है । दलित जीवन की कथा को लेखक ने बड़ा ही मर्मस्पर्शी ढंग से चित्रित किया है । इस तरह इस दौर के अधिकांश उपन्यासों की यह विशेषता देखने को मिलती है ।

3.8. दलित एवं सर्वहराओं का साझा स्वर -'नयी बिसात':

नयी बिसात श्रीचन्द्र अग्निहोत्री का नवीनतम उपन्यास है ।

---

1. मोतिया - पृ. 104
2. -वही- पृ. 111

ग्राम विकास तथा दलितोद्धार को विषय बनाकर लिखा गया यह उपन्यास अपने आपमें एक जमीन तोड़ती है । उपन्यास में एक गांधी वादी प्रदीप कुमार पाठक जो लोगों में मुंशी भैया के नाम से प्रसिद्ध है, के द्वारा हरिजनों व ग्राम के सर्वहारा लोगों को संगठित करके अपने अधिकारों के लिए सत्याग्रह करने का वर्णन है ।

मुंशी भैया वकालत छोड़कर अपने गांव में आश्रम खोलते है तथा चमार पासियों को संगठित करके खेत मजदूर आन्दोलन चलाते है । इस आन्दोलन को शमशेर सिंह तथा उस जैसे धनी - मानीकिसान कुचल देते है और उल्टे मुंशी व हरिजनों के विरूद्ध थाने में रिपोर्ट कर न्यायालय में दावा दायर कर देते है । अपना पक्ष प्रस्तुत नहीं करने के कारण मुंशी भैया तथा उनके समर्थकों को क्रमशः एक वर्ष तथा नौ - नौ महीने की सजा हो जाती है ।

मुंशी भैया का पुत्र सुरेश उनके इस कार्य को पूरा करने के लिए अग्रसर होता है तथा गांधीवादी राहकी बजाय "षठे शाष्यम -समाचरेत" की नीति के आधार पर लड़ाई लड़ने का बीड़ा उठाता है ।

इस उपन्यास में निम्न वर्ग में करवट लेती चेतना का अच्छा वर्णन हुआ है । साथ ही मुंशी भैया के पुत्र सुरेश ईसाई लड़की मोहिनी जो आश्रम के अस्पताल में डाक्टर होती है से विवाह कराके लेखक ने धार्मिक सहिष्णुता की मिसाल दी है ।

आश्रम की रचनात्मक गतिविधियों के फलस्वरूप चमार पासियों व मेहतरों में शिक्षा का प्रसार होता है तथा उन्हें अपने कानूनी व

मानवीय अधिकारों का भान होता है । इस तथ्य का चित्रण उपन्यास में हुआ है ।

मुंशी भैया का सहयोगी मातादीन जो हरिजन है, अपनी लड़की रामकली को पढ़ाता है । एक वर्ष की अवस्था में उसकी सगाई व पांच साल की अवस्था में उसकी शादी हो जाती है । मातादीन उसका गौना नहीं करता है । पंचायत जब इसका कारण पूछती है तो वह कहता है --"पंचो बिटिया अभी पढ़ रही है । आठ दर्जा पास कर ले तो • • • • सरकार अपनी है । मान लो लड़की पढ़ लिखकर कहीं • • • • किसी स्कूल में लग जाय ।"[1]

मातादीन के इस उत्तर पर एक कहता है --"मातादीन यह बताओ, बांभन ठाकुर पढ़ायेंगे अपने बच्चे चमारिन से ।"[2]

पंच द्वारा कहलाए गए उक्त कथन द्वारा लेखक ने समाज की सच्चाई को उजागर किया है । आज भी गांव में जिन स्कूलों में अध्यापिकायें हरिजन है, उन स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों के मन में उनके मां बाप उन अध्यापिकाओं को नीची जाति की बताकर छुआछूत की गन्दगी भरते रहते है । यहीं से भावी पीढ़ी में छुआछूत के बीज बो दिए जाते हैं ।

मातादीन की अनुपस्थिति में एक बार शमशेर रामकली के घर आता है । मातादीन के बारे में कुछ पूछ कर वह चला जाता है, किन्तु

- -

1. नयी बिसात - पृ० 41

2. -वही- पृ० 41

पड़ोसिने इसका गलत अर्थ लगाकर रामकली को बदनाम कर देती है । जाति पंचायत मातादीन को बिरादरी से अलग कर देती है । इसका दोष रामकली की शिक्षा को दिया जाता है, तब रामकली की मां को क्रोध आ जाता है । वहकहती है --"ये बाम्हन - ठाकुर हमारी इज्जत मरजाद कुछ समझते हैं । मुंशी भैया जुग - जुग जियें । हम चमार पासी आदमी बन रहे हैं । बाम्हन - ठाकुर जलते हैं । .... चाहते हैं आल औलाद जन बच्चे गोबर उठावें, गोरू चरावें और लत्ता लपेटे रहें ।"[1]

दलित लोगों में भी कई बुराईयां है । उनमें से भी परस्पर ऊंच नीच का भेदभाव माना जाता है । इस तथ्य को भी उपन्यास में चित्रित किया गया है । पारस्परिक ऊंच नीच को समाप्त करने के लिए लेखक ने मंगली चमार की शादी धोबिन से करवायी है । इस शादी के लिए नवयुवक साहस करते हैं, इस कारण बुजुर्गों का विरोध प्रभावी नहीं हो पाता ।

उपन्यास में सत्याग्रह का वर्णन भी मार्मिक ढंग से किया गया है । सत्याग्रह व आन्दोलन एक बार कुचल दिया जाता है, पर इससे दलितोद्धार का काम नहीं रूकता । मुंशी भैया का पुत्र सुरेश इसे अपने ढंग से चलाता है । वह अपने पिता से कहता है -"बप्पा आप मात नहीं हुए । चाल गलत चल रहे थे । इसलिए शह लगने का खतरा पैदा हो गया था । नयी बिसात पर नये मोहरे लगाकर खेल नये ढंग से खेलना होगा ।"[2]

---

1. नयी बिसात - पृ. 41

2. -वही- पृ. 179

उपन्यास आदर्शवादी धरातल पर रचा गया है । फिर भी यथार्थ को नजर अन्दाज नहीं किया गया है । इस कारण उपन्यास की मार्मिकता सुरक्षित है ।

हरिजनों की उन्नति करने से जिनके हितों पर चोट पहुंचती है वे लोग तो उनसे घृणा करेंगे ही और उनकी प्रगति में बाधक बनेंगे ही । घृणा कीअभिव्यक्ति लेखक ने स्वभाविक रूप में की है - यथा "...सब साले मोटा रहे हैं । भूल गए तब लंगोटी न जुटती थी चमट्टों को । आज मातादीन की बिटिया कैसा टिमाक करती है । बाभन ठाकुर के मेहरारू क्या पहनेगी ऐसे कपड़े ।"[1]

समकालीन समाज की सच्चाई को अभिव्यक्त करने का यह एक सार्थक प्रयास है । लेखक ऐसा प्राणी है, जो अपनी पैनी निगाहों से इसे देख पाता है ।

3.9. लाल फीताशाही की जकड़ में दलित -'यथा प्रस्तावित':

"यथा प्रस्तावित" वर्तमान प्रशासनिक व्यवस्था में दलितों पर हो रहे अत्याचार पर केन्द्रित उपन्यास है । डा० विजेन्द्र नारायण सिंह लिखते है --"यथा प्रस्तावित भारतीय प्रशासन के अमानवीय ढाचे को आलोचनात्मक व्यंग दृष्टि से चित्रित करने वाला उपन्यास है । गिरिराज किशोर इस अनुभव जगत को बहुत गहरे स्तर पर जीने वाले उपन्यासकार है और तंत्र के अन्तर्विरोधी चरित्र को लेकर अक्सर चिन्तित

---

1. नयी बिसात - पृ. 180

रहे । यह उपन्यास चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी बालेसर की यातना पर केन्द्रित है । बालेसर एक कर्त्तव्यनिष्ठ स्वाभिमानी, अधिकारों के प्रति जागरूक, संवेदनशील कर्मचारी है । पर सवर्णों के वर्चस्व के कारण वह भयानक यातनायें झेलता है । और अन्तत: विक्षिप्त हो जाता है । लेखक ने बालेसर और उसके पारिवारिक जीवन की त्रासदी का चित्रण करते हुए उन शक्तियों को भी लक्ष्य किया है जो संगठित चालाकी और स्वार्थ के चलते उसे अनिवार्य शोषण एवं अमानवीय यातना की गिरफ्त में रखती है ।"1

उपन्यास के नायक बालेसर का दलित होना उसके लिए अभिशाप सिद्ध होता है और वह रोज रोज के अपमान, तिरस्कार और प्रताड़नाओं को सहते-सहते पागल हो जाता है ।

उपन्यास में यह तथ्य भयावह रूप से सामने आता है कि संवैधानिक संरक्षणों एवं प्रावधानों के रहते हुए भी दलित को किस प्रकार न केवल उनके मानवीय अधिकारों से वंचित किया जाता है । वरन् उनकी प्रतिहिंसा की भावना के साथ प्रताड़ना भी की जाती है ।

उपन्यास का मूल स्वर सरकारी कार्यालयों की लाल फीताशाही, भ्रष्टाचार, षड्यंत्र को बेनकाब करना है । इसके साथ दलित वर्ग के सरकारी कर्मचारियों के जख्मों को भी पूरी सच्चाई के साथ सामने रखता है ।

---

1. आलोचना (त्रैमासिक) जून अंक - 83 उपन्यास अंक
विजेन्द्र नारायण सिंह - पृ. 54

उपन्यास का नायक अस्पृश्य जाति से संबंधित है और एक कार्यालय में चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी है । पहले दैनिक वेतन पर होने व बाद में अस्थायी होने के कारण उसे कई प्रकार के संकट झेलने पड़ते है । स्वाभिमानी, कर्त्तव्यपरायण और सरल होने के कारण वह दफ्तरी माहोल में पीड़ित व दुरभिसंधियों का शिकार होकर एक दिन पागल हो जाता है ।

व्यवस्था की निर्ममता और रूढ़ता के आगे उसका भला चाहने वाले अधिकारी भी उसका कोई हित नहीं कर पाते हैं । ज्वाइंट डाइरेक्टर द्वारा उसके पक्ष में दिया गया निर्णय लिपिक स्तर पर चालू की गई टिप्पणियों के आधार पर आगे चलकर निर्देशक के हाथों उसके विरुद्ध करा दिया जाता है ।

बालेसर के परिवार की जिन्दगी मुहल्ले वाले जातिगत द्वेष के कारण नरक बना देते है । इसका चित्रण उपन्यास में पूरी मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया गया है । बालेसर की घरवाली कह रही थी, "इन्हीं कम्बख्तों के लिए दिन - रात अन्दर बन्द रहते हैं । बाहर निकलते तक नहीं । सिगड़ी भी बाहर जलाते हैं तो ये इसी तरह चिल्लाते । और नहीं तो पास पडोस वाले ही निकल कर गाली गुफ्तार करने लगते है । जैसे इनकी सिगड़ी बिना धुएं के जलती हो । हमारी सिगड़ी से निकला हुआ धुआँ इन्हें अपवित्तरलगता है । जात के पवित्र ऐसी ऐसी बकते हैं कि सुनी नहीं जाती । फिर भी ये पवित्तर के पवित्तर और हम नीच और अपवित्तर दोनों । देह धरे का दण्ड है सो भोग रहे । भोगेंगे, नहीं भोगेंगे । हम भोगेंगे तो ये बच्चे हमसे पहले भाग खड़े होंगे । जीते, जी न ता कुए "खत्री में गिरा जाय न जात बदलकर बेजात हुआ जाय ।"[1]

---

1. यथा प्रस्तावित - पृ. 37

सहानुभूति वश बालेसर को उसके घर देखने गए अधिकारी को भी मुहल्ले वाले प्रकारान्तर में लांछित करते है तथा उसे वहां से हटाने के लिए कहते है । नहीं हटाने पर जला देने की धमकी भी देते है । बालेसर की पत्नी पर उन लोगों द्वारा लगाए गए लांछन मन में बड़ी ही जुगुप्सा जगाते है ।

नौकरी लगने के तीन चार वर्ष बाद बालेसर को सरकारी क्वार्टर आबंटित होता है । एक अछूत का पड़ोस में रहना तथाकथित सवर्णों कर्मचारियों को अखरता है । इन क्वार्टरों के साथ एक एक गुसलखाना और टट्टी घर था । इस प्रकार बालसेर और पड़ोसी बालमुकुन्द शर्मा का टट्टी घर व गुसलखाना साझा था । बालेसर और उनकी घरवाली, उनकी सुविधा का ध्यान रखते थे लेकिन शर्मा का तो किसी तरह अपनी जातिगत उच्चता दिखानी थी सो एकदिन उसकी पत्नी ने पाखाना में ह ईंट के टुकड़ा भर दिया एवं बालेसर की पत्नी को हाथ डालकर उसे साफ करने के लिए कहता है । उसके मना करने पर बालेसर की पत्नी व बच्चों को बुरी तरह पीटा गया ।

इस संबंध में बालेसर की ओर से दिए गए प्रार्थना पत्र की पंक्तियां द्रष्टव्य है... "लेकिन ये लोग जो चींटी को भी मारना पाप समझते हैं । हम लोगों को मार डालने में जरा भी गुरेज नहीं करते । क्या हम चींटी से भी बदतर है ।"[1]

बालेसर व्यवस्था कीइस दोहरी पिस जाता है । उसके मां-बाप बिना दवाई के दम तोड़ देते है । वह खुद पागलपन की हद तक पहुंच जाता है ।

---

1. यथा प्रस्तावित - पृ. 119

अंत में वही होता है जो व्यवस्था चाहती है । बालेसर नौकरी से निकाल दिया जाता है । उसके बच्चों के लिए दर-दर ठोकरे खाने के अलावा अन्य कोई राह नहीं बचती ।

प्रस्तुत उपन्यास में दलित जीवन का सजीव एवं मार्मिक चित्र आंका गया है ।

3·10· वर्ण और वर्ग के अंतर्विरोधों की कहानी -"परिशिष्ट" :

परिशिष्ट गिरिराज किशोर जी का सबसे ज्यादा चर्चित उपन्यास है । आधुनिक शिक्षण संस्थाओं में हो रहे दलित उत्पीड़न को आधार बनाकर उपन्यास का तानाबाना गढ़ा गया है । जानकी प्रसाद शर्मा लिखते है -"'परिशिष्ट' उपन्यास में वर्णवाद से जुड़े हुए अर्द्धसामंती मूल्यों की ओट में व्यवस्था द्वारा व्यक्ति की वर्ग चेतना को बाधित करने की सुनियोजित साजिश को केन्द्रीय स्थिति के रूप में तरजीह दी गई है । यह प्रवृत्ति बहुत साफ साफ देखी जा सकती है कि पूंजीवादी अर्द्धसामंती व्यवस्था अपनी मृत्यु के अंतिम चरण में सामाजिक प्रवाह से कटे हुए सदियों पुराने प्रतिगामी मूल्यों का सहारा खोज रही है ।"[1] उपन्यास का मुख्य पात्र अनुकूल और राजउजागर की लड़ाई महज वर्ण-वाद की हदों तक महदूद नहीं करती बल्कि उपन्यास के कथ्य की सीमाओं के रहते हुए अपने सार तत्व में वह हमें मानव मुक्ति के सवाल से भी रूबरू करती है । आई·आई·टी·जैसी आदर्श कही जाने वाली

1· समकालीन भारतीय साहित्य - अंक - 25 जुलाई - सितम्बर 1986 - पृ· 161

संस्थाओं के चरित्र को व्यवस्था के बुनियादी ढांचे से जोड़ते हुए पर्त - दर पर्त खोला गया है ।

उपन्यास के कथानक का सूत्रपात अनुकूल के पिता बावनराम की स्वप्नजीवी मानसिकता से होता है । अनुकूल उनकी छोटी जाति में ग्यारहवी पास करने वाले गिने - चुने लड़कों में से एक है । अपने जीवन की न्यूनताओं की पूर्ति के सपने से जुड़कर बावनराम ने कठिन परिश्रम करके एक मजदूर से सुपरवाइजर के पद पर पदोन्नति प्राप्त की । अब अपनी पत्नी पार्वती की अनिच्छा के बावजूद उसकी आकांक्षा है कि अनुकूल उंची शिक्षा प्राप्त करके इंजीनियर बने और वह किस कदर अपनी हीन ग्रन्थि से उबर सके । बावनराम अपने बेटे से कहता है "मैं चाहता हूं कि तुम एक दिन अपनी कार से आकर घर के सामने उतरो - जिससे लोग यह तो देखें कि हम लोगों की संतान भी कारों और मोटरों में बैठकर चलने के लिए पैदा होती है । हम छोटे हैं, क्योंकि हम हिम्मत हारकर यह मान लेते है कि हम छोटे हैं और छोटे ही रहेंगे ।"[1] बावनराम की यह संकल्पशक्ति उन्हें जीवन की दूसरी सच्चाइयों के समीप ले जाती है और वह अनुकूल को आई.आई.टी. में प्रवेश दिलाने की उम्मीद को लेकर अपने क्षेत्र के एम.पी. से सिफारिश कराने के लिए दिल्ली रवाना हो जाते है । मगर चौधरी साहब के घर पर मौजूद लोगों के अनेक प्रश्नों का सामना करते हुए बावनराम की आकांक्षाओं और सपनों को गहरा आघात लगता है । उसे

- -

1. परिशिष्ट - गिरिराज किशोर - पृ. 13

मध्यकालीन भाषा में बार बार यह एहसास कराया जाता है कि वर्ण व्यवस्था को भंग करके यदि अपनी आकांक्षाओं को विस्तार दिया तो यह विनाश का कारण बन सकता है । अपने पिता की बेचारगी को देखकर अनुकूल को बड़ा दु:ख होता है । उसके मन में कई तरह के उधेड़बुन पैदा होते है । वह सोचता है -"बाबू के कपड़ों पर न कभी दाग देखा और न सलवट एक जोड़ा चाहे चार दिन क्यों न पहना हो, पर बाबू ने जस का तस रखा और उतार दिया । पर बाबू के मन में जरूर हर समय एक सलवट रहती है, हम छोटे हैं, हम दलित हैं और अस्पृश्य हैं, लेकिन क्यों ?"[1]

आखिर बावनराम के बेटे को आई.आई.टी. में दाखिला मिल जाता है । वहां कमजोर वर्ग के छात्रों पर हो रहे दमन को देखकर अनुकूल का मन तिलमिला उठता है । सबसे पहले मोहन की हत्या का दर्दनाक दृश्य उपस्थित होता है । उसे पंखे से लटकाकर आत्महत्या साबित कर दी जाती है । तभी से राम उजागर के मन में एक गहरी दहशत घर कर जाती है । उत्तेजित होकर वह बार बार चिल्ला रहा है - अनुकूल आदि सब लड़कों को रस्सियों में बांधकर लटका दिया गया... उनके पांव जमीन से ऊपर उठ गये है । इधर खन्ना और उसके साथी हर उस छात्र को दण्डित करने पर उतारू हो जाते है जो उनकी रियाया बनने से इंकारकरते हैं । अनुकूल भी उनमें से एक है । लिहाजा अनुकूल को पिटाई सहनी पड़ती है । संस्थान का प्रशासन खन्ना जैसों का कुछ नहीं बिगाड़ पाता । मगर अनुकूल हिम्मत नहीं हारता है ।

उच्च जाति वाले विद्यार्थियों की टिप्पणियों का वह डटकर जवाब देता है । वहकहता है --"आप लोग ये समझते है कि जो लोग

---

1. परिशिष्ट - गिरिराज किशोर - पृ. 22

निचले वर्ग से आते है, उन सबके यहां यही सड़े मुर्दे ढ़ोने का काम होता है । आप इस तरह भी तो सोचिये कि अधिकतर ब्राह्मणों के यहां अब पूजा पाठ नहीं होता.... वे संस्कृत तक नहीं जानते है । ठाकुर लोग धंधा करने लगे है... सब नौकरियों की तरफ दौड़ते है । इसी तरह का परिवर्तन नीची जातियों में भी हुआ है ।"[1]

दलित वर्णों के पारस्परिक अंतर्विरोध भी है, जो अनुकूल की मां पार्वती के मानसिक रचाव से उभर कर सामने आते है । पार्वती को जब यह ज्ञात होता है कि उसका बेटा अनुकूल एक वाल्मीकि के लड़के बाबूराम के साथ हॉस्टल में रहता है, तब वह अपने को सवर्णों की मानसिकता से अलग नहीं कर पाती -"क्या इसी दिन के लिए अनुकूल को पाल पोसकर बड़ा किया था कि वह अगत बिगाड़ दे ? जनम -करम में थूक दिया ।"[2]

चौधरी साहब स्वयं बावनराम की जाति से आये हुए थे । लेकिन सत्ता में आने के बाद शासक वर्गीय विचार धारा के प्रतिनिधि बन जाते है और सहयोग भाव के बावजूद बावनराम से खास दूरी बरतते हैं ।

उपन्यास में आरक्षण व्यवस्था के प्रति भी आक्रोश व्यक्त किया गया है । अनुकूल अपने वर्ग के लोगों को यह समझाने की कोशिश करता है कि यह जो आरक्षण की व्यवस्था है यह राजनीति से प्रेरित है, यह

---

1. परिशिष्ट - गिरिराज किशोर -पृ. 127
2. -वही- पृ. 102

अपने वर्ग को दुर्बल बनाता है । "मुझे लगता है कि राजनीति के लोगों ने छूट के छोटे छोटे टुकड़े डालकर अपना तो स्वार्थ सिद्ध किया, पर हम लोगों का रहा सहा सत्य भी हर लिया । बैसाखियाँ थमा दी गयी, जिससे पाँव कमजोर बने रहे । जब चाहे बैसाखियाँ हटा ले और हम लोग धड़ाम से जा गिरे ।"[1]

उपन्यास में दलितों की समस्याओं के जरिये बुनियादी मानवीय गरिमा को हासिल करने की जद्दोजहद को अभिव्यक्ति दी गयी है । नियति के अभिशाप के बावजूद बावनराम में जिजीविषा और बेहतर मनुष्य बनने की आकांक्षा बरकरार रहती है । एक और अहम मुद्दा जो इस कृति की अंतर्वस्तु से उभरता है, वह यह है कि शिक्षा आवाम में चेतना और जागरूकता लाने का सबसे सशक्त माध्यम है । "लेखक ने दलित वर्ण तथा सवर्णों के बीच की लड़ाई को व्यवस्था में आधार भूत परिवर्तन के संघर्ष तक विस्तार देने की कोशिश की है । लेकिन कथ्य क की विशिष्ट प्रकृति के कारण यह कोशिश "अंडर टोक" में ही व्यक्त हो सकी ।"[2]

3.11. दलित उत्पीडन का रचनात्मक प्रतिफलन - छप्पर :

दलित आन्दोलन को गति देने वाले कुछ महान रचनाकारों में जयप्रकाश कर्दम का नाम गौरव के साथ लिया जा रहा है । "छप्पर" उनका सबसे चर्चित उपन्यास है । इस उपन्यास में हिंदी साहित्य जगत में तहलका मचा दिया है । कुछ विद्वानों ने इसे पहला दलित उपन्यास

---

1. परिशिष्ट - गिरिराज किशोर - पृ. 166
2. समकालीन भारतीय साहित्य-अंक 25 जुलाई - सितंबर, 1986
पृ. 167

का श्रेय तक दे दिया है । डा० एन सिंह लिखते हैं, "जयप्रकाश कर्दम का उपन्यास छप्पर ऐसा ही परिवर्तनकारी उपन्यास है, जिसे मैं हिंदी का पहला दलित उपन्यास मानता हूँ ।" ऐसा नहीं है कि इससे पूर्व लेखकों ने उपन्यास लिखे नहीं या वह प्रकाशित नहीं हुए है । इससे पूर्व भी उपन्यास लिखे गये है, लेकिन इनमें दलित चेतना की अभिव्यक्ति नहीं हुई है । इसलिए "छप्पर" को ही पहला दलित उपन्यास माना जाना चाहिए । ऐसा मेरा विनम्र मत है ।"[1]

"छप्पर" की कथावस्तु, एक मजदूर परिवार के युवक चंदन की शिक्षा के लिए संघर्ष की कहानी है । जिसमें उसकी माँ रमिया और पिता सुक्खा को गाँव के ब्राह्मण, बनियों और ठाकुरों द्वारा मिलकर उत्पीड़ित किया जाता है .. कि वह सदियों से चली आ रही परंपराओं को तोड़कर अपने लड़के को शहर पढ़ने भेजता है । उपन्यास-कार ने भारतीय गाँव में दलितों की स्थिति का बड़ा सजीव वर्णन किया है ।

भारतीय गाँव में दलितों को अस्पृश्य माना जाता है इसलिए उन्हें गाँव से बाहर रहने दिया जाता है । "अन्य भारतीय गाँव की तरह मातापुर में भी थोड़े से लोग सुखी और सम्पन्न तथा शेष लोग दीन और दरिद्र है । सुखी सम्पन्न लोगों में सवर्ण कहलाने वाले ब्राह्मण पुरोहित, ठाकुर जमींदार तथा लाला साहूकार है । दूसरे गाँव की तरह सवर्ण लोग ऊपर की ओर तथा अवर्ण कहे जाने वाले दलित

- -

1. अगुत्तर - अप्रैल - जून - 1995 - पृ० 61

लोग गंगा के बहाव की ओर निचान में बसे है ।"[1] गरीबी दलितों में आम बात है । "जो लोग दलित और दरिद्र है, उनके पास रहने सहने तथा एकाध पशु जो वह पालते हैं, उन सबके लिए कुल जमा गारा मिट्टी की दीवारों पर घास फूस के छप्पर या झोपड़िया है ।"[2]

उपन्यास का जुझारू नायक चंदन समूचे दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है । खेतिहर मजदूर सुक्खा का सुपुत्र और मां रमिया का नैनिहाल चंदन गांव की पढ़ाई पूरी कर शहर आकर अध्ययन के माध्यम से अपना भविष्य संवारता है । वह इंजीनियर,डाक्टर, वैज्ञानिक अथवा कोई बड़ा अफसर बनने का मोह त्याग कर समाज सुधारक बन जाता है और शहर की कच्ची बस्ती यानि जे॰जे॰कालोनी के मटमैले, शैक्षणिक परिवेश से उपेक्षित बच्चों के लिए स्कूल खोलकर बाबा साहेब अम्बेडकर के नारे "शिक्षित बनो" को क्रियान्वित करता है । चंदन हरिया नामक एक व्यक्ति के घर में आकर रहता है । हरिया उसे चन्दन ही मान लेता है और जीवनोपयोगी सुविधायें तो उपलब्ध कराता है और मकान का किराया भी नहीं लेता है । चन्दन बच्चों को पढ़ाने के साथ दलितों में व्याप्त कुप्रवृत्ति एवं नशाखोरी को भी दूर करना चाहता है । "हरिया भी खूब दारू पीता है ॥ जब देखों तब दारू के नशे में धुत्त रहता है । दिन में पीता है, शाम को ठेके पर जाकर पीता है और अगली सुबह फिर प्याले में चाय की जगह दारू की जरूरत होती है उसको । यह दारू ही है जो हरिया को यह नहीं सोचने देती कि दुनिया में क्या हो रहा है ।"[3] चन्दन लोगों को शिक्षित करना चाहता है । "यह मान्यता गलत है कि यज्ञ करने से भगवान इन्द्र प्रसन्न होंगे और तब वर्षा होगी ।

---

1. छप्पर - जयप्रकाश कर्दम - पृ॰ 9

2. -वही- पृ॰ 9

वर्षा होगी मानसून के आने से ।... इसलिए मेरा कहना है कि यज्ञ वज्ञ से कुछ होने वाला नहीं है । दुनिया में ऐसा कोई देवता या भगवान नहीं है और इसलिए उसके द्वारा वर्षा कराए जाने की कोई संभावना नहीं है ।"[1]

उपन्यास में बलात्कार की शिकार कमला की कहानी काफी खौफनाक है । एक समय अपने पिता के साथ भट्टा पर काम करते उसकी किशोर उम्र भट्टा मालिक और उसके दरिंदे साथियों की वासना की शिकार हो गई थी । वह हृदय विदारक हादसा आज छः वर्ष के बच्चे के रूप में एक साया की भांति कमला के साथ है । इसे देखकर चन्दन सोचता है । "कैसी विचित्र व्यवस्था है इस समाज की, एक ओर आततायी भेड़िये है और दूसरी ओर कमला जैसी निरीह और असहाय युवतियां है । एक ओर सृष्टि का आधार माना जाता है, औरत वह, देवी है, मां है, उसके पैर छुए जाते है, दूसरी ओर कमला जैसी युवतियां हैं, जो समाज के लिए खिलौना, जिनको पुरूष का एक वर्ग अपनी वासना तृप्ति का साधन मात्र समझता है, उसके साथ बलात्कार किया जाता है ।"[2]

मातापुर गांव के जमींदार के अत्याचार जब असहनीय हो गए तो सुक्खा और उसकी पत्नी रमिया घर और खेत छोड़कर कस्बे में आकर रहने लगे थे । इन तमाम विरोधों के बावजूद चन्दन अपना आन्दोलन रोकता नहीं है । कमला, रजनी, हरिया आदि लोग अब चंदन के "कारवां" की पंक्तियां है ।

- -

1. छप्पर - जयप्रकाश कर्दम - पृ. 19

2. -वही- पृ. 53

उपन्यास हर दृष्टि से सफल है । रत्न कुमार सांभरिया लिखते है - संवेदना ही साहित्य की पर्याय होती है और इसी से किसी सृजन की प्रभावोत्पादकता बढ़ती है । छप्पर का कथानक बेहतरीन है, लेकिन संवेदनशीलता के अभाव में कमजोर पड़ गया है ।"[1] डा0 तारा परभार लिखती है -"इस उपन्यास में घटनाक्रम की न्यूनता है और मात्र दो तीन परिवारों के सुख - दुख को अभिव्यक्ति देने और लम्बे लम्बे संवादों के द्वारा शिक्षा एवं संघर्ष के पिष्ठ प्रेषण को ही प्राथमिकता दी गई है ।"[2]

3·12· सवर्ण वर्चस्व को चुनौती - "सर्प गंधा" :

"सर्पगंधा" शैलेश मटियानी जी द्वारा लिखित सद्य उपन्यास है । दलित उत्पीडन की गहराई को उन्होंने समझा है । रामनिहाल गुंजन लिखते हैं, "एक संवेदनशील रचनाकार कोकोई जाति या धर्म नहीं होता है । शैलेष मटियानी जी ऐसे रचनाकारों में है जिन्होंने दलित जीवन की पीड़ा को सिर्फ देखा ही नहीं, बल्कि स्वयं झेला है । "सर्पगंधा" उनकी गहरी संवेदना की अभिव्यक्ति है ।[3]

दलित जीवन की दुर्दशा एवं उत्पीडन पर केन्द्रित इस उपन्यास में कृष्ण मास्टर एवं नारायण दो प्रमुख पात्र है । कृष्ण मास्टर जितने उदारवादी है, नारायण उतना ही जुझारू एवं संघर्षशील है । सदियों से चली आ रही प्रथा एवं परम्पराओं के प्रति नारायण अपना आक्रोश प्रकट करता है । वह बड़ा ही स्वाभिमानी है । हमारे समाज में

- -

1· राजस्थान पत्रिका - 26 मई -1996 - पृ· 3

2· प्रज्ञा {साहित्य} जून - 1995 - संपादक डा0 रामकृष्ण राजपूत

3· वातायन - अप्रैल - जून -1994 -अंक - पृ· 66

दलितों के प्रति अपनाये जाने वाले भेदभाव को देखकर उसका मन तिलमिला उठता है । वह सोचता है, "स्वागत के लिए आसपास के कई गावों का दल आया था, थोड़े ब्राह्मण, थोड़े ठाकुर और बाकी हरिजन । हरिजनों वाला जत्था ढोल दमामे और तुरहियों से लैस क्यों ?"[1]

सवर्ण वर्ग के लोग अपने आस पास दलितों को बैठने नहीं देते है । दलितों के लिए अलग जगह होती है । यहाँ तक चाय की दुकान में भी दलित के लिए अलग ग्लास होती है । नारायण देखता है -"अंगीठी के इर्द गिर्द ठाकुर और ब्राह्मण लोग जा बैठे थे । हरिजन जैसे किसी अदृश्य शक्ति के खींचे हुए से पीछे ही छूट गए और उनका पूरा गोल अब पीपल के नीचे आ गया । अंगीठी की आँच को सवर्णों के द्वारा पूरी तरह से छेंक लिया जाना ठंड से ज्यादा चुभ रहा था ।"[2]

आजादी के बाद से आज तक राजनेता वोट के समय ही दलितों को अपना मोहरा बनाते है । चुनाव से पहले कुछ ललचाने वाले वादा करते है, चुनाव के बाद वे सबकुछ भूल जाते है । उपन्यास के नेता जी भी इसके अपवाद नहीं है, वे कहते है -"मेरे पास वक्त बहुत थोड़ा है और यहाँ से अपने हरिजन बंधुओं के साथ मुझे उनके स्कूल तक जाना है और उनकी समस्याओं को सुनना और उनके हलों को खोजना है ।"[3] मगर नेता जी हमेशा हल ढूंढते है । किन्तु उन्हें हल कभी मिलता नहीं है । उनकी पाखण्ड प्रवृत्ति को नारायण कुछ कुछ समझने लगा था ।

---

1. सर्पगंधा - शैलेष मटियानी - पृ. 6
2. -वही- पृ. 6
3. -वही- पृ. 9

इसलिए उसे लगता था - "हम डोमो की नेतागीरी जब तक इन लोगों के हाथों में रहेगी, हमारा गीधों की तरह का यह अलग बैठना कभी खत्म नहीं होगा । यारों ! अभी देखना चाय पीने को मिलेगी, तो बाकी सब के गिलास यह शख्स खुद धोयेगा, मगर हम लोगों से उम्मीद करेगा कि खुद धोकर उलटे रख दें ।"[1] कल्पनाशील नारायण भावुक हो उठता है । -"रात को अपनी कल्पना में नारायण ने एक छोटा सा भाषण भी तैयार किया था - जिसमें ज़ोर इसी बात पर था कि जबतक हरिजन समाज अपने बीच से अपने नेता खुद पैदा नहीं करेगा, पिछड़ापन मिटना मुश्किल ही रहेगा ।"[2]

नारायण के काम में कृष्ण मास्टर भी सहयोग देते है । दोनों मिलकर सबसे पहले दलितों को शिक्षित कराना चाहते है । उनके बीच अज्ञानता को मिटाकर उन्हें सच्चाई से परिचित कराना चाहते है । नारायण को लगता है "हमारे समाज में ऐसे लोगों की संख्या ज्यादा है जो वही महसूस करते है, जैसा उन्हें दूसरों के द्वारा महसूस कराया जाता है । वह हमारे समाज की बहुत बड़ी वंचना है ।"[3]

दलितों में भी भेदभाव एवं अंर्तविरोध देखने को मिलता है । कृष्णा मास्टर चाहते है सबसे पहले दलितों में एकता की भावना आनी चाहिए । अगर इनमें भेदभाव हो तो राजनेता इसका लाभ उठाते है और अपना उल्लू सीधा करने के लिए, इन्हें मोहरा के रूप में इस्तेमाल करते है । उपन्यास की कथावस्तु राजनैतिक घटनाक्रम पर आधारित है । अत:

- -

1. सर्पगंधा - शैलेष मटियानी - पृ. 7
2. -वही- पृ. 30
3. -वही- पृ. 39

यह दलितों में राजनैतिक चेतना को पैदा करने वाला उपन्यास है । कृष्णा मास्टर कहता है, "देखिए जब हरिजनों में ही टमरा लोहार, ओद, ढोली, मोची, चमार, भंगी, कंजड जैसे फिरके परस्ती की भावना रहेगी तो, हरिजन एकता की बात करना व्यर्थ है ।"[1]

कभी कभी राजनेताओं से प्रेरित होकर दलित आपस में लड झगड लेते है । सच पूछो तो नेता किसी के नहीं होते है । "राजनीति में सिर्फ कुर्सी के खिलाड़ी बदल गए है । आपके कल्याण ठाकुर जैसे सवर्ण नेता जो बहुत हरिजन कल्याण राग अलापते हैं, इसके पीछे यह अन्दरूनी निश्चिन्तता है कि जातिवाद का जो महाभारत ये लोग रच रहे हैं, इसमें पीसना आखिर कमजोरों को ही होगा । यों भी कुर्सी के खिलाड़ियों का सच्चा वास्ता किसी से नहीं होता है । नेता शुद्ध नेता है, चाहे फिर वह सवर्णों का हो या हरिजनों का ।"[2]

"उपन्यास का कथानक राजनैतिक घटनाक्रम पर आधारित है, जो दलितों में राजनैतिक चेतना जगाने में सहायक सिद्ध होता है । उपन्यासकार ने दो टूक शब्दों में आज की राजनीति से प्रेरित खेल का पर्दाफाश किया है ।

3·13· दलित चेतना का आक्रामक तेवर -"मिट्टी की सौगंध" :

प्रेम कपाड़िया नवीन पीढ़ी के आक्रामक तेवर वाले दलित लेखक हैं । उनके उपन्यासों में दलित उत्पीड़न को वाणी दी गयी है ।

1· सर्पगंधा - शैलेष मटियानी - पृ· 40

2· वातायन - अप्रैल - जून - 1994 अंक - 8 -पृ· 67

"मिट्टी की सौगंध" के लिए उन्होंने शीर्षक लिखा है -"दलित साहित्य का प्रतिनिधि उपन्यास ।" डा० पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी लिखते है, "मिट्टी की सौगंध में लगता है उपन्यासकार ने दलितोद्धार के लिए कटिबद्ध है ।[1] दलितों का शोषण आज नया नहीं है, यहक्रम सदियों से चलता आ रहा है, मगर दलितों की आवाज़हीन सहन ने उसे और बदतर बना दिया था। आज दलित मूक दर्शक नहीं है । उनमें चेतना का अंकुरोदम हो चुका है । अगर उनका अधिकार उन्हें सहर्ष लौटाया नहीं जाता है तो वे छिनने के लिए तैयार हो चुके है । डा० गोपाल कृष्ण हाडा लिखते है --"दलितों में आयी चेतना की लहर को प्रेम कपाड़िया ने "मिट्टी की सौगंध" में विस्तार दिया है ।"[2] मिट्टी की सौगंध की कथावस्तु ग्रामीण वातावरण पर केन्द्रित है । गांव का जमींदार मदन सिंह के शोषण एवं अत्याचार के खिलाफ नवीन पीढ़ी की आक्रामकता को इसमें वाणी दीगयी है ।

इस उपन्यास का नायक विजेन्द्र एक दलित युवक है । अपने गांव में हो रहे अत्याचार को देखकर उसका हृदय तिलमिला उठता है । अत: अपने सभी दलित साथियों को लेकर वह दलित सेना गढ़ता है और सवर्ण वर्चस्व को ललकारता है । उपन्यास का आरंभ एक दलित युवती पर बलात्कार से होता है । मगर इस बार शीला शांत नहीं रहती है, वहप्रतिशोध लेना चाहती है ।"उसकी आंखों में आंसू भरे थे, लेकिन पेट में एक आग सी जल रही थी, एक ऐसी आग, जो उसे

- -

1. सुमनलिपि - नवम्बर - 1995 - पृ. 42

2. दैनिक लोक सम्मत - 28 अगस्त - 1996 - पृ. 30

बार बार हवा के झोंके के समान झुलसा जाती थी । वह इस समय अपने कच्चे मकान की छत के नीचे टूटी खाट पर लेटी.... छत की कड़ियों को धुंधली नजरों से देख रही थी ।"[1]

गाव का ठाकुर सबका शत्रु है । इसलिए दलित युवक एक सभा में एक फैसला करते है कि वे मिलजुल कर ठाकुर का सामना करे । "साला ठाकुर का बच्चा - हरिया गन्ने का जूस निगल खोया थूकने के बाद बोला - मेरी पढ़ाई के लिए बापू ने पाच हजार का कर्जा लिया था, साले ने लिखवाया पच्चीस हजार । "लेकिन सूरज हम दोनों का एक ही दुश्मन है --"क्यों न हम मिलकर ठाकुर के खिलाफ संघर्ष करे... और जितने लोगों को ठाकुर ने सताया हम सब एक होकर उससे लड़े ।[2]

दुनिया चाहे कितना ही बदल क्यों न जाय, मगर भारतीय समाज अपनी जगह ठहरा हुआ है । आज भी ग्रामीण परिवेश में छुआछूत का भेदभाव है । दलितों को गांव से बाहर बसने केलिए मजबूर किया जाता है । हरेक गांवों में दलितों को आम बस्ती से अलग ही बसाया जाता है, यहां तक पानी भरने के कुएं भी अलग होते है ।"[3] सिर्फ गाव में ही क्यों, यहां तक दफ्तर में लोग दलित कर्मचारियों पर फब्तियां कसते हैं । दरोगा जी दलित है, इसलिएहमेशा उनकी जाति उनके नाम के साथ जुड़ा रहता है - "दरोगा जी अभी अभी कहीं जाने वाले है, चाहे तो मिल लो, वैसे हरिजन है, कुछ ऐंठ भी ज्यादा ही है ।"[4]

- -

1. मिट्टी की सौगंध - प्रेम कपाड़िया - पृ. 9

2. -वही- पृ. 19

3. -वही- पृ. 19

4. -वही- पृ. 20

दरोगा जी दलित है, इसलिए वे दलितों में एकता की भावना जगाना चाहते है । गाँव में फैले अन्याय अत्याचार को मिटाने के लिए सबसे बड़ी ताकत जनता है, इसलिए उन्हें मिलजुल के लड़ना चाहिए । दरोगा जी कहते है -"हम सब दलित है, लेकिन हमारी ताकत बहुत कम है..... अगर जुल्मों को खत्म करना है, तो हम सबको एक साथ मिलकर काम करना होगा ।"[1] दलित युवक दरोगा जी से प्रेरित होकर ठाकुर से बदला लेने के लिए एकजुट होते है । एक सवर्ण युवक दलित युवती से प्रेम करता है । वह जब शादी करने की बात करता है, तो परिवार के लोग बौखला उठते है । ठाकुर की माँ कहती है - "हमारा खान-दान जमींदारों का है.... हमारे खानदान में ऐय्याशी के लिए चुनी लड़की या औरत जमींदार घराने की बहू नहीं बनाई जा सकती । क्योंकि जो हमारे जूते बनाते है, हमारे घरों की गंदगी साफ करते हैं ..... वे हमारे लिए अछूत है..... और एक अछूत हमारा रिश्तेदार कैसे बन सकता है ।"[2]

इन तमाम जुल्म से निपटने के लिए दलित युवक मिलकर न्याय सेना बनाते है, और अन्याय सेना का मुख्य काम दलितों पर हो रहे अत्याचार को रोकना है । "एक न एक दिन मुकाबला तो करना ही था, लेकिन वह स्थिति जल्दी आ गई है... न्याय सेना को अब यह स्थिति जल्दी आ गई है... न्याय सेना को अब यह चुनौती देनी ही होगी कि अब राम नगर में दलितों पर जुल्म बरदाश्त नहीं किया जा सकता है ।"[3]

---

1. मिट्टी की सौगंध - प्रेम कपाड़िया - पृ. 27
2. -वही- पृ. 43
3. -वही- पृ. 72

"मिट्टी की सौगंध में दलित समाज की यातनाओं उनके साथ किये जा रहे पाखंडपूर्ण एवं अमानवीय सामाजिक व्यवहार अथवा उसकी दुर्गति, उपेक्षा, उत्पीड़न, प्रवंचना की कथा के माध्यम से प्रेम कपाड़िया ने महज अपनी रचनात्मक भूख को शांत करने की कोशिश की है ।"[1]

3.14. वन वासियों में नई चेतना - गगन घटा घहरानी :

"गगन घटा घहरानी" मन मोहन पाठक जी का प्रथम उपन्यास है । आलोचक गण इसे दलित उपन्यास की श्रेणी में रखते हैं ।

उपन्यास का केन्द्र बिन्दु बारवाडिह नामक एक आदिवासी गांव है । उसमें बसे शोषित एवं अभिशाप्त आदिवासियों के जीवन का लेखक ने यथातथ्य वर्णन किया है । अपने लेखकीय कथन में लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसने जैसा इस मोहल्ले को बचपन से देखा वैसा वर्णन किया है ।"मैं यह सब देखकर बहुत ही उद्विग्न होता था कि आर्थिक अभावों की चक्की में युगयुगान्तरों से पिस रहे आदिवासी अब भी यातनाओं को भोग रहे हैं । जिस भूमि पर वे रहते, जिस जमीन को वे जोतते हैं, यहां तक कि जिन छप्परों में वे रहते हैं, कुछ भी उनका नहीं है ।"[2]

"इसमें आदिवासी ग्राम की एक एक गली, झोंपड़ी, मजार अपनी सारी गन्दगी और गलाजत के साथ प्रस्तुत हुए हैं । लेखक ने अपनी स्मृति कोष में संजोई इन निर्मम सच्चाइयों को बखूबी उजागर किया है, जिसमें अनुभव की प्रामाणिकता का संस्पर्श मिलता है ।"[3]

---

1. सुमन लिपि -हिंदीमासिक नवम्बर - 1995 -पृ. 45
2. गगन घटा घहरानी - पृ. 1
3. आंचलिक उपन्यास - संवेदना और शिल्प -डा0 ज्ञानचन्द्र गुप्त-पृ. 108

आदिवासियों के जीवन के वर्णन का जहां तक प्रश्न है, वह सजीव स्पष्ट, बेलाग और प्राकृतिक है । बनावट की उसमें कहीं गंध नहीं है । लेकिन सारा वर्णन सतही और सपाट है, क्योंकि लेखक का मन आदिवासियों के मर्म को छूता हुआ उसे अभिव्यक्त करने में रमा नहीं है । उसने ऐसा करने का प्रयास नहीं किया ।

उपन्यास का नायक जागो है, जो सेवकिया है । लेखक आदिवासी जीवन की पीड़ा का वर्णन करते हुए लिखते हैं । " जागो सेवकिया ही पैदा हुआ था, गुलामी के लिए ... लेकिन तब उसे एक बात समझ में नहीं आती कि बकरी के जिस बच्चे को वह खिला पलाकर तैयार करता है, मालिक के आदमी आते और उसे उठाकर चल देते है । उसे बड़ा क्रोध आता । फिर मुर्गी के बच्चे भी जाने लगे । खेतों में जो अनाज होता है, उसकी भी दो तिहाई मालिक के आदमी बांटकर ले जाते ।"[1]

आदिवासी बड़े सरल होते है । उनके समाज में भी शोषण की प्रक्रिया तेज है । जागो कहता है । "......ससुर के क्रिया कर्म के लिए दो मन अनाज और 60 रूपये लेने पड़े थे ....दू मन का तीन साल में बारह मन लोटाया । तबो से कटिखे नइखे, बाकिए है और मांग करते हैं - ग्यारह मन तुम और देओ ।"[2] आदिवासियों की सरलता का लाभ उठाकर उनके बीच बसे कुछ संपन्न लोग उनको लूटते है । राम बहादुर उपन्यास का ऐसा ही एक शोषक चरित्र है । "कितना कहा है रेहन रखनी भी है । जमीन तो कहीं और किसी के हाथ रख आओ । राम बहादुर के हाथ चढ़ा खेत आज तक कोई लौटा नहीं पाया ।"[3]

---

1. गगन घटा घटरानी - पृ. 4

2. -वही- पृ. 4

3. -वही- पृ. 26

उपन्यास का दूसरा प्रमुख चरित्र चैतू है । वह सुगिया से प्रेम करता था । अपने समाज के विरोध के बावजूद भी वह विवाह करना चाहता है । यही चैतू आगे चलकर लोगों में चेतना लाने का काम करता है ।"बचपन से ही वह व्यवस्था से बगावत करना चाहता था । पर लोहा पीटने में उसका मन जरा भी नहीं लगता था । उसका भी मन होता था सुगिया के संग घूमने का। साग कुतर - कुतर कर खाने का। मकई के खेत वाले ऊँचे मचान पर चढ़कर जोर - जोर से गाने । पर बाप के भय से मन मारकर भाभी का चेतन खींचते रहना अथवा हाथ दुखने तक घन चलाता रहता ।"[1]

चैतू का विद्रोह मन में दबके रह जाता है । उसे जब सोना राम का सहारा मिलता है, वे फिर से एक बार जाग उठते है । सोनाराम समाज में उभरा एक जुझारू पात्र है । वह शोषण का अंत हिंसा के बलपर करना चाहता है । वह कहता है -"अरे पागल आदमी ठान ले तो कुछ भी कर सकता है.... अत्याचार सहते सहते लोगों की आदत पड गई है । वरना हम तुम क्या किसी दिक् से कमजोर है, जो उनकी जूतियाँ चाटते रहे । देखते देखते सारी जमीन छीन गयी । आदमी का उसके तन पर भी अधिकार न रहने दिया । यह बस सहते चले जाने के कारण ही तो है । जिस रोज लोग साथ मिलकर खडे होंगे, अन्याय को साहस के साथ अन्याय कह सकेंगे, यह सब बन्द हो जायेगा ।"[2]

आदिवासी समाज में नशापान आम बात है । शराब पता नहीं कितने परिवारों को लील जाती है । सोनाराम को लगता है, शराब एक ऐसा अस्त्र है जिससे आदिवासियों की हत्या हो रही है, मगर उनको

- -

1. गगन घटा घहरानी - पृ. 36

2. -वही- पृ. 111

इसका एहसास नहीं होता है । इसलिए सबसे पहले सोनाराम आदि-वासियों को शराब न पीने को आह्वान करता है । उनको समझाता, बुझाता है कहता है "दारू हमारे दिमाग को भोथरा कर देता है । हमारी समझ में कुछ नहीं आता और दिकू हमें गुलाम बना देते है । हमारी जमीन छीन लेते है, हमारी जमीन पर कब्जा कर लेते हैं, हमारे ही घर से हमें बेघर कर देते है और हम देख भी नहीं पाते ।"[1]

आदिवासी समाज के उजड़ जाने से, उनकी स्थिति बड़ी दयनीय हो गई है । अधिकांश आदिवासी बंधुआ बनकर जीवन बिताता है । इसका कारण है जंगल का कम होते जाना । रोजगार की सुविधा न होने के कारण ये मजबूर होकर अपना क्षेत्र छोड़ के भाग जाते हैं । सोनाराम कहता है "भागना पड़ेगा नहीं भागना पड़ रहा है । लेखा देखो इतनाबड़ा गांव है, लेकिन समूचे गांव में तुमको आदमी खोजने से मिलेगा । सब चले गये ईंट भट्टा में । ईंट पाथने बंधुआ बनकर । और वहां से भी क्या लाते है । रूपया पैसा ? वहां सब बीमार ब सीमार पड़के कुंखते कांखते आते हैं । छोटे छोटे बच्चे ईंट ढोते ढोते मर जाते हैं ।"[2]

सोनाराम अपने समाज में एकता लाकर उसे बचाना चाहता है । वह कहता है "दादा ! उनका कर्म उनका समाज तो हमारे समाजों को, गांवों को लीलता जा रहा है । दादा ! हमारा धर्म, हमारे देवता क्या इतने कमजोर हैं कि अपने लोगों को बचा नहीं सकते हैं ।"[3]

---

1. गगन घटा घहरानी - पृ. 113
2. -वही- पृ. 79
3. -वही- पृ. 180

इस तरह जागो से शुरू हुई लड़ाई सोनाराम पूरा करता है । उपन्यास का सफल अंत होता है । "हफ्ते भर में वन में एक भरा पूरा गांव बस गया, दो गांवों का मिलाकर एक गांव, एक घर, यहां अलग अलग आंगन दुआर, अलग अलग चूल्हा चक्की न थे, झोपड़ियाँ कई थीं पर घर एक था ।"[1]

3·15· दलित संवेदना और चेतना का वाहक - "धार" :

"धार" आज के युग की आपाधापी के बीच भारतीय संस्कृति के मूलभूत सिद्धांतों के विरूद्ध विद्रोह करने वाली एक सामान्य नारी मैना की कहानी है । वह अपनी उन्नति के साथ साथ समाज को भी उन्नत बनाते हुए अंत में स्वयं का बलिदान दे देती है ।

यह उपन्यास मार्क्सवादी धरातल पर रचा गया है । उपन्यास की नायिका मैना आदिवासी वर्ग से संपर्क रखता है । वहब्राह्मण वर्ग की पाखण्ड प्रवृत्ति की धज्जियां उडाती है । वह जिससे प्रेम करती है, वह अपने आप को उच्च जाति का समझता है । मगर इस उपन्यास में एक द्वन्द्वग्रस्त पात्र है । मैना उससे कहती है - "मगर जी अपने यहां कुछ ब्राह्मणों के भी घर ऐसे है कि अन्दर चले जाये । गन्दगी से आपका सर फटने लगे, लेकिन आपको एक भीआदिवासी का घर गन्दा नहीं मिलेगा, न अन्दर से, न बाहर से, चाहे वे सुअर ही क्यों न पोसे ।"[2] एक टिप्पणी में लक्ष्मी सहाय लिखते है, "पूर्ववर्ती उपन्यास कारों की तुलना में संजीव के 'धार' में ज्यादा पैनी धार है । पीड़ित

1· गगन घटा घहरानी - पृ· 180

2· धार - पृ· 39

शोषित वर्ग की वेदना को वाणी देने में उनकी कला पाठक मर्म को छू जाती है ।"[1]

आदिवासी संस्कृति को हीन समझने की प्रवृत्ति लोगों में आम है । इसलिए मैना कहती है, "आदिवासी संस्कृति इस मायने में आर्य संस्कृति से बेहतर थी, भले ही वे सांवले हो, आर्य गोरे हो ।"[2]

मैना अपने वर्ग के लोगों में चेतना फैलाना चाहती है । उपन्यास चूंकि मार्क्सवादी धरातल पर लिखा गया है इसलिए शरमा बाबू नामक एक मार्क्सवादी नेता आकर मैना के गांव में डेरा डालते है । वहां के लोगों में चेतना फैलाने का काम करते है । मैना अपने साथियों को उनके अधिकार के प्रति जागरूक करते हुए कहती है -"शरमा बाबू चाअता था कि हमको इज्जत मिले, आदमी की तरह रए - इसका खातिर कहा कहां दरखास नहीं दिया, मगर कोई सुनवाई नहीं .... सब मर गया हाकिम, सरकार भगवान सब ।. आज ई हो सोचने की बात है कि हम ऐसे ई रएगा । पानी का पाइप हमारा छाती पर से गुज़रता है । हमको एक बूंद पानी नहीं, रेल लाइन बगले में है, मगर हमरा खातिर सौ कोस दूर, वोट देने को हमको आज तक कोई बोला नहीं .... हमारा कोई पता ठिकाना नई ।-

अपने क्षेत्र में बन रहे जहर की फैक्टरी को मैना रोकना चाहती है । क्योंकि सबको मालूम है कि जहर की फैक्ट्री लगने से आस पास का माहौल प्रदूषित होगा । आदिवासियों की सरलता का लाभ उठाकर सरकार वहां फैक्ट्री लगाना चाहती थी, मगर मैना कीबहादुरी एवं संगठन की क्षमता ने उसे साकार होने नहीं दिया ।

- -

1. नई धारा - जून - जुलाई - 1992 - पृ. 38

2. धार - पृ. 39

3. धार - पृ. 56-57

मैना अपने लोगों को बगावत के लिए तैयार कर लेती है । वह कहती है... सीधे सपाट आदिवासी जिस बात पर अड़ गये, अड़ गए, उन्हें वहां से कोई टस - से - मस नहीं कर सकता है । अब वे इस बात पर जिद् पकड़ चुके थे कि इस जहर की फैक्ट्री को अपने इलाके में और नहीं चलने देंगे - न खुद इसमें काम करेंगे, न औरों को इसमें काम करने देंगे । उन्हें अपनी जमीन की सलामती चाहिए ।"[1]

उपन्यास में आदिवासियों में आई नवीन चेतना को बड़े सुन्दर ढंग से दिखाया गया है । राजनेताओं की चंगुल में पड़कर आदिवासी अपने सारे अधिकारों को गवां बैठे थे । आज उनके लिए उनका जंगल भी नहीं रह गया है । मैना कहती है -"सौंतलों का सारा जंगल चर कर तो चिक्कन कर दिए ? अब है कहां लकड़ी की धरम बचे ? जिस सौंतल परगना में जंगल ही जंगल था, हुआ" अब लाश फूंकने को लकड़ी गई ?"[2]

राजनैतिक चेतना के आने के कारण वे हर तरह की राजनैतिक सौदेबाजी से सतर्क रहने लगे । "सौंताल परगना और छोटा नागपुर के आदिवासी अंचल ही व मेहनती मजदूरों कीखान थे । लेकिन अब हालत ऐसे आ रहे हैं कि ये झारखंड मुक्ति मोर्चा जब मोर्चा न जाने क्या क्या संगठन बनाकर उकसाये जा रहे है ।"[3]

आदिवासी अस्मिताबोध उपन्यास की केन्द्रीय कथावस्तु, बनाई गयी है । आज आदिवासी अपनी पहचान खो बैठी, उसका

- -

1. धार - पृ. 57
2. -वही- पृ. 73
3. -वही- पृ. 75

अपना सांस्कृतिक धरोहर पीछे छूट गया है । गरीबी एवं शोषण ने उसे एक गुलाम बना दिया है । मैना इस बात कीओर संकेत करते हुए कहती है -"न तुम्हारा रूप सौतलों से मिलता है, न रंग, न भाषा, न आचरण, तुम किसी और ही नस्ल के हो, उस नई नस्ल कीजो अपनी मिट्टी, हवा - पानी से उखड़ कर देश के महानगरों और औद्योगिक कस्बों की तलछट बन जीने को अभिशप्त हैं, जिनका न ठांव है न ठिकाना है ।"[1]

शरमा बाबू से प्रेरित होकर, मैना आन्दोलन छेड़ देतीहै । धीरे धीरे उसके बिरादरी के लोग भी आकर शामिल होते है । किन्तु, आखिर में सरकार एवं शोषक वर्ग का दमनचक्र उन्हें कुचल देता है । मैना को मोहभंग होता है । वह कहती है -"कोच्छ पैदा नहीं । सोचा था, सबाके दिखा देंगे कि काम अइसे होता है । मगर कोच्द पैदा नहीं, हमको जब येई भडवा सरकार का मुंह जोहना है तो, अकेले हमारे सुधर जाने से का होना, हम सच्चाई से रहे, ऊ बेईमानी से भरल रहे ।"[2]

मार्क्सवादी शैली में लिखा गया यह उपन्यास सजीव की यथार्थ अनुभव का दस्तावेज है । दलित चेतना को वाणी देने की दिशा में कई उपन्यास लिखे जा रहे है । "हजारों घोडों का सवार" से लेकर "धार" तक की यात्रा में हमने देखा कि आज के उपन्यासों की कथावस्तु अधिक प्रामाणिक एवं व्यवहारिक है । साहित्य की भूमिका सिर्फ मनोरंजन करना नहीं बल्कि समाजमें फैली दुष्प्रवृत्तियों को दूर करते हुए, शोषित पीड़ित जनता को उनके अधिकार के प्रति जागरूक करना है । आज दलित वर्ग को सहानुभूति पर अधिक भरोसा नहीं है, वह स्वअनुभूति

---

1. धार - पृ. 110

2. धार - पृ. 202

चाहती है । इसलिए दलित साहित्य की लहर प्रबल वेग में नई उफान लिये आगे बढ़ रही है । डा० एन सिंह लिखते है --"किसी भी प्रकार की नूतन चेतना अब साहित्य में अभिव्यक्ति पाती है, तो उसका स्वाभाविक स्वरूप कविता ही होती है । लेकिन उसकी चरम परिणति उपन्यास में होती है । हिंदी में दलित चेतना कीअभिव्यक्ति पहले कविता में हुई ·· · · · हिंदी साहित्य के आधुनिक काल के साथ ही कथा साहित्य में भी दलित चेतना की अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर होने लगती है····· आज के उपन्यासों में बाकायदा दलित शोषण, उत्पीड़न दलितों के सामाजिक, आर्थिक एवं मानसिक शोषण के भी कई चित्र यहां उपलब्ध है ।

4· दलित उपन्यास की संभावनायें :

जैसा कि कहा जाताहै दलित शब्द नया है, परन्तु दलितपन पुराना है । एक विशेष वर्ग का शोषण एवं उत्पीडन सदियों से चलता आ रहा है । हर युग में साहित्यकार उस पर अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करता है । आज दलित जीवन की व्यथा को वाणी देने वाली जो रचनायें आ रही है, उसकी भी एक लम्बी परम्परा है साथ ही इसकी संभावनायें असीम है । आज दलित साहित्य की जो लहर आई है, इसमें उपन्यास सबसे लोकप्रिय विधा के रूप में उभर रहा है । हिंदी में मराठी जैसी समृद्ध दलित साहित्य की परम्परा नहीं है, परन्तु आज यह किसी मायने में कम नहीं है । डा० एन सिंह लिखते है --"किसी भी प्रकार की नूतन चेतना अब साहित्य में अभिव्यक्त पाती है, तो उसका स्वाभाविक स्वरूप कविता ही होती है··· लेकिन उसकी चरम

1· अंगुत्तर - अप्रैल - जून - पृ· 61

परिणति उपन्यास में ही होती है । हिंदी में दलित चेतना की अभिव्यक्ति भी पहले कविता में ही हुई । इसे चाहे रैदास से माने, चाहे उससे पूर्व, जो हीरा डोम से होती हुई, वर्तमान समय तक आती है । हिंदी साहित्य में भी दलित चेतना की अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर होने लगती है । सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के दो लघु उपन्यास बिल्लेसा बकरिया तथा चतुरी चमार..... गिरिराज किशोर के दो उपन्यास 'परिशिष्ट' तथा 'यथा प्रस्तावित' ... में बाकायदा दलित उत्पीड़न शोषण तो अभिव्यक्त हुआ ही दलितों के सामाजिक, आर्थिक, मानसिक शोषण भी कई सजीव चित्र यहां उपलब्ध हुए हैं ।"[1]

दलित जीवन पर लिखने की परम्परा प्राचीन है । हालाकि दलित जीवन को समग्रता में समेट की परम्परा नवीन है । आज यही परम्परा अपनी सारी संभावनाओं के साथ आगे बढ़ रही है । डा० श्रीमती उर्मि शर्मा लिखती है -"यह आवाज यदि निराला, धूमिल, रघुवीर सहाय, शिवमंगल सिंह सुमन, रांगेय राघव आदि लेखकों, कवियों ने उठाई तो उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द ने बहुत पहले ही कथा साहित्य के माध्यम से उसे जन जन तक पहुंचाने का कार्य किया । आज इसी प्रकार के साहित्य का नाम दलित साहित्य या अस्मिता दर्शी साहित्य हो गया है, जिसकी गुहार प्रगतिशील मंच से हुई, जो अपने आप में एक अच्छी शुरूआत थी ।"[2]

अस्मितादर्शी उपन्यासों की श्रृंखला में एक के बाद दूसरी कड़ी जुड़ती जा रही है । मानवता को आधार बनाकर लिखा जाने वाला

---

1. अंगुत्तर - अप्रैल - जून - 1995 - पृ. 61

2. परिषद संदेश - अगस्त - 1994 - पृ. 24

साहित्य कभी मरता नहीं है । डा० पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी लिखते हैं - भारतीय अस्मिता के साक्षात्कार रवीन्द्रनाथ टागोर ने कहा है कि "साहित्य का उद्देश्य मानव है । इस कथन का निहितार्थ यही है कि साहित्यकार चाहे जिस किसी का चित्रण करे वहां जिन्दगी जरूर होगी, मनुष्य जरूर होगा । अन्यार्थ में यही कि वही व्यष्टिके बारे में कहेगा तो भी वहां समष्टि वहां मौजूद होगी ।"[1]

आज दलित जीवन को केन्द्र कर लिखी जाने वाली रचनाओं की गणना दलित साहित्य की कोटि में होने लगी है । दलित साहित्य का दायरा विस्तृत होकर समग्र रचनाधर्मिता को अपने आप में समेटता जा रहा है । यह साहित्य मानवीय सम्बन्धों में मधुरता उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध हो रहा है । मोहन दास नैमिशराय लिखते हैं - "कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि दलित साहित्य मानवीय संबंधों में नीरसता न भरकर उनमें संघर्ष करने की प्रबल भावना भरता है । दलित साहित्य न सगुण धारा को मानता है न निर्गुण धारा को । उसकी तो अपनी ही अलग एक धारा है । जिसका संबंध सीधे सीधे जीवन्तता से है । दलित साहित्य सूरज के उगने के समय चिड़ियों के चहचहाहट तथा कल कलकरती नदी के मोह तथा आकर्षण में नहीं फंसता वह तो चिलचिलाती धूप में कार्य करते सर्वहारा वर्ग से प्रभावित होता है ।"[2]

आज भी समाज में शोषण एवं उत्पीड़न की प्रक्रिया ज्यों का त्यों है । साहित्यकार की संवेदना हमेशा ऐसे शोषित वर्ग से जुड़ी रहेगी । चूंकि उपन्यास एक लोकप्रिय विधा है, यह भी शाश्वत और सार्वभौम बना रहेगा ।

---

1. सुमन लिपि - 1995 - नवम्बर -पृ. 43
2. आजकल - अक्तूबर - 1992 - पृ. 16

उपसंहार

उपसंहार

भौगोलिक दृष्टि से भारत एक विशाल राष्ट्र है । इसकी संस्कृति एवं इतिहास बहुत ही प्राचीन तथा घटनाओं से पूर्ण है । सभ्यता एवं संस्कृति के अनुरूप यहा की समस्यायें भी उतनी ही पुरानी है । वर्णाश्रम व्यवस्था भारतीय समाज का एक कलंक है । इस व्यवस्था के कारण उत्पन्न अस्पृश्यता की समस्या, सदियां बीत जाने के बाद भी अपनी जगह ज्यों का त्यों बरकरार है । इस बीमारी को जड़ से मिटाने के लिए आज तक कई आन्दोलन चलाये जा चुके है, मगर उसका कोई स्थायी सुफल नहीं मिल पाया है । बौद्ध धर्म की महान क्रांति ने इस समस्या की जड़ को हिला तो दिया था, मगर इसे मिटा नहीं पाया । अस्पृश्यता की समस्या एक लाइलाज बीमारी की तरह समाज को अन्दर ही अन्दर दुर्बल बनाती जा रही है ।

वर्णाश्रम की व्यवस्था में परिश्रम करने वाले जीवन्त वर्ग को समाज का सबसे निम्न दर्जा दिया जाता है । इस शोषण मूलक सामंती व्यवस्था का आविष्कार एक स्वार्थी ब्राह्मण वर्ग ने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये किया था , जो कालान्तर में दलितों के लिए एक अभिशाप बन गया था । जन्म जाति से निर्धारित होने लगी । सवर्ण वर्चस्ववादी शक्तियों ने ज्ञान, विज्ञान के आलोक से दलितों को वंचित रखा । ज्ञान, विज्ञान के आलोक से शोषक वर्ग का पोल खुल सकता है, इस डर से दलित समाज

को हर तरह की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों से वंचित रखा गया था । परिवर्तन की आंधी बार बार आती थी, लेकिन सवर्ण शक्तियां हर बार इस आंधी को दिशाभ्रमित कर देती थी, एवं यथास्थिति को बनाये रखने में कामयाब हो जाती थी । यह सिलसिला युगों से चलता आ रहा है । व्यवस्था को बदलने की मांग हमेशा होती रही, परन्तु इस शोषण मूलक व्यवस्था की जड़ इतनी गहरी है, जो तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों में भी परिवर्तनकारी शक्तियों को परास्त कर देती थी । इतिहास उनको भुला देता था । लेकिन परिवर्तन की यह आंधी मिटती नहीं है, समय समय पर यह अपनी उपस्थिति दर्ज करा जाती है ।

भारतीय इतिहास में 80 का दशक ऐसा ही एक परिवर्तन का दौर था । दलित मुक्ति आन्दोलन के इतिहास का यह एक महत्वपूर्ण अध्याय था । साहित्य, कला एवं विज्ञान के क्षेत्र में दलित वर्ग की सक्रिय हिस्सेदारी ने समकालीन दलित मुक्ति संघर्ष को एक नया आयाम प्रदान किया । प्रगतिशील क्रांतिकारी चेतना से ओत-प्रोत दलित समाज को यह महसूस होने लगा कि वे केवल शासित या शोषित होने के लिए अभिशाप्त नहीं बल्कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया में भाग लेकर राष्ट्र को दिशा देने की क्षमता उनमें भी वर्तमानहै । परिवर्तन की लहर स्वतंत्रता संग्राम के दौरान ही फैल चुकी थी, लेकिन यह अंतःसलीला बनके बह रही थी । दलितों के लिए सबसे मुखर लड़ाई 19वीं शताब्दी में महात्मा ज्योतिबा फुले ने लड़ी, किन्तु उसे सफलता के सोपान तक 20वीं शताब्दी में डा0 बाबा साहेब आम्बेडकर ने पहुंचाया । इसके अतिरिक्त छत्रपति शाहूजी महाराज, पेरियर रामस्वामी नायर, नारायण गुरू, बिरसा मुंडा एवं डा0 जेपाल

सिंह आदि चिंतकों द्वारा सामंती संस्कृति के विरूद्ध चलाये गये आन्दोलन ने दलितों के जीवनमें एक नई चेतना का संचार किया । यही नई चेतना आगे चलकर दलित समाज में परिवर्तन का आधार बनी । दलितों में आए इस नवजागरण ने उनके जीवन के हर पहलू को प्रभावित किया । स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान का निर्माण हुआ। संविधान के अनुच्छेदों में दलित हितों की रक्षा के लिए कई प्रावधान रखे गये । अस्पृश्यता निवारण विधेयक पारित हुआ । दलितों को अधिकार देने के लिए कई कार्यक्रम एवं योजनायें शुरू की गयी । दलित नवयुवकों को शिक्षा एवं रोजगार के क्षेत्र में न्याय दिलाने के लिए आरक्षण की व्यवस्था कीगयी । देखते-देखते पचास साल बीत गये । दलित जहां थे, आज वहीं पर है ।अशिक्षा कुपोषण, बीमारी एवं बेरोजगारी आदि समस्यायें दलितों में आज भी प्रबल है । अस्पृश्यता निरोधक विधेयक पारित होने के बावजूद भी अस्पृश्यता एवं भेदभाव पहले से कहीं अधिक विकराल रूप में मौजूद है । राजनेता, साहित्यकार, समाजशास्त्री एवं कलाविद् प्राय: सबने मिलकर इस व्यवस्था का अंत देखना चाहा परन्तु ये लोग कहां तक अपनी कोशिश में सफल हुए है, यह समय बताएगा । सबका अपना अपना दृष्टिकोण रहा बदलने का । साहित्यकारों ने भीइसका समाधान अपने अपने ढंग से दिया है ।

80 के पहले भी उपन्यास लिखे जाते थे । वहां भी दलित समस्या कोलेकर कई उपन्यास लिखे गये । उस समय जो उपन्यास लिखे जाते थे उनमें अधिकतर सामाजिक सुधार की मानसिकता से प्रेरित सहानुभूति-मूलक कथायें थी । जिन उपन्यासों में सामाजिकता का समावेश रहा, वे सनातनी एवं सुधारवादी धार्मिक आग्रहों तक सीमित रहे । इस काल

के धार्मिक आग्रहों से युक्त उपन्यासों में दलित वर्ग का चित्रण ऊँच - नीच के उपन्यासों के लिए इतना भर कहा जा सकता है कि उपन्यासकारों की दृष्टि बदलते हुए समय और परिवेश के संदर्भ में दलित वर्ग के चित्रण की ओर उठी अवश्य, पर उस पर टिकी नहीं । इस युग के उपन्यासकार रूढ़िवादी अधिक थे, प्रगतिशील कम । इसलिए उनके सामने रूढ़ियों से पीड़ित वर्गों की समस्यायें महत्वपूर्ण नहीं थी । डा० एन. सिंह लिखते है - "हिंदी साहित्य के आधुनिक काल के साथ ही कथा साहित्य में भी दलित चेतना की अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर होने लगती है । सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के दो उपन्यास "बिल्लेसा बकरिया", तथा "चतुरी चमार" प्रेमचन्द की कुछ कहानियां, ... अमृतलाल नागर का उपन्यास "नाच्यो बहुत गोपाल" में बाकायदा दलित शोषण, उत्पीड़न तो अभिव्यक्त हुआ ही है । दलितों के सामाजिक, आर्थिक एवं मानसिक शोषण के भी कई सजीव चित्र यहां उपलब्ध है । लेकिन इन सभी लेखकों ने एक नई और अलग पृष्ठभूमि की तलाश में, दलित शोषण को अपनी रचनाओं का उपजीव्य बनाया है । किसी खास सामाजिक सरोकारों से उद्वेलित होकर नहीं ।"[1]

अस्सी के पूर्व लिखे जाने वाले उपन्यास अधिकतर, गांधीवादी दर्शन से प्रभावित लगते है । उदाहरण के लिए वृन्दावनलाल वर्मा रचित "नाच्यो बहुत गोपाल" दलित जीवन पर लिखा गया एक चर्चित उपन्यास है । इस उपन्यास की नायिका जाति से दलित नहीं है । वह एक उच्च कुल की लड़की थी । परिस्थितिवश वह एक दलित युवक के साथ भाग जाती है । विवाह के पश्चात वह दलित मुहल्ले में रहने लगती है । अतः दलित पेशों को अपनाकर दलित बन जाती है । अंत में

- -

1. अंगुत्तर - अप्रैल - जून - 1995 - पृ. 61

दलितोद्धार के लिए वह अपना जीवन समर्पित कर देती है । इस कथा में यथार्थ से अधिक नाटकीयता परिलक्षित होती है । सबसे बड़ी समस्या है, वह उसकी जाति को लेकर है । यहाँ जन्म से कोई दलित बनता है । अत: जीवन में जिसने दलितों की पीड़ा को झेला नहीं है, वह इसे समझ नहीं सकता है । शिवप्रसाद सिंह रचित "अलग अलग वैतरिणी" का नायक इंगलैंड से शिक्षित होकर भारत लौटता है, यहाँ आकर नौकरी न मिलने के कारण वह दलित पेशे को अपनाता है । इसमें दलितों का कौन सा उपकार होता है । शिवप्रसाद सिंह जी समाज को चुनौती दे रहे हैं । दलितों की समस्या वहाँ मुख्य नहीं है । बाद में चलकर वह दलित समाज को शोषण से मुक्ति दिलाने का प्रयास करता है । दलित उसे भगवान मानने लगते है । एक तरह की वीर पूजा की भावना को इसमें दर्शाया गया है । अज्ञेय का "शेखर एक जीवनी" में शेखर भी दलितों से सहानुभूति रखता है । ब्राह्मण परिवार के होने के बावजूद भी वह ब्राह्मणों से नफरत करता है । अपने ब्राह्मण साथियों को छोड़कर वह दलित विद्यार्थियों के साथ रहने लगता है । इसके पीछे शेखर की सहानुभूति के अलावा और कुछ नहीं है । उसने कभी शोषण की पीड़ा को भोगा नहीं । किताबी दर्शन से प्रभावित होकर वह दलितोद्धार के लिए आगे बढ़ता है, परन्तु सफल नहीं होता है । प्रेमचन्द से लेकर आज तक के उपन्यासों में दलित पात्रों को केन्द्रीय भूमिका कम उपन्यासकारों ने दी है ।

अस्सी के बाद, लिखे जाने वाले अधिकतर उपन्यासों में दलित पात्र को नायक की भूमिका प्रदान की गयी है ।

अस्सी से पूर्व लिखे जाने वाले अधिकांश उपन्यास गांधीवादी दर्शन को आधार मानते थे । अस्सी के बाद पहली बार अम्बेडकर के दर्शन को

आधार बनाकर उपन्यास लिखेगये । डा० अम्बेड्कर चाहते थे दलितों में चेतना फैला के उन्हें संघर्ष के लिए तैयार करेंगें । इसलिए शिक्षा को वे एक अचूक हथियार मानते थे । जयप्रकाश कर्दम रचित "छप्पर" गिरिराज किशोर रचित "परिशिष्ट" एवं "यथा प्रस्तावित" प्रेम कपाडियां का "मिट्टी की सोगंध" रामकुमार भ्रमर रचित "मोतिया" "नयी बिसात" में अम्बेड्कर के दर्शन देखने को मिलते है । "सर्पगंधा", "धार", "गगन घटा घहरानी", "अभिशाप", "लोहे का पंख" आदि उपन्यासों पर मार्क्सवादी दर्शन का प्रभाव देखने को मिलता है । "महापात्र", "नदी के मोड़ पर", "बसंती", "एक अकेला", आदि उपन्यासों पर गांधीवाद का प्रभाव देखने को मिलता है । "हजार घोड़ो का सवार" एक ऐसा उपन्यास है जिसमें हर तरह का दर्शन उपलब्ध है ।

आज दलित की सबसे बड़ी समस्या उसकी गरीबी है । गरीबी का मुख्य कारण उसके पास जोतने के लिएजमीन का न होना है । ऐसे तो दलित जीवन भर खेत में ही काम करता है, लेकिन उसका अपना खेत नहीं होता है । जमीन एक ऐसा आधार है, जिसके सहारे दलित अपनी स्थिति को सुधार सकता है । मगर उसे जमीन मिले कैसे ? शोषक वर्ग इतने सदाशय नहीं है कि जो दया परवश होकर दलितों में खेत बांट दे । आज़ादी के बाद से लेकर आज तक कई आन्दोलन हुए है, परन्तु उसका कोई स्थायी सुफल नहीं मिला है । आज भी दलित दूसरों के खेतों में मजदूरी करते है । जब मजदूरी नहीं मिलती है तो उन्हें भूखा मरना पड़ता है । भूमिहीन होने के कारण उनके पास रोजगार का कोई विकल्प मौजूद नहीं है । स्वतंत्र भारत की सरकार ने भूमि सुधार नियम लागू किया, लेकिन वास्तव में वह सब कुछ सरकारी फाइलों तक सीमितरहा ।

1980 - 81 में दलितों के पास मात्र 7 प्रतिशत भूमि थी । इस सात प्रतिशत में भी एक हेक्टर से कम भूमिवाले सीमांत किसान अधिक थे । जबकि बाकी वर्गों के पास 82•8 प्रतिशत भूमि थी । इस समस्या को उपन्यासकारों ने अपने अपने उपन्यासों में दिखाया है और इसका हल भी प्रस्तुत किया है । "हजार घोड़ों का सवार" में दलित की दो पीढ़ी की कहानी बतायी गयी है । पुरानी पीढ़ी बंधुआ बनके जीना पसन्द करती है । वह इसे अपना पूर्व जन्म का कर्मफल मानता है, उसे विश्वास है कि अगर वह इस जन्म में अच्छा कर्म करेगा तो अगले जन्म में उसे मुक्ति मिल सकती है । इसलिए वह तटस्थ रहता है । शोषण पर आधारित व्यवस्था को ललकारने की शक्ति उसमें बची नहीं थी, इसलिए वह यथास्थिति को बनाए रखना ही पसन्द करती है । लेकिन नयी पीढ़ी इसके विपरीत अपने अधिकारों को छीनना चाहती है । इसलिए वह हिंसा का मार्ग अनुसरण करने में हिचकिचाती नहीं है । हिंसा का अंत जेल में या मौत में होता है । हालांकि "मिट्टी कीसोगंध", "मोतिया", "नयी बिसात" में दिखाया गया है, हिंसा के मार्ग पर चलकर वे लोग शोषक वर्ग को परास्त कर देते है एवं उनकी जमीन छीन लेते है । छीनी गयी जमीन पर सब लोग मिलजुल के खेती करते है और सुखमय जीवन बिताते है परन्तु आज की यथार्थ स्थिति को देखा जाय तो यह समाधान बहुत काल्पनिक एवं रूमानी प्रतीत होता है । आज कुछ राज्यों में दलितों में चेतना के विकास का एक नतीजा यह हुआ कि उनके प्रति हिंसा बढ़ गयी है । अभी तक भूस्वामी से उनके परंपरागत संबंध जोतदार - बटाईदार, काश्तकार - मजदूर के थे । वे भूमालिक के एहसान मन्द थे, कर्जदार थे और ये बंधुआ मजदूर । लेकिन आज संगठित आन्दोलन का जवाब सामंतों ने संगठित हिंसा से दिया है । पिछले दो दशकों मेंइसका

पहला घिनौना रूप था बेलछी । बिहार के इस गाँव में जब खेतिहर मजदूरों ने न्यूनतम मजदूरी की माँग की और न मिलने पर वे पास के गाँवों में जाने लगे तो भूस्वामियों ने सामूहिक रूप से उनपर हमला किया और मजदूरों को जिंदा जला दिया । दलित घरों को जला देना अब कोई बड़ी बात नहीं है - 15 सितंबर, 1993 को बेतिया जिले के पूर्णिया गाँव में 21 दलितों के घर जला दिये गये । ऐसी स्थिति में उपन्यासकारों ने जो समाधान दिया है । वह विश्वसनीय नहीं है । "छप्पर" में इसका समाधान आदर्शवादी ढंग से दिया गया है । चंदन गाँव के ठाकुर की बेटी रजनी से विवाह करता है । विवाह के पश्चात ठाकुर का हृदय परिवर्तन हो जाता है । वह अपनी सारी जमीन दलितों में बाँट देता है ।एवं स्वयं खेत में काम करने लगता है । जयप्रकाश कर्दम जी ने जो हल प्रस्तुत किया है, वह यथार्थ कम रूमानी अधिक प्रतीत हो रहा है । चंदन हिंसा में विश्वास नहीं करता है, क्योंकि आज तक हिंसा के द्वारा कुछ भी हासिल नहीं हो सका है । "धार" एवं "गगन घटा घहरानी" के दलित मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित होकर संगठित होते है । शोषक वर्ग के खेतों में काम करना बन्द कर देते हैं । इसलिए शोषक वर्ग उनपर हमला करते हैं । दोनों पक्षों को नुकसान होता है । अंत में दलित नेता को जेल में बन्द कर दिया जाता है । अर्थात् कुछ हासिल नहीं हो पाता है । एक तरह से मार्क्सवाद के प्रति मोहभंग को परोक्ष रूप में दिखाया गया है । अत: यह निश्चित रूप से आज कह पाना मुश्किल है कौन सा दर्शन दलितों को मुक्ति दिला सकता है । अत: इन उपन्यासों में एक तरह की दिशाहीनता की स्थिति परिलक्षित होती है । इस दृष्टि से "छप्पर" में दिये गये समाधान कुछ हद तक स्वीकार्य हो सकते है ।

अस्सी के बाद लिखे गये उपन्यासों में अशिक्षा को शोषण का एक बहुत बड़ा कारण बताया गया है । अशिक्षित होने के कारण वे अपने अधिकारों को जान नहीं सकते हैं । दलितों में शिक्षा का प्रसार हो यह हर कोई चाहता है, लेकिन इस पर कैसे अमल हो यह कोई नहीं जानता है । संविधान में दलितों की शिक्षा के लिए विशेष प्रावधान किये गये हैं । हर शिक्षण संस्था में दलितों के लिए आरक्षण की व्यवस्था संस्था में दलितों के लिएआरक्षण की व्यवस्था की गयी है । उच्च शिक्षा के लिए सरकार की ओर से कुछ वित्तीय सहायतायें भी उन्हें दी जाती है । इन तमाम योजनाओं के बावजूद दलितों में निरक्षरों की संख्या बढ़ती जा रही है । सरकार की अभी तक की कोशिशोंके वांछित प्रभाव इस हद तक नहीं आ सके हैं कि दलितों एवं बाकी आबादी के बीच शिक्षा दर का अंतर कम हो जाय । उल्टे, हो यह रहा है कि यह अंतर लगभग बढ़ता ही जा रहा है । 1961 में दलित और बाकी आबादी की शिक्षा दर में अंतर 13.3 प्रतिशत, 1971 में 10.67 प्रतिशत, 1981 में 18.58 प्रतिशत और 1991 में 20 प्रतिशत हो गया है । दूसरे निरक्षरों की संख्या में वृद्धि हुई है । अभी तो स्थिति यह है कि पहली से पांचवी कक्षा के बीच 74.70 और छठी से आठवीं के बीच 74.70 और माध्यमिक स्तर पर 35.72 प्रतिशत दलित छात्र पढ़ाई छोड़ देते हैं । इसका मुख्य कारण है निर्धनता । गरीबी के कारण छोटी उम्र में दलित बालकों को काम पर भेज दिया जाता है । 12 साल के होते हुए दलित माता-पिता अपने बेटों को घर पर बिठाना पसन्द नहीं करते है । दलितों में व्याप्त गरीबी को जब तक मिटायी नहीं जायेगी तब तक शिक्षा का प्रसार उनमें नहीं हो सकता है । "परिशिष्ट" एवं "छप्पर" इन दो उपन्यासों में इस समस्या पर प्रकाश डाला गया है । "परिशिष्ट" का अनुकूल

अपने मुहल्ले का प्रथम विद्यार्थी है, जिसने माध्यमिक तक की शिक्षा पूरी करके आगे पढ़ सका हो । शिक्षण संस्थाओं में भी छुआछूत की भावना प्रबल है । लाख शिक्षित होने पर भीजाति पीछा नहीं छोड़ती है । अनुकूल देश की सर्वोत्तम शिक्षण संस्थान आई• आई टी• में पढ़ने के लिए जाता है । उसके घरवालों का सपना था उनका बेटा पढ़ लिखकर इंजीनियर बने, लेकिन अनुकूल का सपना पूरा नहीं होता है, सवर्ण विद्यार्थियों के अत्याचार स पीड़ित होकर उसे संस्थान छोड़ना पडता है । दलित होने के कारण हर कोई उसे नफरत की निगाह से देखता है । अनुकूल का एक मित्र रामउजागर अपमान झेल न सकने के कारण पागल हो जाता है । इस उपन्यास में गिरिराज किशोर जी ने पराजय की भावना को दिखाया है । आज दलित हारना नहीं जानता है । शिक्षा ने उसके आत्मबल को जगा दिया है, हर तरह की परिस्थिति से जूझने की शक्ति उसमें आ गयी है । "परिशिष्ट" का अनुकूल जिस तरह संस्थान छोड़के चला जाता है, उसे देखकर लगता नहीं है, दलितों में कोई चेतना आयी हो । शुरू शुरू में जुझारू तेवर दिखाकर अंत में पराजित होना वीरता के लक्षण नहीं है । लेकिन वास्तव में आज का दलित विद्यार्थी अपने आपको इतना कमजोर महसूस नहीं करता है कि सवर्ण विद्यार्थी का अपमान न झेल सकने के कारण पढ़ाई छोड़ दे या पागल हो जाय ।

जयप्रकाश कर्दम रचित "छप्पर" में भी दलितों में व्याप्त अशिक्षा का सजीव वर्णन हुआ है । "छप्पर" का वन्दन भी अपने गांव का पहला विद्यार्थी है जो शहर पढ़ने के लिए जाता है । बाकी गांव के विद्यार्थी सातवीं, आठवी तक पढ़के पढ़ाई छोड़ देते है । गांव में खेतिहर मजदूर बनके जीवन गुजारते है । वन्दन के पिता जी सुक्खा बड़ा स्वाभिमानी आदमी था । वह चाहता था किसी भी हालतमें उसका बेटा पढ़ लिखकर

योग्य बने । चन्दन की मां चाहती थी, उसका बेटा पढ़ाई छोड़के कुछ कमाने लगे तो उसके परिवार की स्थिति सुधर सकती है । परन्तु, चन्दन जब देखता है, उसके अपने बिरादरी के लोग अशिक्षा की दल-दल में फंसे हुए है, तो वह उनकी सेवा करना चाहता है । वह दलित बस्तियों में सांध्य पाठशाला खोलता है एवं अपने दलित साथियों को शिक्षित करने का प्रयास करता है । यह एक अच्छा विचार है । दलित की समस्या को सिर्फ दलित ही समझ सकता है । अगर पढ़े लिखे दलित युवक इस तरह सेवा की भावना लेकर आगे बढ़े तो दलितों में व्याप्त अशिक्षा को कुछ हद तक दूर किया जा सकता है । "परिशिष्ट" के अनुकूल से "छप्पर" का चन्दन अधिक व्यावहारिक है । चन्दन सम्पूर्ण व्यवस्था को बदलना चाहता है, जबकि अनुकूल एक सीमित परिसर से हारकर वापस लौट जाता है । शिक्षा एकऐसा अस्त्र है, जिससे समाज के कई दुष्प्रवृत्तियों को मिटायी जा सकती है । दलितोत्थान के लिए चंदन अपना सर्वस्व त्याग देता है । चन्दन कोई रूमानी पात्र प्रतीत नहीं होता है । वह उसी वर्ग से आया, जिस वर्ग का शोषण सवर्ण करते आ रहे हैं । अतः चन्दन के पास भोगा हुआ यथार्थ है, जिसके सहारे वह एक दलित कीपीड़ा को समझ सकता है । बाकी उपन्यासों में शिक्षा पर अधिक प्रकाश नहीं डाला गया है । छुआछूत एवं शोषण की समस्या को लेकर सारे उपन्यासकार उलझे रहे है । ऐसा लगता है मानो छुआछूत एवं शोषण दलितों की एकमात्र समस्या हो । अशिक्षा के बाद दलितों की सबसे बड़ी समस्या बेरोजगारी है । यह समस्या दलितों में प्रबल है । 1991 के जनगणना आंकड़ों के मुताबिक दलितों की जनसंख्या 13,82,23,277 है, जिसमें से 4,98,74,651 मुख्यतः मजदूर है, 4,37,22,784 सीमांत मजदूर और 8,39,75,842 नान-वर्कर यानी बेरोजगार है । यह प्रतिशत की दृष्टि

से 60.75 है । जिन लोगों के आर्थिक विकास के लिए 50 साल से विशेष योजनायें चलायी जा रही, उनका 61 फीसदी हिस्सा बेरोजगार है, तो कहने की जरूरत नहीं है कि नीति निर्माता और विकास योजनायें बनाने वालों को एक बार फिर विचार करना होगा । पिछले 50 सालों में जाति व्यवस्था और सामंतवाद दोनों ही जटिल हुए हैं । तकनीकी विकास और उसके साथ बदलते अर्थव्यवस्था के स्वरूप ने सामंती व्यवस्था के स्वरूप को भी बदला और वह ज्यादा ताकतवर तथा क्रूर रूप में सामने आयी है, जिससे गांवों में दलितों की स्थिति और भी खराब हुई । आज सीमांत किसान को उसकी जमीन से धकेला जा रहा है और खेतिहर मजदूर पर भूस्वामियों की निर्भरता कम हो रही है । यह निर्भरता किस हद तक कम हुई है, इसका पता इसी से लग जाता है कि 1981 में जहां 48.2 फीसदी दलित खेतिहर मजदूर थे, 1991 में उनकी संख्या घटकर मात्र 18 प्रतिशत रह गयी है, जबकि 1971 में यह संख्या 51.7 थी । इसका मुख्य कारण यह माना जा रहा है कि भूमि जोतने में आधुनिक उपकरणों का इस्तेमाल ज्यादा से ज्यादा किया जा रहा है जिसमें कम मजदूर की जरूरत होती है । शिक्षा के अभाव में दलित के पास कोई विकल्प नहीं रह गया है, अतः उसे बेरोजगारी के दंश को झेलना पड़ता है । "मोतिया" उपन्यास में इस समस्या का सटीक वर्णन हुआ है । गांव के लोगों के पास रोजगार का कोई साधन न होने के कारण, मजबूरन वे लोग असामाजिक वृत्ति को अपनाते हैं । मोतिया इसलिए डाकू बन जाता है । यह कोई तर्क संगत बात नहीं लगती है, सिर्फ बेरोजगारी के कारण कोई डाकू नहीं बन सकता है । इसलिए और भी कुछ कारण जिम्मेदार होंगे । "धार", "गगन घटा घहरानी" की मैना एवं चैतू रोजगार न मिलने के कारण बंधुआ मजदूर बन जाते है बाकी उनके साथी कूड़ा बटोरके जीविका अर्जन करते हैं ।

आज के उपन्यासकारों ने इस समस्या की उपेक्षा की है । इस समस्या का सही समाधान "परिशिष्ट" एवं "छप्पर" में दिया गया है । आज की बदलती परिस्थिति से जूझने के लिए शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार होना चाहिए । सबसे पहली बात यही है कि दलितों को लौकिक शिक्षा चाहिए । इनके विषय कला, विज्ञान और समाज विज्ञान है । "ये लोग श्रमिक होते है असलिए इन्हें भाग्यवादी फलित ज्योतिष का ज्ञान रखने की कोई जरूरत नहीं है । इन्हें वेद - वेदांग पढ़ने कुछ मिलनेवाला नहीं है । देवताओं की स्तुति से इनका कोई सुफल नहीं सधता । इन्हें मेडिकल और इंजीनियरिंग शिक्षा पर जोरदेना है ।"[1] इसलिए परिशिष्ट का अनुकूल चाहता है आई॰ आई॰टी॰ में इंजीनियरिंग पढ़े ।अनुकूल के पिता यही चाहते है, उनका बेटा पढ़ लिखकर यदि योग्य बन जाये, तो परिवार की स्थिति सुधर सकती है । "छप्पर" का चन्दन भी इसलिए शहर जाकर शिक्षा ग्रहण करता है कि उसे कोई रोजगार मिल सके । पर वह नि:स्वार्थ होकर अपने वर्ग के उत्थान के लिए कार्य करता है । यह बिल्कुल सही है कि शिक्षा एक ऐसा साधन है, जिससे दलितों की कई समस्यायों का समाधान हो सकता है । शिक्षा एक रामबाण की तरह है । अत: अधिक से अधिक दलित युवकों को आधुनिक शिक्षा से लेश होकर आगे बढ़ना होगा ।

दलितों में आवास की समस्या भयंकर है । 1981 के एक आंकड़े के अनुसार 96 प्रतिशत दलित झुग्गी झोपड़ी में नारकीय जीवन बिताते है । सरकार की ओर से कई योजनायें शुरू की गयी है । इन्दिरा आवास

- -

1. हरिजन से दलित - पृ॰ 15।

योजना के अन्तर्गत दलितों को घर दिया जाता है । वे घर टिकाऊ नहीं होते हैं तथा यह सुविधा सिर्फ 4% दलितों को ही मिलती है । आज के उपन्यासकारों ने दलितों की इस समस्या का सजीव वर्णन किया है । "छप्पर" उपन्यास में दिखाया गया है कि किस तरह गांव के बाहर एक अस्वस्थकर परिवेश में दलित रहते है । सुक्खा के पास जो झोपड़ी थी, बाद में उसे छीन लिया जाता है । "धार" एवं "गगन घटा घहरानी" के दलित गांव छोड़कर जंगल में जाके रहते है । आज जंगल भीकहा बचा है, जहां दलित जाके शरण ले सके । इसलिए "परिशिष्ट" में अनुकूल यही चाहता है यदि वह पद लिखकर इंजीनियर बन जाये तो, वह भी बंगले में रह सकता है, वह भी गाड़ी मोटर में घूम सकता है । एक तरह से उपन्यासकार ने इस समस्या का समाधान भी शिक्षा में ढूंढा है । आज के उपन्यासकारों ने इन तमाम समस्याओं को उजागर तो किया है लेकिन कोई सटीक समाधान नहीं दे पाये हैं ।

आज का दलित एक सम्मानित जीवन जीना चाहता है, किन्तु सवर्ण समुदाय उसे जीने नहीं देते है । यद्यपि कानूनी रूप से अस्पृश्यता को अपराध माना जाता है, लेकिन व्यवहार में यह आज भी मौजूद है । राष्ट्रीय अनुसूचिज जाति, जन जाति आयोग ने 1989 में राज्यों का सर्वेक्षण किया और पाया कि अनेक दलित बहुल इलाकों में छुआछूत किसी-न किसी रूप में मौजूद है ।

'परिशिष्ट' एवं 'यथा प्रस्तावित' में इस समस्या का सजीव वर्णन हुआ है । 'परिशिष्ट' का अनुकूल जब आई·आई·टी में दाखिल होता है तो उससे विद्यार्थी मिलने आते है, लेकिन ज्यों ही उनको पता चलता है कि वह दलित है, तुरंत सब लोग अनुकूल से मिलना जुलना बन्द कर देते हैं ।

सवर्ण विद्यार्थी दलित विद्यार्थियों के साथ रहना अपनी शान के खिलाफ समझते है, इसलिए दलित विद्यार्थियों को एक कोने में विदेशी छात्रों के साथ रहने दिया जाता है । यहां तक कि अध्यापकगण भी दलित विद्यार्थियों के साथ भेदभाव पूर्ण नीति अपनाते है । परन्तु अनुकूल शुरू-शुरू में उसका डटकर विरोध करता है, आखिर में उसे पराजय स्वीकार करना पड़ता है। "हजार घोड़ों का सवार" में गीधू मालिक के सामने सीधे खड़े होकर बात नहीं कर सकता है ।आज के उपन्यासकारों ने यथास्थिति का वर्णन करके छोड़ दिया है । जहां संघर्ष को दिखाया गया है, वहां दलितों को अंत में पराजित होता दिखाया गया है । "छप्पर" उपन्यास में इस समस्या का अच्छा समाधान दिखाया गया है । "छप्पर" का चन्दन दलितों में चेतना को फैलाता है । उन्हें उनके अधिकारों के प्रति जागरूक करता है । धीरे धीरे अहिंसा के मार्ग में बढ़कर दलित अपने अधिकारों को पा लेते हैं । जाति भेद की समस्या की जड़ बहुत गहरी है । अत: इसे उखाड़ने के लिए धैर्य एवं वैज्ञानिक सोच की आवश्यकता है ।

भारतीय समाज से जातिभेद को मिटाने के लिए आज के उपन्यास-कारों ने डा0अम्बेडकर के बताये मार्ग का अनुसरण किया है । डा0 अम्बेडकर का मानना था अंतर्जातीय विवाह एक ऐसा माध्यम है, जिससे धीरे - धीरे जातिभेद को समाप्त किया जा सकता है ।जब तक एक जाति दूसरी जाति के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करता है, तब इनमें वैमनस्य की भावना कम नहीं हो सकती है । यहां तक की दलितों में भी कई जातियां ऐसी है जो आपस में वैवाहिक संबंध स्थापित नहीं करती है । अंतर्जातीय विवाह अपने आप में जातिभेद मिटाने का अनोखा उपाय है । आज के उपन्यासकारों ने वर्तमान जातिभेद की समस्या का बहुत ही उत्तम समाधान प्रस्तुत किया है । "छप्पर" "परिशिष्ट" एवं "सर्पगंधा" उपन्यास में इसका बड़ा ही तर्कपूर्ण वर्णन हुआ है । "छप्पर" का

नायक चन्दन रजनी नामक एक सवर्ण लड़की से विवाहकरता है । यह स्वाभाविक है कि शुरू शुरू में इसका विरोध होता है, किन्तु कालान्तर में सारी जातियाँ आपस में मिल जाती है । यद्यपि यह समाधान कुछ रूमानी प्रतीत होता है, पर हमें यह स्वीकार करना होगा कि शांति एवं सद्भाव के लिए इससे अच्छा उपाय क्या हो सकता है ? "सर्पगंधा" उपन्यास का कृष्णमास्टर एक विधवा ब्राह्मणी से विवाह करते हैं । यह कथा आदर्शमूलक होते हुए भी यथार्थ से अधिक दूर नहीं है । आनेवाली पीढ़ी के लिए यह एक सर्वोत्तम उपाय है, जिससे जातिगत भेदभाव को मिटाने में सहायता मिलेगी । यह अपने आप में एक अच्छी शुरूआत है, इसे बढ़ावा देना चाहिए । इससे समाज का कल्याण हो सकता है ।

आज का युग विज्ञान का युग है । विज्ञान एक ऐसा हथियार है, जिससे सामाजिक रूढ़ियों को आसानी से समाप्त की जा सकती है । इसलिए अधिकतर उपन्यासकारों ने डा० अम्बेडकर के बताये हेतुवादी दृष्टिकोण को आधार बनाके दलित मुक्ति का समाधान प्रस्तुत किया है । "छप्पर" एवं सर्पगंधा इस दृष्टि से दो सफल उपन्यास है । "छप्पर" का नायक चन्दन आम दलितों में विज्ञान का प्रचार करता है, दलितों में व्याप्त अंधविश्वास एवं रूढ़ियों को मिटाने के लिए तर्क द्वारा उनकी चेतना को परिष्कृत करता है । इसलिए चन्दनकहता है - "यज्ञ करने से वर्षा नहीं होगी, वर्षा तो मानसून के आने से होती है । लोग शुरू - शुरू में उसकी बातों पर ध्यान नहीं देते है, लेकिन चन्दन हारता नहीं, वह अपने कर्त्तव्य मार्ग में आगे बढ़ता है एवं आखिर में दलितों में व्याप्त कुसंस्कारों को समाप्त करने में सक्षम होता है । इसलिए आज चन्दन जैसे नौजवानों की आवश्यकता है जो अपने तर्क द्वारा दलितों के बीच फैली अज्ञानता को दूर करें ।

इस अध्ययन के दौरान यह देखा गया कि अधिकांश उपन्यासकार आज भी सहानुभूति से प्रेरित होकर एक नयी पृष्ठभूमि की तलाश में दलित जीवन की पीड़ा को अपनी रचना का आधार बनाते है । बहुत सी कथायें घिसी-पिटी एवं एकांगी प्रतीत होती है । ऐसे उपन्यासकारों ने कोई तर्क संगत समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाए, जिसे दलित समाज में परिवर्तन का आधार माना जाए । इस दृष्टि से कुछ दलित उपन्यास-कारों न अपने उपन्यास में दलित जीवन की पीड़ा का प्रामाणिक एवं सांगोपांग विवेचन किया है जिसने यथार्थ को झेला नहीं, जो शोषण मूलक परिस्थिति से होकर गुजरा न हो, वह इस पीड़ा को समझ सकता है, परन्तु महसूस नहीं कर सकता है । अत: 80 से लेकर आज तक के उपन्यासों में दलित रचनाकारों ने अपने वर्ग की पीड़ा को वाणी देने में सक्षम एवं कारगर साबित हुए हैं । डा० महीप सिंह की भाषा में -"दलित साहित्य की चेतना हिंदी में कब उभरेगी यह कहना कठिन है, पर जातिभेद जिस मात्रा में समाज में पाप माना जाएगा, उसी मात्रा में उस पर प्रहार होता जाएगा । अभी भी गांवों में दलित जलाए जा रहे हैं, जेलों में बन्दियों की आंखों में गंगाजल डाला जा रहा है, अस्पृश्य लड़कियों को कामुकता का कन्दूक मानकर चला जा रहा है । ऐसे समय में यह चेतना कहां से उभरेगी ? निश्चित रूप से दलितों में से लेखकों को उभरकर आना होगा । तभी वह चेतना सही रूप में चित्रित होगी ? "जाके पैर न फटी बिवाई, सो न जाने पीर पराई ।"[1]

यह बिल्कुल सच है कि दलित रचनाकारों ने दलित जीवन के चित्रण में जितनी मार्मिकता दिखाई है, गैर दलित रचनाकारों में वह परिलक्षित

- -

1. संचेतना - अंक - 61 - पृ. 17

नहीं होती है । "राख ही जानती है जलने का अनुभव" इस कहावत को दलित रचनाकारों ने चरितार्थ किया है । "महापात्र", "अभिशाप", "एक अकेला" एवं "लोहे के पंख" आदि उपन्यास पढ़कर ऐसा लगता है मानों किसी साँचे में ढले कथानक को जैसे तैसे आगे बढ़ाया जा रहा हो । जो रचनाकार अपने आपको संवेदनशील होने का दावा करते है, मेरी दृष्टि में सिर्फ संवेदनशीलता यथार्थ को समझने के लिए पर्याप्त नहीं है । यथार्थ को भोगा हुआ व्यक्ति ही, परिस्थिति कीगहराई को जान सकता है । संवेदनशील यथार्थ एवं भोगा हुआ यथार्थ में जमीन आसमान का अन्तर है, जो इस अध्ययन के दौरान देखने को मिला है । अत: यह आवश्यक है कि अधिक से अधिक दलित रचनाकार अपने समाज की वेदना को वाणी देने के लिए आगे बढ़े । अपने वर्ग के प्रति प्रतिबद्धता ही उनको एक सफल रचनाकार बना सकता है । जो रचना आगे चलकर दलित समाज में परिवर्तन का आधार बनेगी । ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में -"समाज और व्यक्ति के संबंधों को अनदेखा कर जब साहित्य, शिल्प और कला के भंवरजाल में फंस जाय, वर्तमान के बजाय अतीत के गौरव गान और संस्कृति की उत्कृष्टता सिद्ध करने में ही अपनी भूमिका तय कर ले, तब उससे किसी परिवर्तन की उम्मीद करना व्यर्थ है ।"[1] इसलिए जो संवेदनशील रचनाकार है, उनके लिए भी आवश्यक है कि वे अखबारी घटनाओं के चित्रण से परहेज करें तथा यथार्थ को करीब से देखने की कोशिश करें ।

---

1. हंस - अप्रैल - 1999 - पृ. 88

परिशिष्ट - 1

आधार ग्रंथ सूची

1.	अभिशाप	डा0 आरिगिपुडि	निधि प्रकाशन, दिल्ली-1981
2.	एक अकेला	रामकुमार भ्रमर	राजपाल एण्ड सन्स - दिल्ली 1981
3.	गगन घटा घहरानी	मनमोहन पाठक	"कतार" विशेषांक - जनवरी सितम्बर - 1991
4.	छप्पर	जयप्रकाश कर्दम	संगीता प्रकाशन - दिल्ली-1994
5.	धार	संजीव	राधाकृष्ण प्रकाशन - नयी दिल्ली - 1990
6.	नयी बिसात	श्रीचंद अग्निहोत्री	शब्दकार, दिल्ली-1980
7.	परिशिष्ट	गिरिराज किशोर	राजकमल प्रकाशन - नयी दिल्ली - 1984
8.	बसन्ती	भीष्म साहनी	राजकमल प्रकाशन - नयी दिल्ली - 1980
9.	महापात्र	विश्वेश्वर	नवीन प्रकाशन, दिल्ली-1981
10.	मकान दर मकान	बाला दुबे	प्रभात प्रकाशन, दिल्ली- 1981
11.	मिट्टी की सौगंध	प्रेम कपाड़िया	भारतीय सामाजिक संस्थान नयी दिल्ली- 1995
12.	मोतिया	रामकुमार भ्रमर	राजपाल एन्ड सन्स - 1981
13.	मौसी	रमणिका गुप्ता	नीलकंठ प्रकाशन, नयी दिल्ली 1997

14.	यथा प्रस्तावित	गिरिराज किशोर	राजकमल प्रकाशन - नयी दिल्ली - 1982
15.	लोहे के पंख	हिमांशु श्रीवास्तव	हिंदी प्रचारक संस्थान, वाराणसी - 1980
16.	सर्पगंधा	शैलेष मटियानी	हिंदी पाकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड - दिल्ली -1983
17.	हजार घोड़ों का सवार	यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र	सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1981

परिशिष्ट - 11

शोध प्रबंध में प्रयुक्त अन्य उपन्यासों की सूची

1.	अलग अलग वैतरिणी	शिवप्रसाद सिंह	लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद - 1967
2.	कर्मभूमि	प्रेमचन्द	सरस्वती प्रेस, बनारस, 1932
3.	कब तक पुकारूं	डॉ० रांगेय राघव	राजपाल एन्ड सन्स, दिल्ली 1972
4.	गोदान	प्रेमचन्द	सरस्वती प्रेस, बनारस, 1936
5.	जय यौधेय	राहुल सांकृत्यायन	किताब महल, इलाहाबाद, 1944
6.	जल टूटता हुआ	रामदरश मिश्र	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली- 1969
7.	झांसी की रानी	वृन्दावनलाल वर्मा	मयूर प्रकाशन, झांसी-1946
8.	दिव्या	यशपाल	विप्लव कार्यालय, लखनऊ
9.	निरुपमा	सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला"	गंगा ग्रन्थालय, लखनऊ, 1936
10.	धरती धन न अपना	जगदीश चन्द्र	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1972
11.	नाच्यौ बहुत गोपाल	अमृतलाल नागर	राजपाल एन्ड सन्स - दिल्ली 1979
12.	प्रेमाश्रम	प्रेमचन्द	राजहंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1922

13.	बुधुआ की बेटी	पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र"	प्रकाशन संस्थान, मिर्जापुर, 1927
14.	मैला आंचल	फणीश्वरनाथ रेणु	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1954
15.	रंगभूमि	प्रेमचन्द	राजहंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1922
16.	शेखर एक जीवनी	अज्ञेय	सरस्वती प्रेस, बनारस, 1940
17.	सिंह सेनापति	राहुल सांकृत्यायन	किताब महल, इलाहाबाद, 1942

परिशिष्ट - III

सहायक ग्रन्थ सूची

1.	अनपढ़ बनाये रखने की साजिश	राजेन्द्र यादव	अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली 1992
2.	अठारह उपन्यास	राजेन्द्र यादव	अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली 1981
3.	अनसुलझी जनजाति समस्या	वर्धन	नेशनल बुक सेंटर, नई दिल्ली 1978
4.	अम्बेडकरवादी आंदोलन - दशा और दिशा	जयप्रकाश कर्दम	संगीता प्रकाशन, दिल्ली 1991
5.	आधुनिक भारत में जातिवाद जातिवाद तथा अन्य निबंध (अनुवाद-शरद जोशी	एम.एन.श्रीनिवास	मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी भोपाल - 1981
6.	आदिवासी भारत	योगेश अटल	अभिनव प्रकाशन, दिल्ली 1980
7.	आधुनिक हिंदी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता	डा० नवल किशोर	प्रकाशन संस्थान, दिल्ली 1977
8.	आधुनिक हिंदी कविता	डा० सुवास कुमार	भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली- 1989
9.	आठवें दशक के	सुमित शेखर	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1986

10.	उपन्यासकार प्रेमचन्द एक सर्वेक्षण	डा० सुरेश चन्द्र	अशोक प्रकाशन, दिल्ली 1966
11	ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार	डा० गोपीनाथ	साहित्य रत्न भंडार, आगरा - 1958
12.	ऋग्वेद संहिता		पारडी, सूरत, 1957
13.	कला साहित्य और संस्कृति (अनु.शशि-बाला शर्मा)	ई.एम.एस.नंबूदि-	नेशनल बुक सेंटर, नई दिल्ली- 1982
14.	गुलामी का आनंद और स्वतंत्रता के खतरे	राजेन्द्र यादव	अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली 1992
15.	जाति वर्ग और व्यवसाय	गोविंद सदाशिव धुर्ये	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 1978
16.	दलित साहित्य चिंतन के विविध आयाम	डा० एन.सिंह	आम प्रकाशन, मुम्बई, 1998
17.	दलितों के रूपान्तर की प्रक्रिया	डा० नरेन्द्र सिंह	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली- 1993
18.	नारी प्रश्न	सरला महेश्वरी	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली- 1998
19.	नागार्जुन के उपन्यास		धरती प्रकाशन, बीकानेर, 1985
20.	धर्मशास्त्र -खण्ड-11		पारडी सूरत, 1960
21.	प्राचीन भारत में दास प्रथा	डा० देवराज चानन्ना	अशोक प्रकाशन, दिल्ली, 1985
22.	प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका	डा० रामजी	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद - 1986

23•	परंपरा का मूल्यांकन	रामविलास शर्मा	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली- 1982
24•	प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता (अनु•-गुणाकर मुले)	डी•डी•कोसाम्बी	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली- 1977
25•	परंपरा इतिहास बोध संस्कृति	श्यामचरण दुबे	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली- 1991
26•	भारत : आदिम साम्यवाद से दास व्यवस्था तक का इतिहास	श्रीपद अमृत डांगे	पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा•लि• नई दिल्ली, 1979
27•	भारतीय चिंतन परंपरा	के•दामोदरन	पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली- 1977
28•	भारत में बंधुआ मजदूर	महाश्वेता देवी निर्मल घोष	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली- 1981
29•	भारतीय दर्शन	वाचस्पति गैरोला	लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद -1983
30•	भारतीय सामंतवादी	रामशरण शर्मा	राजकमल प्रकाशन, नई नई दिल्ली- 1971
31•	भारतीय जनजातियां	हरिश्चन्द्र उप्रेती	हिंदी रचना केन्द्र, जयपुर - 1981
32•	भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या	जगजीवन राम	राजपाल एन्ड सन्स दिल्ली- 1981
33•	भारतीय राष्ट्रवाद एवं आर्य समाज आन्दोलन	डा0 विजेन्द्रपाल सिंह	विभु प्रकाशन, दिल्ली
34•	भारतीय सामाजिक संस्थाएं	राम बिहारी सिंह तोमर	दत्त ब्रदर्स प्रा•लि• अजमेर - 1960

35.	भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद	रामविलास शर्मा	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1981
36.	मध्यकालीन भारतीय संस्कृति	गौरीशंकर हीराचंद	हिन्दुस्तानी अकादमी इलाहाबाद, 1977
37.	मध्यकालीन रचना और मूल्य	कमला प्रसाद	वाणी प्रकाशन, दिल्ली 1984
38.	मार्क्स और पिछड़े हुए समाज	रामविलास शर्मा	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली- 1986
39.	मनुस्मृति		बम्बई, 1946
40.	शूद्रों का प्राचीन इतिहास	डा० रामशरण शर्मा	ज्ञान - विज्ञान प्रकाशन नई दिल्ली- 1992
41.	साहित्य का उद्देश्य	प्रेमचन्द	हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1936
42.	संस्कृति के चार अध्याय	रामधारी सिंह "दिनकर"	उदयाचल प्रकाशन, पटना 1977
43.	सामाजिक संरचना और सामाजिक संतरण	जी.सी.हेलन	रस्तोगी पब्लिकेशन मेरठ, 1984
44.	साहित्य और जन संघर्ष	शंभुनाथ	संभावना प्रकाशन, हापुड़ - 1980
45.	राहुल सांकृत्यायन का कथा साहित्य	डा० प्रभाशंकर मिश्र	अशोक प्रकाशन, दिल्ली 1967
46.	वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों का सांस्कृतिक अध्ययन	सियारामशरण प्रसाद	पुस्तक संस्थान, कानपुर 1978
47.	हरिजन से दलित	डा० राजकिशोर	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली- 1995

48.	हिंदी उपन्यास का सांस्कृतिक अध्ययन	डा0 रमेश तिवारी	रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972
49.	हिंदी उपन्यास –सामाजिक चेतना	डा0 कुंवर पाल सिंह	
50.	हिन्दी उपन्यास	डा0 सुरेश सिन्हा	अशोक प्रकाशन, दिल्ली 1965
51.	हिंदी उपन्यासों का शास्त्रीय विवेचन	डा0 महावीरमल लोढा	रोशनलाल एण्ड संस जयपुर
52.	हिंदी के सामंती चेतना-परक उपन्यास	डा0 देवदत्त शर्मा	विवेक पब्लिशिंग हाउस जयपुर, 1980
53.	हिंदी उपन्यास विवेचन	डा0 सत्येन्द्र	कल्याणमल एंड सन्स, जयपुर - 1968
54.	हिंदी उपन्यास समाज शास्त्रीय विवेचन	चण्डीप्रसाद जोशी	अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर- 1962
55.	हिंदी उपन्यासों में मध्यवर्ग	मंजुलता सिंह	आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली - 1971
56.	हिंदी साहित्य में दलित चेतना	आनन्द वास्कर	विद्या विहार, कानपुर 1986

शब्दकोश

1.	हिंदी विश्वकोश खंड.5	संपादक - रामप्रसाद त्रिपाठी	नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी
2.	हिंदी विश्वकोश	संपादक- नगेन्द्रनाथ वसु	बी.आर.पब्लिशिंग कार्पोरेशन, दिल्ली
3.	मानक हिंदी कोश	रामचन्द्र वर्मा	हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग

अंग्रेजी के ग्रन्थ

1.	ए स्टडी इन सोशल डेमोक्रेसी भीमराव रामजी अम्बेडकर	डा० जी.एस.लोखण्डे
2.	द नेचर एण्ड ग्राउन्ड्स आफ पोलिटिकल आब्लीगेशन इन द हिन्दू स्टेट	जे.जे. अन्जारिया
3.	द डिक्लाइन एण्ड फाल आफ द हिन्दूज	एस.जी.मुखर्जी
4.	रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया	आर सी मजूमदार
5.	वाट कांग्रेस एण्ड गांधी हेव डन टू द अनटचेबल्स	डा० अम्बेडकर
6.	स्टेट एण्ड माइनोरिटिज	डा० अम्बेडकर
7.	हू वर द शूद्राज	डा० अम्बेडकर
8.	हिन्दूज सोसाइटी एट क्रास रोड	के.एम.पन्निकर

परिशिष्ट - 4

पत्र - पत्रिकाएं

1.	असुविधा	अक्टूबर - दिसम्बर - 1995
2.	अंगुत्तर	अप्रैल - जून
3.	आलोचना	जनवरी, मार्च - 1978
		जनवरी - जून - 1983
4.	आजकल	अक्तूबर - 1992
5.	कतार	13-14 जनवरी - सितम्बर - 1991
6.	कथन	मई-जून-1982, एवं मार्च -अप्रैल, 1983
7.	कल्पना	अंक - 3 - मार्च - 1965
8.	जलेस खबर	अगस्त - 1996 - अंक - 23
9.	डा0अम्बेडकर और बहुजन (साप्ताहिक)	8 अक्तूबर - 1994
10.	दैनिक लोकसम्मत	28अगस्त - 1994
11.	प्रज्ञा (साहित्य)	दलित साहित्य विशेषांक - 1995 जून
12.	मधुमती	दिसंबर - 1983
13.	मध्य कालीन भारत	अंक - 1 - 1981
14.	युद्धरत आम आदमी	अंक - 34 - 35 - अक्तूबर - 1998
15.	राजस्थान पत्रिका	26 मई - 1996
16.	वातायन	अप्रैल - जून - 1994
17.	समकालीन भारतीय साहित्य	अंक - 25 जुलाई - सितम्बर - 1986
		जुलाई - सितम्बर - 1994
18.	समकालीन साहित्य समाचार	अप्रैल - 1997

19	संचेतना	मार्च - 1982 (प्रकाशित जून-82) अंक- 61
20	हंस	अप्रैल - 1998
21.	हिन्दुस्तानी	अंक - 4 अक्तूबर - 1994

अंग्रेजी पत्रिकाएं

1.	इकनामिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली	- फरवरी - 1979 - दिसम्बर, 19 - 1981
2.	सोशल साइंटिस्ट	मई - 1983